}]।'

प्रकाशक
मेसर्स पब्लिशिंग हाउस
२६ ए, चन्द्रलोक जवाहरनगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र नई सड़क दिल्ली

प्रथम संस्करण
अगस्त १९६१

मूल्य
१२.५

मुद्रक
योजना प्रिंटर्स
मोहन बस्ती ईदगाह रोड
नई दिल्ली

भूमिका

काव्य ऐहिक वस्तु को ऐसा रूप दे देता है जिससे मानव को आह्लाद का अनुभव होता है। यह कवि की प्रतिभा का ही चमत्कार है कि स्वभावोक्ति में भी रसानुभूति होती है और अतिशयोक्ति में भी श्रोता को अतिशय का ज्ञान होते हुए भी आनन्द प्राप्त होता है। यदि वस्तु-स्थिति पर ध्यान दिया जाय तो प्रेयसी के चेहरे को मुखचन्द्र या मुखकमल कहना एक विडम्बनामात्र है। पर मानव सदा वास्तविकता से चिपका रहना नहीं चाहता। कल्पना भी उसके अस्तित्व का एक सहज अंग है। यह कल्पना न होती तो उसका जीवन पार्थिवता से ऊपर न उठ पाता।

'कूट' के दो अर्थ आज भाषा में प्रचलित हैं एक पर्वत शृंग का चित्रकूट आदि शब्दों में और एक 'ताना-तिशना' का। दूसरा अर्थ हमारी अपनी बोली (ब्रजकी) में आज भी मिलता है तथा गोस्वामी तुलसी दास के समय में था। इस दूसरे प्रयोग में 'व्यंग्य' स्पष्ट है। काव्य में यह व्यंग्य विशेष आनन्द उपस्थित कर देता है।

जब महाभारत काव्य का आविर्भाव महर्षि वेदव्यास के मस्तिष्क में हुआ तब उसे मूर्त रूप देने के लिए एक लेखक की आवश्यकता पड़ी। परम्परा यह नहीं बताती कि वाल्मीकि को कैसे कुश और लव रामायण के गायक मिल गए थे कैसे कोई लिखे या नहीं पर श्लोक के रूप में उन्हें लेखक मिल गया। पर लेखक कोई कम बुद्धिवाला नहीं था। उसने कहा कि मैं आपका लेखक होना इसी शर्त पर स्वीकार कर सकता हूँ कि मेरी कलम को रुकना न पड़े। आशु कवि को भी यह शर्त मुश्किल लगती। महाभारत में तो गम्भीर सामग्री भरी पड़ी है वह आशुकविता की तरह शब्दाडम्बरमात्र नहीं थी। ग्रन्थकार को कुछ सोचना पड़ता था कुछ स्मृति को जगाना भी होता था। व्यासजी की प्रखर-बुद्धि को चाल सूझ गई। उन्होंने जवाब दिया कि—हाँ जरूर पर जो लिखिए समझ-बूझकर ही लिखिए। शीघ्रलिपिक के लिए यह शर्त कड़ी थी वह तो शब्दों की ध्वनियों के ही उतारने वाली को लिपिबद्ध करता है और यदि वह अर्थ पर भी ध्यान दे तो

उसकी गति में मन्दता का आ जाना अनिवार्य है। पर गणेशजी व्यास के से प्रौढ़प्रतिभाशालि न थे उन्हें भी अपनी बुद्धि पर गर्व था। उन्होंने व्यासजी की बात सहर्ष मान ली। नतीजा यह हुआ कि व्यास ने सोचने के लिए समय निकालने को महाभारत ग्रन्थ में ऊबड़-खाबड़ कूट श्लोक डाल दिए। गणेशजी को उनका अर्थ समझने के लिए कलम रोकनी पड़ती थी और उतने ही समय में व्यासजी को आगे की सामग्री तैयार करने का मौका मिल जाता था। दोनों की सहकारिता से मानवसमाज को ऐसे ग्रन्थरत्न की उपलब्धि हो गई जिसके बारे में यह सच ही कहा गया है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्। विश्वकोष की भी यही कल्पना होती है।

कूटकाव्य का प्रथम मूर्त रूप हमें महाभारत में ही मिलता है, पर इसका बीज अवश्य ही संहिताओं (वेद) में मौजूद है जहाँ अचेतन और तिर्यग्योनि जीवों से भी वाणी की कल्पना कर मानवोचित भाव और विचार प्रकट किए गए हैं। यह एक प्रकार का काव्यालंकार है। इसमें 'एक शब्द के अनेक अर्थ' का द्योतक श्लेष भी जुड़ा हुआ है। इसी के द्वारा बहुत से चमत्कार उत्पन्न हुए। इस प्रकार के भाव व्यक्तीकरण को ही सामान्य रूप से वक्रोक्ति कह सकते हैं। 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' 'रीतिरात्मा काव्यस्य' 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' यद्यपि काव्यशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न वादों का प्रतिपादन करते हैं तथापि सबके सब वास्तव में एक ही बात की ओर करते हैं और वह यह कि काव्य में चमत्कार होता है जो सामान्य वाणी में नहीं रहता।

'कूटकाव्य' में गूढ़ता का रहना आवश्यक है यह बात महाभारत से आरम्भ हुई थी। इसी का आश्रय लेकर कूटकाव्य की एक परम्परा ही बन गई और प्रहेलिकाओं और कूटप्रश्नों की सृष्टि हुई। 'गोरी मुख चुम्बति वासुदेव' आदि समस्याओं की पूर्ति में श्लेष के प्रभाव से भी कूट उपस्थित है। 'पीली-पीली चीज मगर बेसन की नहीं बनती है; खाने की वह चीज नहीं खाजाते (पर खाते) हैं' आदि वर्तमान कूटप्रश्नों में भी यही मिलता है।

सूरदास के कूट अथवा दृष्टकूट का एक अपना ही व्यक्तित्व है, गूढ़ता विशेष रूप से उनमें उपस्थित है। उनका अध्ययन भी इसीलिए कष्टसाध्य था। प्रस्तुत ग्रन्थ के डा॰ रामफल शर्मा ने संस्कृत तथा हिन्दी

साहित्य के अपने अगाध पांडित्य और विस्तृत ज्ञान के द्वारा सूरकाव्य की ग्रन्थियों को सुलझाया है। इस परम्परा का इतिहास भी उन्होंने वैज्ञानिक रीति से प्रकट किया है। यह ग्रन्थ पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच॰ डी॰ उपाधि के लिए शोध प्रबन्ध के रूप में कई वर्ष पूर्व दिया गया था। एक परीक्षक होने के नाते मैंने तभी इसको पढ़ा था और ग्रन्थकार के अध्यवसाय और विद्वत्ता से प्रभावित हुआ था। इसमें यथेष्ट मौलिक सामग्री है। शैली गम्भीर और रोचक है। विषय का प्रतिपादन सर्वांगीण है। हिन्दी के शोध ग्रन्थों में इसका स्थान ऊँचा और महत्वपूर्ण होगा इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं। विश्वास है कि पाठक-समाज इसका समुचित आदर करेगा।

मसूरी
१२ ९ ११

—बाबूराम सक्सेना

प्रस्तावना

सन् १९५४ में पंजाब विश्वविद्यालय ने 'स्टडीज़ इन कूट पोएट्री विद स्पेशल रेफ़रेंस टु सूरदासाज़ कूट लिरिक्स' नामक मेरे अंग्रेज़ी शोध निबन्ध को पी-एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत किया था। प्रस्तुत ग्रंथ उसी का हिन्दी रूपान्तर है। इस निबन्ध का लक्ष्य हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करना है। इसमें कूटकाव्य के इतिहास और विकास की परम्परा को खोजने का प्रयास किया गया है—विशेषत: उसके उस रूप को जानने का जो सूरदास के युग में और मुख्यत: उनके कूटपदों में पाया जाता है। कूट काव्य-रचना का एक विशिष्ट रूप है जो अभिव्यंजना की उस वक्र प्रणाली का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें अभीष्ट अर्थ गहन और गूढ़ पदों में छिपा रहता है। ऋग्वेद की ऋचाओं के समय से लेकर आज तक समय-समय पर विभिन्न रुचिवाले कवियों ने काव्य की इस वक्र शैली को भिन्न भिन्न अभिधानों द्वारा प्रचुरता से अपनाया है। अत: संस्कृत और हिन्दी दोनों में ही इस प्रकार की गूढ़ काव्य-रचना पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में अभिव्यंजना की यह विशिष्ट प्रणाली अधिकांशत: रहस्यवादी और धार्मिक कवियों द्वारा अपनाई गई जिनमें सूरदास का स्थान प्रमुख है। सूर के द्वारा कूट पद रचना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची क्योंकि उन्होंने इसका प्रयोग मुख्यत: हिन्दी काव्य की कृष्णभक्ति धारा की मधुरा भक्ति की व्याख्या के लिए किया था। सूर ने इसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचाया। उनके पूर्ववर्ती कवियों ने तो सूर की प्रतिभा के पूर्ण विकास का मार्ग भर प्रशस्त किया था।

यह अध्ययन दो उद्देश्यों से प्रेरित है। प्रथम तो सूर के कूटकाव्य पर समसामयिक धार्मिक विचारों के प्रभाव की खोज करना है, जिसके बिना उसका समझना कठिन है। क्योंकि मध्यकालीन हिन्दी कविता सामान्यत: ऐसे धार्मिक और दार्शनिक विचारों से प्रभावित है जिनका विशद विवेचन उक्त साहित्य को समुचित रूप से समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए तत्कालीन विशिष्ट साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का परीक्षण भी आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के द्वारा इस प्रकार के काव्य के रूप और शैली का निर्धारण हुआ है। दूसरे रहस्यात्मक और धार्मिक अभिव्यक्ति का काव्य अनेक साहित्यिक

विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। कई स्थलों पर तो चमत्कार ने भावपक्ष को सर्वथा अभिभूत कर लिया है जिसके कारण काव्य के महत्त्व के सम्बन्ध में एक प्रकार का विवाद ही उठ खड़ा हुआ है क्योंकि यह स्पष्ट है कि ऐसी साहित्यिक रचनाएँ जिनमें अस्पष्ट अथवा गूढार्थ उक्तियों की प्रधानता रहती है रस या ध्वनि के मूल नियमों के अनुकूल नहीं होतीं और उनमें केवल बौद्धिक व्यायाम अथवा वाग्जाल का ही आभास मिलता है। यह तर्क भी उपस्थित किया जा सकता है कि ऐसी रचनाओं में प्रयुक्त विभिन्न अलंकारों तथा अन्य काव्य विधानों का उद्देश्य काव्यगत विचारों को समुज्ज्वलित करना है। किन्तु कुछ लोगों का यह भी मत हो सकता है कि अलंकारों का अनावश्यक विधान अथवा अस्पष्ट शैली का प्रयोग रस के उस वास्तविक प्रयोजन को ही निष्फल बना देता है जो मनोभावों के विशदीकरण के लिए परमावश्यक है। अतः इस विवाद में सम्बद्ध विचारों का परीक्षण और इस सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण का निर्धारण करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य मुख्यतः सूरदास के कूटपदों का विवेचन और समीक्षा है तथापि इसमें इस विषय से सम्बद्ध सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री के सूक्ष्म परीक्षण और विश्लेषण करने का प्रयास भी किया गया है। सूरदास के काव्य-गुणों को अच्छी तरह से समझने के लिए यह भी आवश्यक समझा गया कि तत्कालीन प्रचलित भाषाओं में रचित कूट रचनाओं का सम्यक् विश्लेषण किया जाय और सूर के कूटपदों पर नाथपंथियों हठयोगियों तथा इसी प्रकार के अन्य मध्ययुगीन हिन्दू धर्म के प्रचारकों एवं व्याख्याताओं के प्रभाव का भी अध्ययन किया जाय। अतः कूटकाव्य के विषय में निश्चित सिद्धान्तों की स्थापना करने के लिए आदिकाल के इन कवियों और लेखकों की रचनाओं का सम्यक् आलोडन किया गया है और उनसे प्रचुर परिमाण में सामग्री ली गई है। कूटकाव्य के सिद्धान्तों की स्थापना और उनके विभिन्न रूपों के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक तथ्यों एवं प्रतीकों के अधिक से अधिक चयन में पूर्ण सावधानी से काम लिया गया है। इस प्रकार सुदीर्घकाल से संस्कृत तथा हिन्दी में रचित कूटकाव्य की विशाल सामग्री की समीक्षा सर्वप्रथम इस अध्ययन की परिसीमा में प्रस्तुत की गई है।

प्रथम अध्याय में कूट शब्द के अर्थ और इतिहास तथा विभिन्न कालों में अपनाये गए उसके अनेक रूपों की खोज की गई है। दूसरे अध्याय में कूटकाव्य के सामान्य काव्यगत सौन्दर्य अर्थात् उसकी मूलभूत विशेषताओं, स्वरूप एवं उद्देश्यों का विवेचन किया गया है और तीसरे अध्याय में वैदिक ऋचाओं के

लेकर विद्यापति और कबीर के कूटपदो तक सूर से पूर्ववर्ती कूटकाव्य की परम्परा का विशद विवेचन किया गया है। अन्तिम तीन अध्यायो मे सूरदास के कूटपदो का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनमे सूर के कूट-गीतो उनकी विषयवस्तु और काव्यगत गुणो का सम्यक विवेचन है।

इन अध्यायो मे उपयुक्त समस्त सामग्री मेरे व्यक्तिगत अनुसधान और अध्ययन का प्रतिफल है और मैं यह दृढतापूर्वक कह सकता हूँ कि इस सामग्री के प्रतिपादन एव व्याख्या की मौलिकता का श्रेय भी सर्वथा मेरा अपना ही है। इस प्रसंग मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन आलोचको का ध्यान इस विषय की ओर बहुत कम गया है और उन्होने कूट का प्रतिपादन काव्य के एक स्वरूप की अपेक्षा उसकी शैली तथा पद्धति के रूप मे ही अधिक किया है। अपने अध्ययन के फलस्वरूप मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कूट काव्य की एक शैली अथवा अलकरण मात्र ही नही है वरन् उसका एक विशिष्ट रूप है। इस निबन्ध मे मेरी मौलिक देन इन पदो का काव्यशास्त्रीय एव आध्यात्मिक दोनो ही दृष्टिकोणो से आलोचनात्मक विश्लेषण करना और कूटकाव्य के रचयिताओ मे सूर का स्थान निर्धारित करना है। सूरदास के कूटपदो का उनकी समस्त महत्त्वपूर्ण रचनाओ से सकलन करने और उनमे निहित काव्य-गुणो के दृष्टि कोण से उनकी सूक्ष्म समीक्षा के कारण यह अध्ययनकार्य और भी दुष्कर एव परिश्रमशील रहा है। विषय का प्रतिपादन सर्वथा एक नवीन दृष्टिकोण से किया गया है और नितान्त वैज्ञानिक एव वस्तुपरक है।

प्रस्तुत निबन्ध के लिए उपादेय सामग्री की खोज और सकलन के निमित्त मुझे वाराणसी मथुरा कांकरोली और नाथद्वारा की यात्रा भी करनी पडी। इन स्थानो मे मैंने सूरदास के कूटपदो के सग्रह और उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे पूरी छानबीन की। परन्तु खेद है कि इन स्थानो मे से कही भी मुझे साहित्यलहरी की पाण्डुलिपि प्राप्त नही हुई यद्यपि इसके अतिरिक्त और अनेक सग्रह मिले जिनका विवरण परिशिष्ट (क) मे दिया गया है। मथुरा मे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने न केवल मुझे अपने सग्रहालय का पूरा उपयोग करने की अनुमति प्रदान की अपितु सूरसागर की अनेक हस्तलिखित प्रतियो की सहायता से कूटपदो के सकलन और पाठभेद निश्चित करने मे भी बडी सहायता की। एतदर्थ मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। कांकरोली मे श्री कण्ठ-मणि शास्त्री के सौजन्य से मुझे कांकरोली महाराज के विद्याभवन में सगृहीत पाण्डुलिपियो के अवलोकन का अवसर मिला और उनकी सहायता से मैं साथ

द्वारा के विद्याभंडार में भी संगृहीत पाण्डुलिपियों का अवलोकन कर सका। अतः श्री आसोपाजी के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मेरे मथुराप्रवास में श्री बरसानेलाल चतुर्वेदी ने मेरे आवास आदि की व्यवस्था में जो सहायता की थी उसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा वर्तमान अध्यक्ष डा० रामकुमार वर्मा, वाराणसी विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दू कालेज दिल्ली के भूतपूर्व संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री तथा अन्य कई मित्रों ने मुझे समय समय पर अनेक बहुमूल्य सुझाव दिए जिनके लिए मैं इन सभी का अत्यन्त आभारी हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहासविभाग के अध्यक्ष डा० विश्वेश्वर प्रसाद ने मेरे मूल अंग्रेजी निबन्ध को आद्योपान्त पढ़कर मुझ पर जो अपनी असीम कृपा की उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। इस निबन्ध के हिन्दी रूपांतर की पाण्डुलिपि बनाने में मुझे केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के सम्पादक श्री काशीराम शर्मा से भी पर्याप्त सहायता मिली। अतः मैं उनका भी धन्यवाद करता हूँ।

पूज्य गुरुवर डा० बाबूराम सक्सेना ने ग्रन्थ की भूमिका लिखकर मेरे प्रति अपने चिर-स्नेह और कृपा की ही अभिव्यक्ति की है। एतदर्थ मैं उनके प्रति सदैव नतमस्तक रहूँगा।

अपने शोधकार्य की अवधि में मुझे अनेक प्रकार की पारिवारिक तथा अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, किन्तु इन सभी कठिनाइयों में मुझे अपनी जीवन-सहचरी श्रीमती माधवीदेवी से सदैव पूर्ण सहयोग और प्रेरणा मिलती रही है। अतः मेरे इस कार्य की सफलता में उनका योग भी किसी प्रकार से कम नहीं है।

अपने प्रिय मित्र श्री माधवजी की प्रेरणा और सहयोग से 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' दिल्ली के संचालक महोदय ने न केवल इस ग्रन्थ को सहर्ष प्रकाशित करना ही स्वीकार किया अपितु इसके मुद्रण में उन्होंने विशेष रुचि और उत्साह का परिचय दिया है। इसके लिए मैं उनका एवं श्री माधवजी का भी अत्यन्त आभारी हूँ।

अन्त में सहृदय पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि ग्रन्थ में जो कुछ भी

उपादेय है उसे 'नीरक्षीरविवेकन्याय' से ग्रहण करने की कृपा करें क्योंकि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

७१८, कटरा नीम
दिल्ली ।

रामधन शर्मा

श्रावण पूर्णिमा २ २ वि
१–८–६१

विषय-सूची

द्वितीय भाग

सूर के दृष्टकूट पद

सदर्भ श्रोर सहायक ग्रन्थ सूची

१—हस्तलिखित

१ अष्ट सूरदासजी कृत दशकूट के पद—कांकरोली विद्याविभाग १८७।१

२. दृष्टकूट—नाथद्वारा १५।१

३ दृष्टकूट पद सूरदास कृत—नाथद्वारा ११।२

४ दृष्टकूट के पद—(नाथद्वारा सूरसागर के साथ) १ ।२

५. सूरदासजी के कीर्तनसंग्रह (सूरशतक)—कांकरोली विद्याविभाग ३८।७

६ सूरदासजी के दृष्टपद—कांकरोली विद्याविभाग १२७।१७-१

७ सूरदासजी के दृष्टकूट अथवा सूरशतक—ना प्र स वाराणसी

८. सूरसागर—कांकरोली १ ।२

९. सूरसागर—नाथद्वारा

१ सूरसागर—जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा

२—मुद्रित

संस्कृत

१ अग्निपुराण—पंचरत्न तारानाथ कलकत्ता १८९

२ अमरकोश—वामनाचार्य झलकीकर, बम्बई १९

३ अमरुशतक

४ अथर्ववेद

५. अर्थशास्त्र (कौटिल्य) गंगाप्रसाद शास्त्री दिल्ली

६ अलंकारशेखर

७ ईशोपनिषद्

८. उज्ज्वलनीलमणि (रूपगोस्वामी)

९. ऋग्वेद (सायणभाष्य)

१ ऋग्वेद (मैकडानल)

११ ऐतरेय ब्राह्मण

१२ कठोपनिषद्

१३ कर्पूरमंजरी (राजशेखर)

१४. कादम्बरी (बाण)

१५. कामसूत्र (वात्स्यायन)

१६ काव्यप्रकाश (मम्मट)
१७ काव्यमीमांसा (राजशेखर)
१८ काव्यादर्श (दण्डिन्)
१९ काव्यालंकार (भामह)
२ काव्यालंकार (रुद्रट)
२१ काव्यालंकार सूत्र (वामन)
२२ कूट सन्दोह (रामानुज)
२३ कौषीतकी ब्राह्मण
२४ गीतगोविन्द (जयदेव)
२५. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह
२६ चन्द्रालोक (जयदेव)
२७ चित्रमीमांसा (अप्पयदीक्षित)
२८ दशरूपक (धनंजय)
२९ ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन)
३ नाट्यशास्त्र (भरत)
३१ निरुक्त (यास्क)
३२ नैषधीयचरित (श्रीहर्ष)
३३ पंचतंत्र
३४ पंचदशी
३५ पंचरात्र
३६ प्रासमंजरी
३७ प्रमोपायविविधविषयसिद्धि
३८ बृहदारण्यकोपनिषद्
३९ बृहज्जातक
४० भगवद्गीता
४१ भागवत पुराण
४२ मनुस्मृति
४३ महाभारत
४४ महाभाष्य
४५. मेघदूत
४६ याज्ञवल्क्यस्मृति
४७ रघुवंश

४८ रसगंगाधर
४९ रसमंजरी (भानुदत्त)
५० लोचन (अभिनवगुप्त)
५१ वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)
५२ वाचस्पत्यकोष
५३ वाल्मीकि रामायण
५४ वासवदत्ता (सुबन्धु)
५५ विदग्धमुखमण्डन
५६ शतपथब्राह्मण
५७ शृंगारतिलक
५८ शृंगारप्रकाश
५९ सम्मोहनतंत्र
६० साधनमाला
६१ साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)
६२ सिद्धान्तकौमुदी
६३ सुबोधिनी (वल्लभाचार्य)
६४ सुभाषितरत्नभाण्डागार
६५ हठयोग प्रदीपिका
६६ हर्षचरित (बाण)
६७ हेवज्रतन्त्र

हिन्दी

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त
२ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३ कबीर ग्रन्थावली—नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी
४ खोज रिपोर्ट—नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी
५ गोरखबानी
६ पृथ्वीराज रासो
७ ब्रजमाधुरी सार (वियोगीहरि) हि० सा० स० प्रयाग
८ ब्रज साहित्य का नायिकाभेद—प्रभुदयाल मीतल
९ महाकवि विद्यापति—डा० शिवनन्दन सिंह
१० मिश्रबन्धु विनोद
११ रसमंजरी (नन्ददास)

१२ रामचरितमानस
१३ विद्यापति पदावली
१४ शिवसिंह सरोज
१५ साहित्य लहरी (सरदार कवि द्वारा सम्पादित)
१६ साहित्य लहरी (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित)
१७ साहित्य लहरी (महादेव प्रसाद द्वारा सम्पादित पटना)
१८ सुकवि-समीक्षा—रामकृष्ण शुक्ल
१९ सूरदास—ब्रजेश्वर वर्मा
२ सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल
२१ सूरसमीक्षा—नरोत्तमदास
२२ सूरसागर—बम्बई
२३ सूरसागर—लखनऊ
२४ सूरसागर—वाराणसी
२५ सूरसारावली
२६ सूर साहित्य की भूमिका—रामरतन भटनागर और वाचस्पति त्रिपाठी
२७ सूरसौरभ—मुन्शीराम शर्मा
२८ सूरशतक—महादेव प्रसाद पटना
२९ सूरशतक—खग विलास प्रेस पटना
३ हिन्दी कलाकार
३१ हिन्दी काव्यधारा
३२ हिन्दी नवरत्न
३३ हिन्दी निबन्धमाला
३४ हिन्दी विश्वकोष
३५ हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल)
३६ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा
३७ हिन्दी साहित्य की भूमिका—हजारीप्रसाद द्विवेदी

English

1 Hymns of the Rigveda—Macdonnel
2. Symbolism, its meaning and effect—A. N. Whitehead
3. History of Sanskrit Literature—Macdonnel
4. History of Indian Literature—Winternitz
5. Indian Historical Quarterly—1928

6. Les Chants Mystique—Dr M. Shahidullah.
7 Nirguna School of Hindi Poetry—Dr P D Barthawal, 1st edition.
8. Studies in Tantras—Dr P C. Bagchi.
9 Encylopaedia Britannica.
10. Sanskrit Worterbuch—Rom and Petersberg
11 Sanskrit English Dictionary—M. Williams.
12 Sanskrit English Dictionary—V S Apte.
13 Poetry Direct and Oblique—E. M. W Tillyard, London 1948.
14 Symbolism and Poetry—Symond London.
15 Science & Poetry—I A Richards, London 1926.

सकेत चिह्न

१ अ पु	अग्निपुराण
२ अथर्व	अथर्ववेद
३ अ को	अमरकोश
४ अ श	अमरुशतक
५ अर्थ	अर्थशास्त्र
६ अल वे	अलवार वेबर
७ अष्ट वल्लभ	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
८ इ हि क्वा	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
९ ईश	ईशोपनिषद्
१ उ नी	उज्ज्वल नीलमणि
११ ऋग्	ऋग्वेद (सायणभाष्य)
१२ ऐ ब्रा	ऐतरेय ब्राह्मण
१३ ऐन ब्रि	ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका
१४ कबीर	कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी
१५ क ग्र	कबीर ग्रन्थावली
१६ कठ	कठोपनिषद्
१७ कर्पूर	कर्पूरमंजरी
१८. काद	कादम्बरी
१९ का द	काव्यादर्श
२ का प्र	काव्यप्रकाश
२१ का भा	काव्यालंकार (भामह)
२२ का मी	काव्यमीमांसा
२३ का रु	काव्यालंकार (रुद्रट)
२४ का सू	काव्यालंकार सूत्र
२५. काम	कामसूत्र
२६ कुटम	कुटमकोश
२७ कौ ब्रा	कौषीतकी ब्राह्मण
२८. खो रि	खोजरिपोर्ट काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी

२९. गीत — गीतगोविन्द
३० गो बा — गोरखबानी
३१ गो सि स — गोरखसिद्धान्त संग्रह
३२ चन्द्र — चन्द्रालोक
३३ चि मी — चित्रमीमांसा
३४ दश — दशरूपक
३५. ध्वन्य — ध्वन्यालोक लोचन टीका सहित
३६ ना शा — नाट्यशास्त्र
३७ निरुक्त — निरुक्त
३८ निर्गु स — निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री
३९ नैषध — नैषधीयचरितम्
४० पं त — पंचतन्त्र
४१ पं व — पंचवटी
४२ पा रा — पांचरात्र
४३ पात भा — महाभाष्य
४४ प्र वि सि — प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि
४५. प्रा म — प्राणमंजरी
४६ बृहद — बृहदारण्यक
४७ बृहज्जा — बृहज्जातक
४८ ब मा सा — ब्रजमाधुरी सार
४९. ब सा ना — ब्रजसाहित्य का नायिकाभेद
५० गीता — भगवद्गीता
५१ भाग — भागवतपुराण
५२ म भा — महाभारत
५३ विद्या — महाकवि विद्यापति
५४ मनु — मनुस्मृति
५५ मेघ — मेघदूत
५६ याज्ञ — याज्ञवल्क्य स्मृति
५७ रघु — रघुवंश
५८ र ग — रस गंगाधर
५९. र म भा — रसमंजरी—भानुदत्त
६० र म नन्द — रसमंजरी—नन्ददास

र

६१ रा च मा॰	रामचरितमानस
६२ रासो	पृथ्वीराज रासो
६३ लेस चाट	लेस चाट मिस्टीक
६४ लोचन	लोचन—अभिनवगुप्त
६५ व जी	वक्रोक्तिजीवित
६६ वाच	वाचस्पत्य कोश
६७ वा रा	वाल्मीकीय रामायण
६८ वासव	वासवदत्ता
६९ वि प	विद्यापति पदावली
७० वि मु म	विदग्धमुखमण्डन
७१ विनोद	मिश्रबन्धु विनोद
७२ श ब्रा	शतपथ ब्राह्मण
७३ शि स	शिवसिंह सरोज
७४ शृ ति	शृ गार तिलक
७५ शृ प्र	शृ गार प्रकाश
७६ सं त	सम्मोहनतंत्र
७७ स इं डि	संस्कृत इगलिश डिक्शनरी मोनियर विलियम्स
७८ सं इं डि	" आप्टे
७९ स वे	संस्कृत वेयर्टेबु ख
८० सा द	साहित्यदर्पण
८१ साधन	साधनमाला
८२ सा ल स	साहित्यलहरी—सरदार कवि
८३ सा ल भा	साहित्यलहरी—भारतेन्दु
८४ सा ल म	साहित्यलहरी—महादेव प्रसाद
८५ सि कौ	सिद्धान्तकौमुदी
८६ सिम्बल	सिंबालिज्म इट्स मीनिंग ऐण्ड इफैक्ट
८७ सुभाष	सुभाषित रत्नभाण्डागार
८८ सुबोध	सुबोधिनी
८९ सु स	सुकवि समीक्षा
९० सू नि	सूर निर्णय
९१ सूर	सूरदास

९२ सू स	सूर समीक्षा
९३ सू सा बं	सूरसागर (बम्बई)
९४ सू सा ल	सूरसागर (लखनऊ)
९५ सू सा वा	सूरसागर (वाराणसी)
९६ सू सारा	सूरसारावली
९७ सू सा भू	सूरसाहित्य की भूमिका
९८ सू सौ०	सूरसौरभ
९९ सू श	सूरशतक
१ स्टडीज	स्टडीज इन तमाज
१ १ हठ प्र	हठयोग प्रदीपिका
१ २ हर्ष	हर्षचरित
१ ३ हि इ लि	हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर
१ ४ हि स लि	हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर
१ ५ हि क	हिन्दी कलाकार
१ ६ हि का	हिन्दी काव्यधारा
१ ७ हि न	हिन्दी नवरत्न
१ ८ हि नि	हिन्दी निबन्धमाला
१ ९ हि वि	हिन्दी विश्वकोश
११ हि सा आ इ	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
१११ हि सा इ	हिन्दी साहित्य का इतिहास
११२ हि सा भू	हिन्दी साहित्य की भूमिका
११३ हिम्स ऋग्	हिम्स आफ ऋग्वेद
११४ हैवल	हैवलाक

मंगलाचरणम् ।

यत्पादपद्मनखनिर्मलचन्द्रिकाभि—
रुद्वेल्लित सपदि शब्दसुधाम्बुराशि ।
उच्छ लस मनसि खेलति धीमता सा
श्रीशारदा विदधतु मे प्रतिमामनस्याम् ॥१॥

उप्तो वैदिककाल एव मुनिवरैर्व्यासादिभि सिञ्चितो
हिन्दीकाव्यविनोदपत्रफलितो सूरेण सम्प्रापित ।
भक्त्या काव्यकलाप्रिया मधुरया वल्ल्या समालिङ्गितो
राधामाधवहृज्झकूटविटपो भद्राय भूयाद्भवे ॥२॥

विश्व यानदपीन्द्रदामविषया सम्मोहयल्लोलया
स्नेहालवब्रजवल्लवीषु मधुरां भक्तिं समुद्भावयत् ।
सर्वस्वान्तविहारिणीं रसमयीं भंगीमिराप्लावयत्
राधामाधवहृत्कूटमतुल भद्राय भूयाद्भवे ॥३॥

भारमाराभरहस्यगोपमपरां धर्मीं समुल्लासयन्—
माधुर्यप्रसरस्य भावुकजनान् कोटिं परां प्रापयत् ।
वैचित्र्येण चमत्कारकाव्यकलया साहित्यमुज्जीवयत्
राधामाधवहृत्कूटमतुलं भद्राय भूयाद्भवे ॥४॥

—लेखक

प्रथम भाग

कृष्णकाव्य का उद्भव और विकास

अध्याय १

'कूट' का अर्थ और इतिहास

विषय-प्रवेश

कविता विचारों के प्रसाधन और भावनाओं के अभिव्यंजन की कला है। निश्चय कवि इसी सत्य की सिद्धि के हेतु अपनी सम्पूर्ण शक्ति का सदुपयोग करता है। अभिव्यंजना में दुर्बोधस्फुरता होने पर कवि की वाणी आनन्द प्रदायिनी हो जाती है शैली की तत्परता से उसमें उदात्तता का उदय होता है और कल्पनाओं की शृंखला तथा गहन विचारों के उत्कर्ष का संयोग पाकर वही वाणी जटिल हो जाती है। कवि-भारती के इन सभी रूपों में अपनी-अपनी मोहकता है। सरसता में उदात्तता है तो जटिलता में गरिमा। सरसता वर्णनात्मक रचना का आभूषण है तो जटिलता विचारप्रधान रचना का शृंगार, जिसमें उपदेशात्मक सूक्तियाँ अथवा अध्यात्मिकरूपा व्यंजनाएँ सन्निहित रहती हैं। ज्ञानद्रष्टाओं और विवेकशील विद्वानों को अभिव्यंजना की गूढ़ शैली सदा ही अधिक प्रिय रही है। काव्य के क्षेत्र में सभी कालों और सभी देशों में अभिव्यंजना की गूढ़ पद्धति ने श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त की है और अपनी वक्रता के लिए वह सदैव प्रसिद्ध रही है। अंगरेजी में काव्य की इस वक्र अथवा गूढ़ पद्धति को ऑब्लीक (Oblique) अथवा एनिगमेटिक (Enigmatic) कहा गया है जिसका अर्थ है 'सीधे मार्ग से विचलन'[1]। ई० एम० डब्ल्यू० टिलियर्ड ने ऑब्लीक काव्य का विवेचन इस प्रकार किया है —ऐसा काव्य जिसमें मानस अनुभव को प्रत्यक्ष शब्दों द्वारा न कहकर वक्रोक्ति अथवा गूढार्थ शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया हो।[2] अंगरेजी में ऑब्लीक कविता का सुन्दर निदर्शन इलियट का काव्य है। भारतवर्ष में अभिव्यंजना में वक्र अथवा गूढार्थ शैली का प्रयोग बहुत

---

1 "That which diverges from a straight line." Jhonson.

2. "Poetry which expresses a mental experience not by direct statement but obliquely by implication." Poetry—Direct and Oblique by E. M. W Tillyard, Lond., 1948, P. 9.

टिलियर्ड का यह विवेचन ओब्लीक के [illegible] निर्देशित [illegible] ही निर्धारित है।

कई और भी अर्थ दिये गये हैं जिनका उल्लेख धातुपाठ में नहीं है। यथा—१ अप्रसन्न होना[1] २ तोड़ना[2] ३ विकृत अथवा गड़बड़ कर देना[3] और ४ अस्पष्ट अथवा अबोध्य बना देना[4]। अप्रसन्न होने का अर्थ सम्भवतः 'अवसन्न होने' से ही ले लिया गया है। परन्तु शेष तीनों अर्थ कदाचित् 'कुट्' धातु से लिये गये हैं जो 'कूट' से भिन्न है और जिसका अर्थ छेदन[5] अथवा कौटिल्य (कुटिलता)[6] होता है।

सामान्य व्यवहार में 'कूट' शब्द का अर्थ

सामान्य व्यवहार में 'कूट' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता रहा है। अमरकोश में इसके नौ अर्थ दिये गये हैं[7]—१ माया (भ्रान्ति अथवा कपट) २ निश्चल (स्थिर अथवा अचल वह पदार्थ भी जो एकरूप हो यथा आकाश) ३ यन्त्र (हिरन पकड़ने का जाल या पिंजरा आदि) ४ कैतव (छल अथवा धूर्त) ५ अनृत (मिथ्या झूठ) ६ राशि ७ अयोघन (हथौड़ा) ८ शैल शृङ्ग और ९ सीराङ्ग (हल का एक भाग फाली)। इनके अतिरिक्त 'कूट' का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में भी मिलता है[8]—१० तुच्छ, हीन निराहृत अथवा भ्रष्ट ११ ढेर १२ गुप्त शस्त्र (यथा लकड़ी के कोष में छिपा हुआ खड्ग गुप्ती आदि) १३ व्यंग्यवाक्य[9] १४ गूढ़ प्रश्न १५ प्रहेलिका अथवा गूढ़ोक्ति, जिसके अर्थ में हेर-फेर हो जिसका समझना कठिन हो १६ उद्भूति (ऊँचा अथवा ऊपर को निकला हुआ) १७ सींग अथवा उभरी हुई ललाटास्थि १८ टूटे सींग वाला बैल १९ प्रमुख अथवा शिरोमणि २० मुद्गर २१ निहा

---

१ 'कूट अप्रसादे'। म० वे० पृ० ३०८

२ भेदन (तोड़ना)—वही

३ संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी मोनियर विलियम्स पृ० २९९

४ " " आप्टे पृ० ४२५

५ 'कुट छेदने कुट इत्यपि'। सि० कौ० २८८/१३६६

६ 'कुट कौटिल्ये'। सि० कौ० २०६/१३६७

७ मायानिश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु।
अयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्॥ अ० को० ३३।१६
इन अर्थों में से अनेक निम्नलिखित कोशों में मिलते हैं—म० वे० पृ० ३०८ सं० इं० डि० (मो० वि०) पृ० २९९ सं० इं० डि० (आप्टे) पृ० ४२५, शब्द कल्पद्रुम भाग २ पृ० ५४४ और हि० श० सा० भा० २ पृ० ६१४

८ यदि कूट मारयसि [illegible] । [illegible] पृ० १४६

बाट या नाप-तोल) कूटनीति (कपटनीति) कूटोपाय (छल के उपाय) आदि। 'कूट' के 'कटिन प्रश्न' 'परिहास अथवा व्यंग्यवाक्य' 'प्रहेलिका अथवा गूढोक्ति' आदि अर्थ भी मिथ्या और कपट से मिलते-जुलते हुए ही हैं और इसी अर्थ मे थोड़ा-सा हेर-फेर करके 'कूट' शब्द का प्रयोग वाणी और काव्य-रचनाओ के प्रसग म भी हुआ है।

'कूट' का काव्यगत अर्थ

काव्य के प्रसग म 'कूट' शब्द का प्रयोग गूढकाव्य के अर्थ म होता है अर्थात् ऐसी विशिष्ट काव्यरचना जिसमे अर्थ गूढ एव कष्टबोध्य उक्तियो म छिपा रहता है। केवल 'गूढार्थ अथवा वाक्छल' के अर्थ मे भी उसका प्रयोग हुआ है। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध मे 'कूट' का प्रयोग मुख्यत गूढकाव्य के अर्थ मे ही किया गया है। यह काव्यशास्त्रीय अर्थ सामान्यत प्रचलित अर्थ 'कपट' और व्युत्पत्तिसम्य अर्थ 'कुटिलता' से सबद्ध है क्योकि कूटरचना की शब्द योजना मे कुछ कुटिलता अथवा शब्दछल तो होता ही है। इसका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'पीड़ा पहुँचाना' से भी हो सकता है क्योकि कूट काव्य के पाठक को गूढ अर्थ समझने के लिए किंचित् बौद्धिक व्यायाम करने का कष्ट भी उठाना ही पड़ता है। 'कूटम्' 'कूटानि' 'कूटश्लोक' 'कूटपद' आदि पदो मे यह स्पष्ट है कि 'कूट' शब्द का इस पारिभाषिक अर्थ मे संज्ञावत् भी प्रयोग होता है और विशेषणवत् भी।

कूट' शब्द का काव्य के प्रसंग में प्रयोग

कूट' शब्द का काव्य के पारिभाषिक अर्थ म प्रयोग कब से प्रारम्भ हुआ यह कहना कठिन है क्योकि न तो प्राचीन साहित्य मे और न ज्ञान रीति शास्त्रीय ग्रंथो मे ही कही उसका उल्लेख है। किन्तु 'वाक्छल अथवा गूढोक्ति' के अर्थ म 'कूटवाक्य' का प्रयोग प्राचीन ब्राह्मण-ग्रथो मे भी मिलता है। यथा— वाचः कूटैनैकपदया वर्मं विरज्य[१] (शब्दो के छल से तत्काल सेनाओ को रोक कर)। परवर्ती संस्कृत-साहित्य म भी इस अर्थ मे कूट का प्रयोग होता रहा है।

---

१ हुआ ए ११
२ ऐत ब्रा० ६ २४

कारणों से शुद्ध नहीं प्रतीत होता ।

(१) संस्कृत के किसी कोश अथवा अन्य ग्रंथ में 'दृष्टिकूट' रूप नहीं मिलता केवल 'दृष्टकूट' ही प्राप्य है[1] यद्यपि 'हिन्दीशब्दसागर' में ये दोनों ही रूप दिए गये हैं ।[2]

(२) 'दृष्टकूट' में 'कूट' बहुव्रीहि समास का उत्तरपद है अतः यह संज्ञा पद होना चाहिए, विशेषण नहीं । समास में विशेषण प्रायः पूर्वपद होता है ।

(३) यदि 'दृष्टिकूट' रूप माना जाये तो 'दृष्ट्या कूटम्'—ऐसा विग्रह करने पर 'कूट' पद विशेषण होगा और उसका अर्थ होगा दृष्टि से छिपा हुआ । किन्तु कूटकाव्य में अर्थ गुप्त होता है न कि शब्द और अर्थगोपन का संबंध केवल बोध या बुद्धि से ही हो सकता है न कि दृष्टि से । इसी प्रकार 'दृष्टेः कूटं यस्मिन्स्तत्'—ऐसा विग्रह करने पर यद्यपि 'कूट' समासपद होगा किन्तु उसमें दृष्टि का भ्रम—ऐसा अर्थबोध होने के कारण शब्द और अर्थ से उसका कोई सम्बन्ध न रहेगा । अतः 'दृष्टिकूट' पद और उसकी ये व्याख्याएँ काव्य के अर्थ में उचित नहीं जान पड़तीं ।

(४) 'दृष्टकूट' पद उसी प्रकार बहुव्रीहि समास है जिस प्रकार 'दृष्टकर्म' (जिसका कर्म देखा गया हो) 'दृष्टवीर्य' (जिसका पराक्रम देखा गया हो) 'दृष्टशक्ति' (जिसकी शक्ति देखी गई हो) आदि । अतः यही शब्द उस रचना के लिए अधिक उपयुक्त है जिसमें कुछ भ्रम अथवा माया का चमत्कारक विधान हो । पर यह कहना कठिन है कि 'दृष्टकूट' जैसे समस्त शब्द के नये प्रयोग की आवश्यकता क्या पड़ी जबकि 'कूट' और 'दृष्टकूट' के तात्पर्य में कोई भेद नहीं है । संभवतः काव्यकूट के सादृश्य पर ही इस शब्द की रचना हुई है जिसका प्रयोग अपभ्रंशभाषा में विशेष रूप से विद्यापति और सूरदास ने कूटपदों के लिए किया है । सूरदास के कूटपदों के लिए दृष्टकूट शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सरदार कवि ने 'साहित्य लहरी' की टीका में किया है ।[3]

गूढार्थ अथवा कूटकाव्य के अन्य अभिधान और रूप

समाधि भाषा—यद्यपि 'कूट' अथवा 'दृष्टकूट' का काव्य के पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग न तो प्राचीन साहित्य में ही उपलब्ध है और न रीतिशास्त्र के ग्रन्थों

---

१ सं. इं. डि. (मोनियर विलियम्स) पृ. ४९।
२ हि. श. सा. पृ. १६१२ ; १६ ।
३ साहित्यलहरी ... सरदार की टीका, पृ. ।

मे पर इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि पहले इस प्रकार की काव्य-रचना होती ही न थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि ऋग्वेद की ऋचाओ से लेकर अब तक सभी कालो के अनेक कवियो ने अभिव्यंजना की गूढार्थ-शैली को अपनाया है और उनकी इन रचनाओ को भिन्न-भिन्न समय मे अनेक रूपो और नामो से अभिहित किया गया है। ऋग्वेद और अथर्ववेद मे अनेक ऐसे मन्त्र है जो प्रहेलिकाओ के रूप मे है। ये प्रहेलिकामन्त्र निश्चय ही कूटकाव्य के प्राचीनतम निदर्शन माने जा सकते है। इन मन्त्रो की भाषा अत्यन्त कठिन और अस्पष्ट है और उसमे ऐसी शैली का प्रयोग किया गया है जिसमे थोडे-से शब्दो मे विस्तृत और गहन अर्थ छिपा रहता है। इसीलिये कुछ विद्वानो ने इसे 'समाधि-भाषा' कहा है। यास्क ने अपने निरुक्त मे वर्ण्य विषय के अनुसार ऋचाओ को तीन भागो मे विभक्त किया है

(१) प्रत्यक्षकृता (२) परोक्षकृता और (३) आध्यात्मिकी[२]। इनमे परोक्षकृता और आध्यात्मिकी निश्चय ही गूढ और रहस्यगर्भित है जैसा कि उनके शब्दार्थ से ही स्पष्ट है।

ब्रह्मोद्य[३]—उपनिषदो मे भी कुछ ऐसे पद अथवा वाक्यार्थ है जिनमे परब्रह्म के स्वरूप का परोक्ष और लाक्षणिक रूप मे वर्णन किया गया है। ये अश 'ब्रह्मोद्य' कहलाते है और इनमे कूटरचना का स्पष्ट आभास है।

वाक्कूट अथवा वाणीकूट—ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण तथा भागवत के प्रक रणो मे वाक्कूट अथवा वाणीकूट का उल्लेख तो ऊपर किया ही जा चुका है।[४]

ग्रन्थग्रंथि—महाभारत के उत्तरभारतीय सस्करणो मे 'ग्रन्थग्रंथि' शब्द का प्रयोग निश्चय ही व्याकरण कष्टबोध्य और जटिल अर्थ वाले श्लोको के लिए हुआ है[५]। व्यास ने इन्हे श्लोककूट भी कहा है जिसका अर्थ है श्लोको मे कूट अर्थात् गुत्थियाँ। यद्यपि व्यास के ये कूटश्लोक परवर्ती सस्कृत मे कूटकाव्य के प्राचीनतम उदाहरण माने जा सकते है। काव्य-रचना की इस विशिष्ट चमत्कारपूर्ण पद्धति के लिए 'ग्रन्थग्रंथि' शब्द का प्रयोग श्रीहर्ष ने भी अपने 'नैषधीयचरित' मे किया है।[६]

---

१ [illegible]
२ निरुक्त ७-१
३ [illegible]
४ पृ०
५ 'ग्रन्थग्रंथि तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात्।' [illegible]
६ 'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया'—नैष० [illegible]

कुतूहलाध्यायी[1]—अग्निपुराण में 'कुतूहलाध्यायी' शब्द का प्रयोग सम्भवत ऐसी काव्य-रचना के लिए किया गया है जो पाठक के मन में विस्मय अथवा कुतूहल उत्पन्न करने वाली हो। यह चित्रकाव्य का एक भेद है जिसमें अर्थ भ्रामक और चमत्कार शब्दों में छिपा रहता है।

वैनोदिक—'कुतूहलाध्यायी' जैसे ही एक शब्द 'वैनोदिक'[2] का उल्लेख राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में किया है। इसे चित्रकाव्य का भेद नहीं माना गया है किन्तु यह एक प्रकार का गूढार्थ काव्य ही है जिसका उद्देश्य केवल विनोद है।

वक्रोक्ति—वक्रोक्ति का शब्दार्थ है 'टेढ़ी उक्ति'। यह भी 'कूट' का ही समानार्थक शब्द है। पर कवियों और काव्य के आचार्यों ने इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। बाणभट्ट[3] और अमरुशतक[4] के रचयिता ने 'वक्रोक्ति' का प्रयोग 'परिहासपूर्ण सम्भाषण' के अर्थ में किया है। यह अर्थ 'कूट' के भी एक अर्थ—परिहास अथवा व्यंग्योक्ति—से मिलता-जुलता है। काव्य में वक्रोक्ति का अर्थ है—वैदग्ध्यभंगीभणिति[5]। भामह ने उसका प्रयोग इसी अर्थ में करते हुए कहा है कि वक्रोक्ति सभी अलंकारों की स्थानपूर्ति कर सकती है[6]। दण्डी ने 'वक्रोक्ति' का प्रयोग 'स्वभावोक्ति' के विपरीत अर्थ में किया है[7] और कहा है कि श्लेष वक्रोक्ति की श्रीवृद्धि करता है[8]। इस प्रकार वक्रोक्ति वाणी का एक चमत्कारपूर्ण रूप है जो श्लेष पर आश्रित होता है और सरल तथा स्वाभाविक उक्ति से भिन्न होता है। भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर दण्डी ने अतिशयोक्ति

---

1. प्रहेलिका कुतूहलाध्यायी—अ पु ३४२।
2. वैनोदिक वाक्येन—का मी
3. [illegible]
4. [illegible]
5. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते—व जी
6. (क) [illegible]
   (ख) [illegible]
   (ग) [illegible]
   (घ) [illegible]
7. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्—का द
   श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्—का द

का अलंकार का आधार माना है[1]। परन्तु परवर्ती आचार्यों को इन दोनों शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत हुआ अतः उन्होंने दोनों को पर्याय ही माना[2] है। भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति के विषय में अभिनवगुप्त ने कहा है कि अतिशयोक्ति में वैलक्षण्यमयी भणिति होती है। वक्रोक्ति के लिए यह आग्रह इस बात का सूचक है कि काव्य के दो प्रमुख लक्षण माने जाते थे — (१) काव्य में सामान्य व्यवहार के शब्दों का प्रयोग होते हुए भी उनका कथन साधारण बोल-चाल के ढंग से भिन्न कोटि का होना है (२) कवि वस्तुओं के ऐसे अद्भुत समन्वय और संबंध की अभिव्यंजना करता है जो सामान्य अथवा वस्तुवादी मनुष्य के लिए संभव नहीं है। इस अर्थ में वक्रोक्ति को कूटोक्ति का पर्याय माना जा सकता है। परन्तु पारिभाषिक दृष्टि से वह कूटोक्ति से सर्वथा भिन्न है क्योंकि उसकी गणना शब्दालंकारों में की जाती है। यद्यपि वामन ने भी वक्रोक्ति की गणना अलंकारों में की है पर उसकी व्याख्या सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार 'वक्रोक्ति सादृश्य पर आश्रित लक्षणा[3] है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और 'वक्रोक्ति जीवित' के रचयिता कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' कहा है[4] और उसी को काव्य की आत्मा माना है[5]। इस अर्थ में भी 'वक्रोक्ति' 'कूट' से सर्वथा भिन्न है क्योंकि 'कूट' तो काव्य का एक भेद-मात्र है उसका आवश्यक तत्त्व नहीं। 'वक्रोक्ति' को केवल उसके सामान्य अर्थ में ही 'कूट' का पर्याय माना जा सकता है किन्तु अलंकार-रूप में 'वक्रोक्ति' कूटरचना का एक साधन-मात्र है।

प्रहेलिका—कूटार्थ-रचना का एक रूप प्रहेलिका भी है। यद्यपि कुछ लेखकों ने 'प्रहेलिका' को भी 'कूट' का पर्याय माना[6] है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रहेलिका एक विशेष प्रकार की रचना होती है जिसमें एक उत्तरापेक्षी प्रश्न होता है अथवा उसमें प्रयुक्त शब्दों से किसी अर्थान्तर की व्यंजना परोक्षरूप से की

[illegible] । [illegible] ।
का० अ० २।२२

[illegible] ।

३ [illegible] वक्रोक्तिः — [illegible]

४ वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते । [illegible]

५ वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् — [illegible]

६ [illegible] १ [illegible]

जाती है[1]। इसके विपरीत 'कूट' जातिवाचक शब्द है जिसमें सभी प्रकार की गूढार्थ रचनाएँ सम्मिलित होने के कारण 'प्रहेलिका' का भी उसमें अन्तर्भाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रहेलिका की गणना अलंकारों में नहीं है अतः कुछ साहित्यशास्त्रकार उसे काव्य के अन्तर्गत नहीं मानते जबकि 'कूट' निश्चय ही काव्य का एक भेद है। तथापि कूट के व्यापक अर्थ में प्रहेलिका भी उसका एक प्रकार ही है।

सन्धाभाषा—सिद्ध-साहित्य में एक प्रकार की गूढार्थ-रचना मिलती है जिसे सन्धाभाषा' अथवा 'सन्धावचन' कहा गया है। 'सन्धाभाषा' में कुछ रहस्यात्मक गीतों की रचना हुई है जिन्हें अपभ्रंश के कूटकाव्य का प्राचीनतम उदाहरण माना जा सकता है। जैसा कि 'सन्धाभाषा' शब्द से ही व्यक्त होता है उसका अर्थ है प्रतीकात्मक भाषा और उसका प्रयोग विशेष प्रयोजन से किया जाता था। अतः यह कष्टबोध्य रचना का ही एक भेद है। पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न रूपों में की है। कुछ के अनुसार यह भाषा दो भिन्न भाषाभाषी प्रदेशों की सीमा की मिश्रित भाषा थी। उसे बिहार तथा पश्चिमी बंगाल के सीमाप्रदेश की भाषा सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है[3]। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि उसका आधार ही अशुद्ध है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि यह मत इस भ्रान्त धारणा पर आश्रित है कि बिहार और बंगाल का वर्तमान राजनीतिक विभाजन मानो सार्वकालिक है[4]। स्व० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'सन्धा' के स्थान पर 'सन्ध्या' पाठ माना है और उनके अनुसार 'सन्ध्याभाषा' का अर्थ है सन्ध्याकालीन भाषा अर्थात् प्रकाश और अन्धकार की सन्धि के समान यह भाषा न तो सर्वथा गुप्त होती है और न स्पष्ट पर उसका परिणाम है ज्ञान का आलोक[5]। 'सन्ध्याभाषा' शब्द को ही आधार मानकर डा० रामकुमार वर्मा ने भी कहा है—"यह वह भाषा है जो अपभ्रंश से विकसित हुई है, और जिसके फलस्वरूप

---

१ प्रहेलिका की परिभाषा — व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात् ।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते सा प्रहेलिका ॥
वि ध म १ ७।

२ रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ॥ सा द १ ।१७

३ हि सा० भू पृ २४

४ वही

५ वही

जो 'समसमकेत-विस्तार' से परिपूर्ण है। 'हेमसप्तक' में उस विशिष्ट शब्दावली को 'सन्ध्याभाषा' संज्ञा दी गयी है जिसका प्रयोग रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए 'चर्यापदों' में किया गया है। उक्त ग्रन्थ से यह भी विदित होता है कि 'सन्ध्याभाषा' का प्रयोग उस युग की विशिष्ट रुचि बन गया था और उसका प्रयोग न करने वाले को विद्रोही समझा जाता था। इस प्रकार सिद्धों की यह 'सन्ध्याभाषा' कूटरचना का ही एक रूप है।

विपर्यय अथवा उलटबाँसी—नाथपंथी योगियों और कबीर आदि निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त कवियों की कुछ काव्योक्तियों को 'विपर्यय' अथवा 'उलटबाँसी' के नाम से अभिहित किया गया है। इन रचनाओं में जो बात कही गई है वह सामान्यतः लोकदृष्टि में सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है तथापि उसका अर्थ स्पष्ट होने पर वह सीधी और सरल हो जाती है। इस प्रकार इन रचनाओं में अर्थ की गूढ़ता के कारण वे सहज ही समझ में नहीं आतीं। वास्तव में वे कूटकाव्य का ही एक भेद हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इन 'उलटबाँसियों' की रचना-शैली का कोई शास्त्रीय आधार अथवा परम्परा नहीं है किन्तु कूटकाव्य साहित्य की एक परम्परागत शैली पर आधारित है। हिन्दी में कूट और दृष्टकूट शब्दों का प्रयोग ही अधिक प्रचलित है विशेषतः विद्यापति और सूरदास के कूटपदों के प्रसंग में।

संक्षेप में उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं

(१) 'कूट' संस्कृत का एक प्राचीन अनेकार्थवाची शब्द है किन्तु काव्य के प्रसंग में 'कूट' से अभिप्राय एक विशिष्ट प्रकार की पद रचना है जिसमें अर्थ चमत्कार्य एवं गूढ़ उक्तियों में छिपा रहता है।

(२) कूटकाव्य की एक निश्चित परम्परा है जो बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है और भिन्न-भिन्न समय में अनेक रूपों और नामों से अभिहित होती रही है।

(३) ऋग्वेद व अथर्ववेद के [illegible] ब्राह्मण-ग्रन्थों के ब्रह्मोद्य अथवा वाणीकूट उपनिषदों के ब्रह्मोद्यवाक्य महाभारत के व्यासकूट अथवा ग्रन्थग्रंथि तथा परवर्ती लौकिक संस्कृत-साहित्य के कूटप्रहेलिकाएँ [illegible] वक्रोक्ति एवं प्रहेलिका आदि रचनाएँ इसी परम्परा के अन्तर्गत आती हैं।

---

१ [illegible]

(४) सिद्ध कवियों की सन्ध्याभाषा की रचनाएँ एवं नाथपंथी योगियों और कबीर आदि निर्गुण संत कवियों की उलटबासियाँ भी कूटकाव्य-परम्परा का ही एक रूप है।

(५) 'कूट' अथवा 'दृष्टकूट' शब्दों का प्रयोग काव्य के प्रसंग में बहुत प्राचीन नहीं है यद्यपि 'वाक्छल' के अर्थ में 'कूट' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन है। हिन्दी में 'कूट' अथवा 'दृष्टकूट' शब्दों का प्रयोग विशेषतः विद्यापति और सूरदास के कूटपदों के प्रसंग में ही मिलता है।

अध्याय २

कूटकाव्य का स्वरूप, प्रयोजन और भेद

लक्षण

कूटकाव्य वास्तव में क्या है? उसमें कौन-सी विशेषताएँ अथवा अवच्छेदक गुण हैं जिनके कारण काव्य के अन्य रूपों से उसका भेद किया जा सकता है? कूटरचना में कवि की मूलभूत प्रेरणा अथवा प्रयोजन क्या है? ये ऐसे प्रश्न हैं जो कूटकाव्य का विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व स्वतः हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि संस्कृत और हिन्दी में कूटकाव्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है तथापि न तो कवियों ने ही कहीं यह बताने का प्रयत्न किया है कि कूटकाव्य की अनुभवजन्य प्रक्रिया क्या है और न समालोचकों अथवा काव्य-शास्त्रियों ने ही कहीं उसका विवेचन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उन लेखकों ने 'कूट' को काव्य का कोई पृथक रूप न मानकर चित्रकाव्य, अलंकार, रीति अथवा शैली का एक विशिष्ट भेद-मात्र माना है[1]। फलतः किसी भी ज्ञात रीतिशास्त्रीय ग्रन्थ में इन प्रश्नों के उत्तर मिलने सम्भव नहीं। अतः कूटकाव्य के लक्षण अथवा मूलभूत तत्त्वों का निर्धारण करने के लिए हमें कूट-संज्ञक साहित्य के अध्ययन और विश्लेषण का ही आश्रय लेना पड़ेगा। कुछ हिन्दी लेखकों ने अवश्य 'कूट' अथवा 'दृष्टकूट' की परिभाषा स्थिर करने के प्रयत्न किये हैं। वे परिभाषाएँ इस प्रकार हैं

(१) कोई ऐसी कविता जिसका अर्थ केवल शब्दों के वाच्यार्थ से न समझा जा सके बल्कि प्रसंग या रूढ़ अर्थों से जाना जाय[2]।

(२) श्लेष और यमक आदि अलंकार तथा अनेकार्थवाची कतिपय शब्दों के प्रयोग से ऐसी रचना जिसका समझना साधारण पाठक के लिए कठिन हो 'दृष्टिकूट' कहलाता है[3]।

---

१ (क) संस्कृत में कूटरचना को चित्रकाव्य के अन्तर्गत माना गया है—[illegible] पृ १८३

(ख) जगन्नाथ प्रभृति [illegible] ने दृष्टकूट को चित्रालंकार माना है और [illegible] में इसे एक स्वतन्त्र अलंकार माना है।

२. हि सा को भाग १ पृ २२४ तथा हि श सा भाग ५, पृ १११

३ [illegible]

(३) कूटरचना में यमक श्लेष अपह्नुतिअतिशयोक्ति आदि द्वारा चमत्कारों के प्रयोग से अर्थ समझने में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त इनमें कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो साहित्य में विशेष अर्थों में रूढ़ हो गए हैं।

(४) कुछ ऐसा कहा जाय जिसमें चमत्कार हो, अर्थ छिपाने की चेष्टा हो, पाण्डित्य का प्रदर्शन हो।

(५) युक्ति से छिपाये हुए और क्लिष्ट कल्पना तथा मनोयोग द्वारा खुलने वाले अर्थों से युक्त वे पद मानसिक एकाग्रता लाने के अभ्यास-रूप माने जा सकते हैं[३]।

इन परिभाषाओं की सम्यक् समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः कूटकाव्य के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण गुण-धर्मों का उल्लेख है जिनसे उसके बाह्यरूप का तो ज्ञान हो जाता है पर उसके वास्तविकस्वरूप का बोध नहीं होता। इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर जिन तत्त्वों का बोध होता है वे ये हैं —(१) कूटकाव्य में गूढ़ अथवा प्रच्छन्न अर्थ होता है जिसका बोध साधारण पाठक के लिए सम्भव नहीं है। (२) अर्थ में गूढ़ता अथवा अस्पष्टता लाने के लिए शब्द प्रयोग में विशेष कला कौशल अथवा चातुर्य की अपेक्षा है, यथा साहित्य में विशिष्ट रूढ़ अर्थों में प्रयुक्त अथवा अनेकार्थवाची शब्दों का प्रयोग अथवा श्लेष यमक अपह्नुतिअतिशयोक्ति आदि अलंकारों का आश्रय। (३) अर्थ को जटिल अथवा अस्पष्ट बनाने की प्रवृत्ति का कारण पाण्डित्य प्रदर्शन अथवा पाठक या श्रोता के मन में कुतूहल विस्मय या चमत्कार उत्पन्न करना है। (४) अर्थबोध के लिए क्लिष्ट कल्पना और मनोयोग अथवा मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता है।

इन तत्त्वों में से तृतीय अर्थात् पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा कुतूहलजन्यता तो कूटकाव्य का प्रयोजन है और चतुर्थ अर्थात् क्लिष्ट कल्पना और मनोयोग अर्थ बोध के साधन-मात्र हैं। अतः लक्षण की दृष्टि से प्रथम अर्थात् गूढ़ार्थता और द्वितीय अर्थात् शब्द-कौशल ये दो ही कूटकाव्य के प्रमुख तत्त्व हैं। कूट-शब्द शब्द के सूक्ष्म अवगाहन से भी यही विदित होता है कि कूटरचना को काव्य के अन्य भेदों से पृथक् करने वाले केवल ये ही दो अनिवार्य तत्त्व हैं। कूटरचना

---

१ ए. डी. पृ. २

२ ए. ना. भू. पृ. २

३ काव्य० कल्पना पृ. ६

मे कवि की प्रवृत्ति अर्थगोपन की ओर रहती है और अर्थगोपन के लिए उसे एसी विशिष्ट शब्दावली अथवा चमत्कार आदि साधनो का आश्रय लेना पड़ता है जिससे साधारण पाठक के लिए उसका बोध सम्भव नही है। कूटार्थ यद्यपि सामान्यत अभिधेय ही होता है तथापि वह प्रसिद्ध वाच्यार्थ मे भिन्न कोई ऐसा अन्य अर्थ होता है जिसे समझने के लिए सहृदयजनो को भी बुद्धि और कल्पना का अवलम्बन लेना पड़ता है। अर्थबोध होने पर पाठक के मन मे जो एक प्रकार का विस्मय अथवा कुतूहल उत्पन्न होता है उससे हृदय म अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होती है। अत कुतूहलजन्यता प्रयोजन होने पर भी कूटकाव्य का आवश्यक गुण माना जा सकता है। अर्थगोपन और कुतूहल की सृष्टि के लिए जिस विशिष्ट शब्द-क्रम अथवा कौशल का आश्रय लेना पड़ता है उसे 'शब्द वैचित्र्य' ही कह सकते है। इस प्रकार कूटकाव्य मे गूढार्थ और शब्द-वैचित्र्य मे ही दो प्रधान तत्त्व है, और पाण्डित्य-प्रदर्शन अथवा कुतूहल-जन्यता उसके प्रयोजन है। इन तत्त्वो के आधार पर कूटकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है

गूढार्थं शब्दवैचित्र्यं कूटकाव्यं तदुच्यते।
हेतुस्तस्यात्र वैदग्ध्यचमत्कारप्रदर्शनम् ॥

गूढार्थता से तात्पर्य है 'अर्थ की दुरूहता अथवा दुर्बोधता'। यद्यपि काव्य के सभी रूपो म अर्थ की कुछ न कुछ विशेषता या गाम्भीर्य तो होता ही है तथापि गूढार्थ अथवा क्लिष्ट काव्य का अध्ययन और आस्वादन सामान्यत लोगो को रुचिकर नही होता। इसी कारण कुछ आचार्यों ने गूढार्थता अथवा क्लिष्टार्थता को काव्य का दोष माना है। क्लिष्टार्थता क कारण ही हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि केशवदास को व्यग्यात्मक रूप मे 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा गया है। परन्तु गूढार्थता अथवा क्लिष्टार्थता सर्वथा दोष ही नही है प्रत्युत कभी-कभी वह काव्य का शृगार हो जाती है और कूटकाव्य का तो वह अनिवार्य गुण है। सुखबोध्यता और स्पष्टता नि सन्देह उत्तम काव्य के आवश्यक गुण[2] है तथापि काव्यरचना मे दुर्बोधता अथवा अस्पष्टता का सर्वथा निराकरण सम्भव नही है। सस्कृत मे एक प्रसिद्ध उक्ति है—'कवि करोति काव्यानि रस जानन्ति पण्डिता' अर्थात् 'कवि तो काव्य की रचना करता है किन्तु उसका

१ का प्र० १११-२१

२ बहुतरनिरन्तरस्य गुडार्थानामर्थानां व्यवहरुपोर्थ सुभिन्नसुवर्त्तानम्।
बहुसमरसमत्य सर्वभावमनुक न भवति शुभार्थ मातय समसाम—का स० ११८

रसास्वादन काव्यरस के पारखी विरल विद्वज्जन ही करते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि कवि की वाणी म कुछ ऐसी विशेषता होती है जिससे सामान्य शब्दों मे भी एक विशेष प्रकार से अर्थगाम्भीर्य की ध्वनि होती है और उसके समझने वाले विरले रसिकजन ही होते हैं। अपनी तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि अलौकिक प्रतिभा और लोकोत्तर कल्पना-शक्ति के द्वारा कवि शब्दों से खेल किया करता है और उनमे असामान्य एव मनोनुकूल अर्थ देने की क्षमता प्रदान करता है। कभी-कभी पाठक के मन मे जिज्ञासा विस्मय और कुतूहल उत्पन्न करने के लिए वह ऐसी विचित्र शब्दावली का प्रयोग करता है जिससे अर्थ मे दुरूहता अथवा दुर्बोधता आ जाती है। वास्तव मे कुतूहलोत्पादन अथवा पाण्डित्य प्रदर्शन के उद्देश्य से रचे गये सभी काव्यरूपों मे किञ्चित् गूढता अथवा अस्पष्टता का आ जाना तो स्वाभाविक ही है। काव्य के सर्वसम्मत उत्तमोत्तम रूप ध्वनि काव्य[1] का रसास्वाद भी साधारण जन के लिए सुखबोध्य नहीं होता अपितु 'सहृदयहृदयसंवेद्य' होता है। इस दृष्टि से कूटकाव्य मे रस और ध्वनि की प्रमुख विशेषताओं का भी समावेश हो जाता है क्योंकि इन दोनो मे ही कवि अपने अभिमत अर्थ को परोक्षरूप से अथवा अप्रस्तुत वाच्यार्थ के माध्यम से अपने पाठकों को हृदयंगम कराने की जिज्ञासा रखता है। काव्य का प्रयोजन बालबोधमात्र नहीं है अपितु सुबोध अथवा दुर्बोध बनाने के अभिप्राय से जानबूझ कर किया हुआ प्रयत्न तो रचना को अवश्य ही अस्वाभाविक बना देता है। इसके अतिरिक्त अर्थ की अस्पष्टता अथवा कठिनता विषय के स्वरूप और उसके अधिकारी पाठक की ग्रहणशक्ति पर आश्रित है। बाण के हर्षचरित सुबन्धु की वासवदत्ता श्रीहर्ष का नैषधीयचरित रामानुज का कूटसंदोह अप्पयदीक्षित की चित्रमीमांसा आदि ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें समझने के लिए पाठकों म प्रचुर ज्ञान और कुशाग्रबुद्धि की परम अपेक्षा है। इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी काव्य के छायावाद और रहस्यवाद मे भी अमूर्तभावों की अभिव्यंजना प्राकृतिक पदार्थों और भावनाओं के मानवीकरण तथा प्रतीकात्मक और रूपकात्मक भाषा के विधान के कारण दुर्बोधता और अस्पष्टता सहज ही लक्षित होती है। अत गूढार्थता अथवा क्लिष्टार्थता मात्र के कारण कूटकाव्य को हेय और निकृष्ट मान लेने का कुछ विद्वानों का मत कदापि उचित और युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव मे गूढार्थता और शब्दों का जटिल विधान तो कूटकाव्य म जानबूझ कर

१ इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै कथित । का० प्र० पृ० २१

कलात्मकता के उद्देश्य से किया जाता है। उससे अभिव्यंजना में चमत्कार की वृद्धि होती है। कूटकाव्य सामान्य बुद्धि के पाठक के लिए तो दुर्बोध ही होता है क्योंकि उसे समझने के लिए विशेष ज्ञान और मनोयोग की आवश्यकता होती है और कभी-कभी तो उसके लिए पर्याप्त बौद्धिक व्यायाम भी करना पड़ता है। किन्तु अर्थ का सम्यक बोध होने पर पाठक को अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होती है। यदि गूढ़ता अथवा अस्पष्टता अर्थबोध की सम्पूर्ण सीमाओं का उल्लंघन कर देती है और कुशलीजनों के लिए भी उसका अर्थबोध दुस्साध्य हो जाता है तो यह समझना चाहिये कि इस प्रकार की रचना काव्य की दृष्टि से नहीं अपितु या तो केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए की गई है अथवा किसी सम्प्रदाय-विशेष के विशिष्ट जिज्ञासुओं के लिए उनके किसी गूढ़ धार्मिक अनुष्ठान अथवा दार्शनिक रहस्य की अभिव्यक्ति के लिए की गई है। ऐसी स्थिति में उस रचना में रसानुभूति अथवा भावसौन्दर्य का प्रश्न ही नहीं उठता।

शब्द-वैचित्र्य कूटकाव्य का दूसरा विशिष्ट अभिधाय लक्षण है। वैसे तो शब्द-वैचित्र्य काव्य के सभी रूपों में सौन्दर्य चमत्कार और आनन्द का साधन माना जाता है किन्तु कूटकाव्य का तो वह अनिवार्य तत्त्व है। कूट काव्य में शब्द-वैचित्र्य का तात्पर्य ऐसी शब्दावली के प्रयोग से है जिससे उसमें विस्मय कुतूहल अथवा चमत्कार की सृष्टि होती है। इसके लिए कवि को अनेक प्रकार के साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। इनमें से प्रमुख साधन ये हैं—

१ प्रतीकों का प्रयोग—कवि जब अपने भावों को सामान्य शब्दों के द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ पाता है तो वह प्रतीकों और रूपकों का आश्रय लेता है। प्रतीकों की आवश्यकता प्राय आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रसंगों के वर्णन में अत्यधिक होती है जहाँ उनकी सहायता से अत्यन्त सूक्ष्म और गहन तथ्यों को सरलता से अभिव्यक्त एव भावनाओं से परिपूर्ण बनाया जाता है। ये प्रतीक प्रकृति के नाना उपादानों से ग्रहण किये जाते हैं। कभी-कभी केवल एकवर्ण अथवा संख्या के द्वारा ही अभिप्रेत शब्द का बोध कराया जाता है। वेदों उपनिषदों तथा अन्य प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। तान्त्रिकों सिद्धो, नाथपंथी योगियों और कबीर आदि सन्तकवियों की रहस्यात्मक एव गूढ उक्तियों में भी प्रतीक शैली का प्रयोग बहुलता से हुआ है। उदाहरण के लिए कबीर का यह पद लीजिए —

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ गियानी॥

इसमें वेदान्त के अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। 'जल' परब्रह्म का प्रतीक है और 'कुम्भ' दृश्य-जगत् का। अतः कवि का अभिप्राय यह है कि यह जगत् जल में घट के समान परब्रह्म में ही समाया हुआ है और परब्रह्म की सत्ता ही इस दृश्यमान जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। इस जगत् के भीतर और बाहर दोनों ओर परब्रह्म ही है। जगत् का नाश होने पर उसमें व्याप्त परमात्मतत्त्व अपने व्यापक परब्रह्म में मिल कर एकाकार हो जाता है।

संस्कृत के निम्न श्लोक में कुछ शब्दों के प्रथम अक्षरों से ही पूरे शब्दों का बोध कराया गया है —

विहंगा वाहनं येषां त्रिकचधारिणः।
पासालसहिता देवाः सदा तिष्ठन्तु ते गृहे॥[2]

(वि) गरुड़ (हं) हंस और (ग) वृषभ क्रमशः जिनके वाहन हैं और जो (त्रि) त्रिशूल (क) कम्बु (शंख) और (च) चक्र को क्रमशः अपने हाथों में धारण किये हुए हैं ऐसे शिव ब्रह्मा और विष्णु देव क्रमशः अपनी पत्नियों (पा) पार्वती (सा) सावित्री और (ल) लक्ष्मी के साथ सदा तुम्हारे घर में निवास करें। यहाँ 'विहंगा' से क्रमशः वि (पक्षी अर्थात् गरुड़) हं (हंस) और ग (वृषभ) का बोध कराया गया है। इसी प्रकार 'त्रिकचधारिणः' से क्रमशः त्रिशूल कम्बु और चक्र का तथा 'पासालसहिता' से पार्वती सावित्री और लक्ष्मी का बोध कराया गया है।

२ अनेकार्थवाची शब्दों का विशिष्ट पदार्थ में प्रयोग—कभी-कभी एक या अधिक अनेकार्थवाची शब्दों को केवल किसी एक विशिष्ट पदार्थ में ही प्रयुक्त किया जाता है। यथा —

कैकयं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे हा कैकय कथं गतः॥

(जल में मत्स्य को मरा देखकर कौआ प्रसन्न हुआ किन्तु मेंढक रोने लगे कि हाय बाप! तेरी यह क्या दशा हुई है)। यहाँ 'कैकय' 'द्रोण' और 'कौरवा-

१ क म प्र पृ २
२. सुभाषित ४१
३ सुभाषित ६

शब्द अपने प्रसिद्ध वाच्यार्थ कृष्ण द्रोणाचार्य और कौरवो के लिए नही प्रयुक्त हुए हैं अपितु केशव शब्द का 'के+शव' ऐसा पदच्छेद करके 'जल मे शव को' यह अर्थ ग्रहण किया गया है इसी प्रकार द्रोण शब्द का अर्थ यहाँ कृष्ण काक (कौआ) है और कौरव का अर्थ गीदड है। कौआ इसलिए प्रसन्न हुआ कि वह जल में पडे शव पर भी बैठकर उसका मास भक्षण कर सकता है किन्तु गीदड उसे नही पा सकते इसलिए रोने लगे।

इसी प्रकार 'देखी माई दधिसुत मे दधिजात'[1] सूर के इस पद म दधिसुत शब्द अनेकार्थवाची होने पर भी यहाँ केवल चन्द्रमा क अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। दधिसुत का यौगिक अर्थ है—उदधि (समुद्र) का पुत्र। अत उसका वाच्यार्थ चन्द्रमा शंख मोती आदि समुद्र से उत्पन्न कोई भी पदार्थ हो सकता है परन्तु कूटकाव्य मे हिन्दी कवियो ने इसका प्रयोग बहुधा चन्द्रमा के ही अर्थ में रूढ कर दिया है। कूटरचना म उपमेय के स्थान पर प्राय उसके उपमान का प्रयोग किया जाता है और चन्द्रमा मुख का एक प्रसिद्ध उपमान है अत उपर्युक्त पद मे उपमेय मुख के लिए ही उसके उपमान चन्द्रमा के वाचक 'दधिसुत' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्रेत अर्थ यहाँ चन्द्रमा के समान (कृष्ण का) सुन्दर मुख है।

३ एक शब्द की अनेक अर्थों में आवृत्ति—कभी-कभी एक ही अनेकार्थवाची शब्द की भिन्न-भिन्न अर्थों मे आवृत्ति करके कूटरचना की जाती है। यथा —

सुवर्णस्य सुवर्णस्य सुवर्णस्य च जानकि।
प्रेषिता तव रामेण सुवर्णस्य च मुद्रिका ॥[2]

इस श्लोक मे सुवर्ण शब्द की भिन्न-भिन्न अर्थों मे चार बार आवृत्ति हुई है —उज्ज्वल कान्ति वाला शुद्ध सुन्दर नामाक्षरो से अंकित और सोना। अत पद का अर्थ इस प्रकार होगा—अशोकवाटिका में सीता को पाकर हनुमान ने राम की दी हुई सोने की अंगूठी उन्हे देते हुए कहा कि हे जानकी! राम ने उज्ज्वल कान्ति वाले शुद्ध तथा अपने नाम के अक्षरो से अंकित सुवर्ण की यह अंगूठी दी है।

इसी प्रकार सूर के निम्नपद मे सारग शब्द की भिन्न-भिन्न अर्थों मे अनेक बार आवृत्ति हुई है —

---

१ सू० सा० पद ११
२ हनुमा० १४४—

सारँग सारँग धरहिं मिलावहु ।
सारँग बिनय करति सारँग सौं सारँग दुख बिसरावहु
सारँग-समै दहत अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु ।
सारँग-पति सारँग धर जे हैं, सारँग जाइ मनावहु,
सारँग-चरन सुभग कर सारँग सारँग-नाम बुलावहु
सूरदास सारँग उपकारिनि सारँग मरत जियावहु ।

नायिका सखी से कहती है कि हे सखी ! तू मुझे मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण से मिला दे । मैं तुझ से अत्यन्त विनय करती हूँ तुझे भगवान् विष्णु की सौगन्ध है, तू मेरी काम-पीड़ा को दूर कर दे । रात्रि के समय चन्द्रमा (वियोग दुःख में) मुझे जलाता है अतः तू मेरे प्रियतम को लाकर मुझे दिखा दे । उसकी मति कृष्णवर्ण के समान है अर्थात् वह शीघ्र ही रुष्ट हो जाता है । अतः तू उसे प्रेमपूर्वक मनाकर ले आ । कमल के सदृश सुन्दर चरण और हाथ वाला मेरा वह प्रियतम भ्रमर है (अर्थात् अनेक पुष्पों का रसपान करने वाले भौंरे के समान अनेक नायिकाओं से भोग करने वाला वह चंचल प्रकृति है) । सूरदास कहते हैं कि नायिका सखी से विनय करती है कि हे विपत्ति में सहायता करने वाली तू अपनी इस सखी को मरने से बचा ले ।

यहाँ सारँग शब्द के क्रमशः ये अर्थ हैं —सखी कमल आकाश (अनन्त) विष्णु कामदेव रात्रि चन्द्रमा प्रियतम कृष्णवर्ण अनुराग कमल भ्रमर, दुरित (अन्यार्थ दुर्दशा विपत्ति) और सखी ।

सूर ने इस प्रकार के बहुत से कूटपदों की रचना की है ।

४ शब्दमाला द्वारा एक ही अर्थ का बोध—कभी-कभी शब्दों की एक लम्बी माला अथवा शृंखला द्वारा एक विशेष अर्थ का बोध कराया जाता है । यह माला समास अथवा असमास दोनों रूप में हो सकती है । समस्त शब्द माला का एक उदाहरण यह है —

वसुमित्रसुतस्वपुत्रभ्रातासितसुतशिरोवलम्बिनी ।
तत्कर्णीरिर्वाहिनीपतिः रक्षतु मां कमललोचनो हरिः ॥

(अर्जुन के मित्र कमललोचन श्रीकृष्ण मेरी रक्षा करें) ।

यहाँ 'वसु' ... शिरोवलम्बिनी' इस समस्त पद का अर्थ है गंगा । इसकी व्याख्या इस प्रकार है —वसु का मित्र अर्थात् अग्नि उसका पुत्र कार्तिकेय

---

१ सा० ल० ७१
२ सुभाष० ११७-८

उसका बन्धु गणेश उसका वाहन मूषक उसका अराति (शत्रु) सर्प उसको भूषण बनाने वाले शिव उनके सिर पर धारण की हुई अर्थात् गंगा। फिर इसका सम्बन्ध आगे 'तज्जवैरिभगिनीपते' इस पद से है जिसका अर्थ है—उस गंगा से उत्पन्न पुत्र भीष्म उसका वैरी शिखण्डी उसकी बहन द्रौपदी और उसका पति अर्जुन उसका सखा मित्र अर्थात् कृष्ण।

समासरहित शब्दमाला का उदाहरण यह है —

शमीगर्भस्य यो गर्भस्तस्य गर्भस्य यो रिपुः।
रिपुगर्भस्य यो भर्ता स मे विष्णुः प्रसीदतु॥

(लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हों)। यहाँ 'शमी गर्भस्य' पद से लेकर 'रिपुगर्भस्य' पद तक सभी पदों के सहयोग से 'लक्ष्मी का' यह अर्थ लिया गया है। 'शमीगर्भ' का अर्थ है शमी (अथवा अश्वत्थ) वृक्ष का भीतरी भाग। उसका गर्भ (सन्तति) है अग्नि क्योंकि वह शमीवृक्ष के भीतर रहती है। उस अग्नि का रिपु है जल और जल का गर्भ (सन्तति) है 'लक्ष्मी' क्योंकि वह समुद्र से उत्पन्न हुई है। उस लक्ष्मी का पति अर्थात् विष्णु।

सूरदास ने भी इस प्रकार के अनेक पदों की रचना की है। उदाहरण के लिए 'भूमिसुतअरिमित्ररिपुपुर'[1] इस समस्त पद का अर्थ है 'कमर'। इसकी व्याख्या इस प्रकार है —'भूमिसुत' अर्थात् केनाथ नामक वास उसका अरि—शत्रु (वानर) उसका मित्र राम उसका रिपु—शत्रु रावण उसका पुर अर्थात् लंका। फिर लंका और कटिवाची लंक शब्द में ध्वनिसाम्य के आधार पर कवि का अभिप्रेत अर्थ है लंक अर्थात् कटि (कमर)।

एक अन्य पद 'जलसुत-प्रीतम-सुत रिपु-बन्धव-आयुध'[2] का अर्थ है रोष। इसकी व्याख्या इस प्रकार है — 'जलसुत' अर्थात् कमल उसका प्रीतम सूर्य उसका सुत (पुत्र) कर्ण उसका रिपु अर्जुन उसका बन्धु भीम उसका आयुध गदा। फिर गदा और गद (रोष) में ध्वनिसाम्य के आधार पर कवि का विवक्षित अर्थ है गद अर्थात् रोष।

५. वर्णों के योग से शब्द-निर्माण—कभी-कभी कई शब्दों के अलग-अलग वर्णों को लेकर उनसे एक नूतन शब्द का निर्माण किया जाता है। यथा —

सुरज-सुत-सुता-सुग्रीव की आयुध आदि रहाय।[4]

---

१ सुभाष १६२-२६
२ सा ल पद २
३ सू सा पद १
४ सा० ल पद १५

सूर के इस पद में 'सुरज-सुत-माता' का अर्थ है सूर्य के पुत्र कर्ण की माता 'कुन्ती' और सुग्रीव का अर्थ है जैन। फिर कुन्ती और जैन इन दोनों के आदि वर्णों 'कु' और 'जै' को मिलाकर नया शब्द बना 'कुजै'। अतः पद का अर्थ है 'कुजो को ढूंढ रही है।

६. वर्णों के लोप से नये शब्द का बोध—कभी-कभी किसी शब्द के कुछ वर्णों का लोप करके नये शब्द का बोध कराया जाता है। यथा —

राजन् कमलपत्राक्ष तत्ते भवतु चाक्षयम्।
प्रसादयति यत् पं करेणु करहीनिका ॥[१]

(हे कमलनेत्र राजन्! आप प्रसन्न आयु प्राप्त करें)। यहाँ 'करेणु' पद में से क र, और ण वर्णों को निकाल देने पर शेष बचे अ+ए+उ और इनकी सन्धि होने पर नया शब्द बना 'आयु'।

७. रूपसाम्य अथवा ध्वनिसाम्य से शब्द-बोध—कहीं-कहीं दो शब्दों के रूपसाम्य अथवा ध्वनिसाम्य से अभिप्रेत शब्द का बोध कराया जाता है। यथा संख्या ४ के तीसरे उदाहरण में लंका के ध्वनिसाम्य से लक का और चौथे उदाहरण में गदा के साम्य से गद (रोग) का अर्थ ग्रहण किया गया है। एक अन्य उदाहरण और लीजिये 'मधव बीच है गये बास की हरि-अहार चलि जात।' (यद्यपि वह आधे मास की अवधि देकर गये थे किन्तु अब तो पूरा मास बीता जा रहा है)। यहाँ 'हरि अहार' शब्द का अर्थ है सिंह का भोजन अर्थात् मास। फिर मास और मास में ध्वनिसाम्य के आधार पर मास अर्थात् महीने का अर्थ ग्रहण किया गया है। हरि शब्द अनेकार्थवाची है।[२] किन्तु यहाँ उसका अर्थ सिंह ही है।

८. संख्यासूचक शब्दों का प्रयोग—कभी कभी ऐसे पदार्थवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनसे एक निश्चित संख्या का बोध होता है। यथा— 'पहलवान घर बैद बापु घर ताहि कहा सारम तुम्हारे'[४] (जिसके घर में अग्नि है उसे दीपक की क्या आवश्यकता है) इस पद में पहलवान और बेद शब्दों से क्रमशः १ २७ और ४ संख्याओं का बोध होता है। इनका योग है बत्तीस

१ सुभाष १२४।
२ सू सा० पद ९।
३ हरि शब्द के अर्थ ये हैं विष्णु, इन्द्र, सूर्य, बैल, वायु, चन्द्रमा, सिंह, अग्नि, मेंढक और हाथी
४ सा ल पद २८

और चालीस सेर का एक मन होता है अतः 'सहस्रदल मत भेद' का अर्थ हुआ 'मन'। फिर मन और मणि में ध्वनिसाम्य के आधार पर उससे 'मणि' का बोध कराया गया है।

६ लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग—कभी-कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनका लक्ष्यार्थ ही वस्तुतः कूट का अभिप्रेत अर्थ होता है। यथा—

प्राभ्रभ्राड् विच्छायाभ्य विलमानं करोत्ययम्।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम्॥[1]

(मेघों से आच्छादित आकाश में भी प्रकाशमान् सूर्य कमलों को विकसित कर रहा है)। यहाँ 'सहस्रपर्णानां निद्रां पलायनपरायणां करोति' का अभिधेय अर्थ है—कमलों की निद्रा को दूर कर रहा है किन्तु उसका लक्ष्यार्थ है 'कमलों के संकोच को दूर कर रहा है' अर्थात् कमलों को विकसित कर रहा है। निद्रा शब्द का लक्ष्यार्थ 'संकोच' ही यहाँ वस्तुतः अभिप्रेत अर्थ है।

कभी-कभी नेयार्थलक्षणा द्वारा भी कूटार्थ का बोध कराया जाता है। नेयार्थलक्षणा में अर्थ न तो रूढ़ि पर आश्रित होता है और न प्रयोजन पर, अतः काव्य में इसे दोष माना गया है। कुमारिलभट्ट का एतद्विषयक नियम है —

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥

अर्थात् कुछ लक्ष्यार्थ तो शब्दों में अन्तर्हित सामर्थ्य के कारण अभिधान के समान निरूढ होते हैं कुछ अवसर-विशेष पर ग्रहण कर लिये जाते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो शब्दों में अर्थ-द्योतन-शक्ति के न होने के कारण भी ग्राह्य नहीं होते। परन्तु कूटरचना में नेयार्थलक्षणा विवक्षित अर्थ को गूढ बना देने का साधन होती है। उदाहरणार्थ संख्या ५ में उद्धृत पद में 'सुबोध' शब्द का जैन अर्थ नेयार्थ मात्र है। एक अन्य उदाहरण संस्कृत के निम्न श्लोक से लिया जा सकता है —

देवराजो मया दृष्टो वारिवारणमस्तके।
भक्षयित्वार्कपर्णानि विषं पीत्वा क्षयं गतः॥[3]

(हे देवर! मैंने एक बन्दर कुएँ पर देखा था। वह आक के पत्ते खाकर और जल पीकर अपने स्थान को चला गया)। यहाँ देवराज पद से लक्षि

---

१ सुभाष ११६-७३
२ का० प्र० २ ९
३ सुभाष ११६ ३

जाती है। यथा—

विराजराजपुत्रारिर्यन्नाम चतुरक्षरम् ।
पूर्वार्धं तव शत्रूणां परार्धं तव संगरे ॥[1]

हे राजन्! पक्षिराज गरुड़ के स्वामी विष्णु के पुत्र कामदेव के शत्रु शिव का जो चार अक्षरों वाला नाम अर्थात् 'मृत्युंजय' है उसका पूर्वार्ध (मृत्यु) युद्ध में तुम्हारे शत्रुओं को प्राप्त हो और उत्तरार्ध (जय) तुम्हें मिले। यहाँ श्लोक के प्रथम पद से 'मृत्युंजय' शब्द का बोध कराया गया है।

१३ अप्रयुक्त अर्थों में शब्दों का प्रयोग—अप्रयुक्तत्व काव्य में दोष माना गया है। किन्तु कूटरचना में यह अर्थगोपन में सहायक होता है। अतः कभी-कभी अप्रयुक्त अर्थों में ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है यथा—

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
प्रमदाः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति कलौ युगे ॥

(कलियुग में जनपद अन्न का विक्रय करेंगे ब्राह्मण वेदों का विक्रय करेंगे और स्त्रियाँ भग का व्यापार करेंगी अर्थात् व्यभिचार द्वारा धनार्जन करेंगी)। यहाँ अट्ट शब्द का अर्थ अन्न शिव का वेद शूल का विक्रय चतुष्पथ का ब्राह्मण और केश का भग अप्रसिद्ध तथा अप्रयुक्त अर्थ है।[3]

१४ क्लिष्टान्वय—कभी-कभी अन्वय की क्लिष्टता से अर्थ-बोध में कठिनाई होती है। यथा —

कुमारसम्भवं दृष्ट्वा रघुवंशे मनोऽभवत् ।
राक्षसानां कुलश्रेष्ठो रामो राजीवलोचन ॥[4]

इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार होगा—'रघुवंशे कुलश्रेष्ठ राजीवलोचन राम राक्षसानां कुमारसंभवं दृष्ट्वा (तेषां वधे) मनः अभवत्'। तदनुसार इसका अर्थ यह है—रघुवंश में श्रेष्ठ कमलनैन राम ने राक्षसों की उत्पत्ति पृथ्वी के बीहड़ों के रूप में देखकर उनके मारने का निश्चय किया।

१५. साभिप्राय शब्द-प्रयोग—कभी-कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनसे किसी विशेष भाव अथवा अभिप्राय का बोध होता है। अलंकार

---

१ सुभाष० १६४ १४
२ सुभाष० १६४ २
३ अट्टमन्नं शिवो वेदो ब्राह्मणश्च चतुष्पथः
केशो भग इति प्रोक्तः शूलो विक्रय उच्यते

—वही टिप्पणी

४ सुभाष० १६५ ३१

शास्त्र में ऐसी रचना को मुद्रालंकार भी कहा गया है। यथा—

कार्चिद्वियोगानलतप्तगात्री प्राणान् सखामारक्षितुं लिलेख।
बाहौ भुजंगं हृदि राहुबिम्बं नाभौ च कर्पूरमयं महेशम्॥[1]

(वियोग की अग्नि से संतप्त किसी नायिका ने अपने प्राणों की रक्षा के लिए अपनी भुजाओं पर सर्प का, हृदय पर राहु के बिम्ब का और नाभि पर कपूर से निर्मित शिव का चिह्न अंकित कर लिया)। सर्प के अंकित करने का अभिप्राय यह था कि सर्प द्वारा भक्षण किये जाने के भय से प्राणवायु स्वयं बाहर नहीं निकल सकती। राहु के अंकित करने का आशय यह था कि उसके डर से चन्द्रमा उस नायिका के मन को अपनी ओर नहीं खींच सकेगा[2] और शिव के अंकित करने का अभिप्राय यह था कि उसके डर से कामदेव शरीर में प्रवेश करके उसे पीड़ा नहीं पहुँचा सकेगा।

इसी आशय का मल्लिनाथ-रचित यह श्लोक भी अत्यन्त प्रसिद्ध है—

काचिद्बाला रमणवसतिं प्रेषयन्ती करण्डं
सा तन्मूले सभयमलिखद् व्यालमस्योपरिष्टात्।
गौरीनाथं पवनतनयं चम्पकं चास्य भावं
पृच्छन्त्यार्यान् प्रति कथमिदं मल्लिनाथः कवीन्द्रः॥[3]

किसी तरुणी नायिका ने अपने प्रियतम के पास पुष्पों की एक पिटारी भेजी। उस पिटारी के नीचे उसने सर्प का चित्र अंकित कर दिया और ऊपर की ओर शिव, हनुमान तथा चम्पक पुष्प का चित्र बना दिया। यहाँ सर्प का चित्र अंकित करने का अभिप्राय यह था कि कहीं वायु उसमें प्रवेश करके पुष्पों की गन्ध का अपहरण न कर ले। अतः सर्प को देखकर उसके द्वारा भक्षण किये जाने के भय से वह उसमें प्रवेश नहीं कर पायगी। शिव के अंकित करने का अभिप्राय था कि उसके भय से कामदेव अपने बाणों के लिए उन पुष्पों को नहीं ले सकेगा। हनुमान के अंकित करने का अभिप्राय था कि सूर्य हनुमान द्वारा अपने निगल लिये जाने के भय से उन पुष्पों को अपने ताप से नहीं सुखा सकेगा[4]। चम्पक के लिखने का अभिप्राय यह था कि उसे देखकर भौंरा उन पुष्पों के रस का पान नहीं कर सकेगा क्योंकि यह एक प्रसिद्ध बात है कि भौंरा चम्पक के पुष्प के पास नहीं जाता।

---

१ सुभाष १८–६
२ मन को चन्द्रमा का अंश कहा गया है।
३ सुभा० ११–८४
४ यह प्रसिद्ध है कि हनुमान ने अपनी बाल्यावस्था में एक बार सूर्य को निगल जाने का प्रयत्न किया था।

१६. अलंकारों का प्रयोग—उपर्युक्त साधना के अतिरिक्त कूटरचना में अलंकारों का भी विशेष महत्त्व है। अलंकार यद्यपि काव्य के शोभाविधायक धर्म हैं किन्तु कूटरचना में वे अर्थ-गोपन में सहायक होकर काव्य के वास्तविक सौन्दर्य को ढक लेते हैं और अर्थग्रन्थि के खुलने पर ही पाठक या श्रोता को उस सौन्दर्य का अनुभव होता है। अतः अलंकार कूटरचना के सहायक साधन-मात्र हैं। कुछ विद्वानों ने कूट को भी एक अलंकार माना है पर वस्तुतः कूट अलंकार नहीं है। ऐसे कूट पद भी पाए जाते हैं जिनकी रचना में अलंकारों का कुछ भी सहयोग नहीं होता तथापि उनमें गूढ़ रहस्य छिपा रहता है। आचार्यों ने अनेक अलंकार गिनाये हैं किन्तु कूटकाव्य में प्रायः निम्न अलंकारों का ही प्रयोग होता है अनुप्रास यमक श्लेष वक्रोक्ति विरोध समासोक्ति पर्यायोक्ति अन्योक्ति अपह्नुति भ्रान्तिमान्, रूपकातिशयोक्ति और सूक्ष्म। इन अलंकाराश्रित कूटों का सोदाहरण विवेचन आगे किया जाएगा। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अर्थ की कुछ गूढ़ता तो ध्वनिकाव्य में भी होती है जहाँ शब्द और अर्थ अपने साक्षात् संकेतित अर्थ का उत्सर्जन करके अन्य अर्थ (व्यंग्यार्थ) का बोध कराते हैं। परन्तु उसे कूटकाव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें न तो शब्द-चित्रता की आवश्यकता है और न अलंकार आदि अन्य साधनों की। इसके अतिरिक्त कूटकाव्य का गूढ़ार्थ व्यंग्य नहीं होता अपितु वाच्यार्थ ही होता है जो शब्दों के हेरफेर से निकाला जाता है। इसी प्रकार चित्रकाव्य के विविध रूपों में भी क्लिष्ट शब्दों और अलंकारों का प्रयोग मिलता है पर उन सभी को कूट नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें अर्थ सदा गूढ़ अथवा कठिन नहीं होता केवल गूढ़ार्थ और शब्द-वैचित्र्य से युक्त चित्रकाव्य के भेदों को ही कूट माना जा सकता है। अतः गूढ़ार्थ और शब्द-वैचित्र्य ये दो ही कूटकाव्य के अनिवार्य धर्म हैं।

कूटकाव्य में रस और अलंकार का तुलनात्मक महत्त्व

भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य के तीन भेद किये गए हैं[1]—(१) ध्वनि-काव्य जिसमें व्यंग्यार्थ मुख्य और वाच्यार्थ गौण होता है। (२) गुणीभूतव्यंग्य काव्य जिसमें व्यंग्यार्थ गौण होता है और (३) अधम अथवा चित्रकाव्य जिसमें केवल विचित्र शब्दार्थ का समायोजन होता है। कुछ आचार्य इन तीनों काव्य भेदों को क्रमशः उत्तम मध्यम और अधम मानते हैं। अतः उनके मत

१ का० प्र० १ ४१ ५१

काव्य-सामग्री हो उसके तद्विषयक विचार, भाव और कल्पना-कौशल चाहे जितने पुष्ट और अभिनव हों पर कवि-कर्म तब तक सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक उसकी अभिव्यंजना समुचित न हो। अनुभवजन्य सामग्री को सिद्धान्त पद्धति समिति स्थिरता और प्रभविष्णुता को ध्यान में रखकर सुव्यवस्थित रूप देना ही पड़ता है। "शैली विचारों का परिधान है।"[1] शब्दों का चयन शब्दसमूहों की तोड़मरोड़ वाक्य-विन्यास वाक्यों की विशिष्ट गति और लय— ये सभी तत्त्व लेखक की वैयक्तिकता से विशिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं। काव्य में मौलिकता और भावपूर्णता से भी बढ़कर और सजीवता से भी कहीं अधिक हृदयस्पर्शी तत्त्व होता है उसका रूप। समुचित शब्दों के समुचित उपयोग से उत्पन्न यथार्थता और पद तथा पदार्थ का परस्पर समन्वय ही कवि की कुशलता के सच्चे साक्षी हैं —

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावत् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः॥[2]

(कविता वह साधन है जो अभिव्यंजना को कलात्मकता के साथ समन्वित करने की मानव की महती कामना को प्रमाणित करती है)। जहाँ थोड़ा भी सुन्दर भाव विद्यमान हो वहाँ अपनी अभिव्यंजना को काव्य का रूप देने से हमारी आत्मा को विशेष तृप्ति होती है। अतः अलंकारवादियों के अनुसार शब्द-वैचित्र्य सदा ही विशिष्ट आनन्द का साधक एवं काव्य संज्ञा का अधिकारी होता है।

दूसरी ओर रसवादियों के अनुसार काव्य का सच्चा चमत्कार भावों और मनोवेगों के सौन्दर्य पर आश्रित होता है। वह बुद्धि अथवा कल्पना को चमत्कृत करने वाला नहीं होता। "रस ही काव्य की आत्मा है"।[3] इस प्रकार रसवादियों के अनुसार शब्द-वैचित्र्य आनन्द का साधन नहीं होता वह तो केवल अन्त-

---

१ 'Style is the dress of thought' Pope
२ महाभाष्य पृ १
३ (क) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—सा द पृ १०
(ख) काव्यस्यात्मा स एवार्थः ... —ध्व ... पृ १
(ग) काव्यं रसादिमदेव ... —अ पु ३३६ ३३
(घ) न ... रसस्यैवात्मा ... —र गं पृ ११
(ङ) ... —औचित्य पृ १०
(च) ... ॥—१० छ ८

अन्तःकरण में सुप्त भावों को जाग्रत करता है। कुछ विद्वानों के अनुसार चमत्कार का विधान करने वाली मूलभूत वृत्ति कुतूहल ही है। जब हम कोई विशिष्ट पदार्थ देखते हैं अथवा कुछ अद्भुत बात सुनते हैं तो हमारी कुतूहल वृत्ति जाग्रत होकर तृप्त होती है। काव्य में कुछ अद्भुत तत्त्व होता है जो पाठक के मन में कुतूहल उत्पन्न करता है। परन्तु रसवादियों के मत में काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने वाला मूलभूत तत्त्व कुतूहल नहीं है। उनके अनुसार तो आनन्द भावों के उद्दीपन पर आश्रित होता है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य में कवि की सच्ची सौन्दर्यभावना के साथ मिली हुई उसकी अद्भुत कुशलता से कुछ कुतूहल अथवा चमत्कार की भावना भी उत्पन्न होती है परन्तु वह भावना बहुत कम महत्त्व की होती है और रसानुभूति के समय उपस्थित नहीं रहती। जो चमत्कार भावों का उद्दीपन नहीं करता वह कवि की कल्पना की उड़ान अथवा बौद्धिक शक्ति के कारण कुतूहलजनक भले ही हो और पाठक को उसके द्वारा एक बौद्धिक गुत्थी अथवा समस्या सुलझाने पर थोड़ा-सा बौद्धिक सुख भले ही मिले पर उससे सच्चे काव्यानन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। अतएव केवल कुतूहल जनक चमत्कारी तत्त्व को काव्य के लिए आवश्यक तत्त्व नहीं माना जा सकता। इसी कारण जो कूट कविताएँ अद्भुत शब्द-योजना के चमत्कार से केवल कुतूहल उत्पन्न करती हैं उनकी गणना वे रसवादी आचार्य उत्तम काव्य के अन्तर्गत नहीं करते। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कूट रचनाएँ सर्वथा रस और ध्वनि से रहित होती हैं अत हेय हैं। आगे के उदाहरणों से विदित होगा कि सूरदास की कुछ कूट रचनाओं में गूढार्थता का आश्रय रस की—विशेषकर वियोगशृंगार की चरमावस्था का प्रदर्शन करने के लिए लिया गया है अत वे कूट रचनाएँ उत्तम काव्य के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कूट रचनाओं से किसी विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि भी होती है जिसका विवेचन आगे किया गया है।

कूटकाव्य के प्रयोजन

कवियों को कूट जैसी क्लिष्ट और गूढार्थ रचनाओं में प्रवृत्त कराने वाले मुख्य प्रयोजन ये हैं —

(१) कुतूहल अथवा विस्मय उत्पन्न करना।

(२) काव्यकला में कौशल और विदग्धता का प्रदर्शन।

(३) रहस्यात्मक अथवा दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना।

(४) दूसरों से कुछ बातें गुप्त रखने की इच्छा।

(५) धार्मिक विचारों और क्रियाओं की गोपनीयता की रक्षा।

(१) कुतूहल अथवा विस्मय उत्पन्न करना

यह सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि कविता कुतूहल उत्पन्न करती है। कुतूहल चमत्कारी शब्दों से उत्पन्न रुचिर भाव में निहित होता है और उसकी अभिव्यक्ति लोकोत्तर आनन्द की जनयित्री होती है। इसी कारण कवियों में अपनी काव्य-रचना को कला से समन्वित करने की प्रवृत्ति होती है। प्रायः इस प्रवृत्ति के कारण चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अर्थ-गोपन को ही साधन बनाया जाता है। लेखक की दृष्टि से चमत्कार की सृष्टि पाठक के मन में (१) कुतूहल उत्पन्न करती है और (२) भाषा में विदग्धता और कौशल तथा काव्य में कलात्मकता का प्रदर्शन करती है। यही चमत्कार पाठक की दृष्टि से केवल विनोद और उसके मन को अन्य दिशा में ले जाने का साधन होता है। कूटकाव्य का चमत्कार शब्दों के इन्द्रजाल पर आश्रित होता है और बौद्धिक व्यायाम की उपज होता है। वह पाठक के मन में कुतूहल भी जाग्रत करता है। महाकवियों ने भी कूट को बौद्धिक व्यायाम की चमत्कारपूर्ण क्रीडा मानकर उसका अपने काव्य में विनियोग किया है। वास्तव में वे कूट को काव्य रचना का एक प्रमुख प्रयोजन तक मानने लगे थे। इसका प्रमाण स्वयं वेदव्यास की उक्ति है 'ग्रन्थग्रन्थि तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात्'[1] (कुतूहलवश मुनि ने कुछ गूढ उक्तियों का कथन किया)। अग्निपुराण का 'कुतूहलाध्यायी' शब्द भी इस बात का सूचक है कि कविता की काव्य-प्रेरणा कुतूहलजनक अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में ही क्रीडा करती है। लोकगीतों में भी 'पहेली' और 'मुकरी' जैसी रचनाएँ चमत्कार और कुतूहल के लिए ही की जाती रही हैं और इसी प्रवृत्ति का विकास सम्भवतः आगे चलकर लम्बे काव्यों में कूटात्मक रचनाओं में परिणत हुआ। चाहे श्रव्य-काव्य हो चाहे दृश्य-काव्य मानव के मन पर उसका आनन्ददायक प्रभाव तभी होगा जब उसमें वाग्वैदग्ध्य अथवा वाणी की कलात्मकता हो। इसी उद्देश्य से विद्यापति और सूरदास के अनेक कूटपदों की रचना हुई थी।

(२) काव्यकला-कौशल और विदग्धता का प्रदर्शन

वाग्विदग्धता और काव्य-कौशल दिखाने की कामना दूसरा कारण है जो कवियों को क्लिष्ट काव्य की ओर प्रेरित करता है। एक युग था जब कविता

---

[1] म भा १।१-८

इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि राजसभाओं में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को आशुकवित्व और भाषा पर अधिकार के प्रदर्शन में पराजित करने वाले कवि हुआ करते थे। आशुकवित्व में निपुण कवि लोग राजसभा को चकित कर यश के भाजन होते थे। रुद्रट के अनुसार 'मात्राच्युतक' और 'बिन्दुमती' आदि का विनोद और क्रीड़ा की दृष्टि से विशेष महत्त्व था।[1] दण्डी ने भी 'प्रहेलिकाओं' को गोष्ठियों में विनोद का साधन माना है।[2] उसका मत है कि बिना प्रतिभा और अभ्यास के कविता में निपुणता नहीं प्राप्त की जा सकती। यशःकामी पुरुष को काव्यशास्त्र का अध्ययन और उसका श्रमपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। यदि कवि में प्रतिभा का अभाव हो तो भी वह श्रुत और यत्न की सहायता से विद्वत्समाज में यशोभागी बन सकता है।[3] उस युग के कवि को साहित्यिक प्रतियोगिताओं में भाग लेना पड़ता था और समालोचक आचार्यों की आलोचना रूपी अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता था। इसीलिए प्राचीन रीतिग्रन्थों में शब्द-वैचित्र्य को इतना महत्त्व दिया गया है।

नागरिक लोग भी इस कोटि की काव्य-रचनाओं में आनन्द लेते थे। बाण ने कादम्बरी में एक राजसभा का वर्णन किया है जिसमें सभासद् लोग विविध मनोविनोदों में मग्न रहते थे जिनमें अक्षरच्युतक बिन्दुमती मात्राच्युतक गूढ़चतुर्थपाद और प्रहेलिका आदि काव्यकला की क्रीड़ाएँ भी सम्मिलित थीं।[4] इससे यह प्रमाणित होता है कि काव्यकला में लोगों की रुचि थी। ऐसी सामा-

---

राजा कविः कविसमाजं विदधीत। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत् ... तत्र यथासुख-मासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत् भावयेत् परीक्षेत च। तत्र ... प्रवर्तयेत्। का मी पृ ५४-५५।

१ मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥ का० लं ५-२५

२ क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥ का० द० ३-९७

३ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥ का० द० १, १०४-५

४ अक्षरच्युतकमात्राच्युतकबिन्दुमतीगूढचतुर्थपादप्रहेलिका...
...
...
पूर्व भाग — का० पृ ७

जिक परिस्थिति और उच्चकोटि के काव्याभ्यास के फलस्वरूप मध्यकाल में कूट चित्र प्रहेलिकादि विविध कोटि के विपुल साहित्य की रचना हुई। प्राय सभी काव्य-ग्रन्थों में ऐसी रचनाएँ संगृहीत मिलेंगी। यही नहीं माघ भारवि श्रीहर्ष आदि महारथी कवियों की रचनाएँ भी दुर्बोधता से मुक्त नहीं हैं। भावोद्रेक और रसावेश के अतिरेक की अवस्था में कवि की वाणी स्वत उद्दीप्त हो जाती है। उसे अलंकारों से भूषित करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। उस समय की काव्य-रचना अयत्नज होती है। केवल भावुकता के अभाव में ही प्रहेलिकाओं पुरोक्तियों और अलंकारों आदि का अवलम्ब ग्रहण करना पड़ता है। वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लिखित चतुःषष्टि कलाओं में कुछ काव्य-रचना के भेद भी सम्मिलित हैं यथा प्रहेलिका प्रतिमाला दुर्वाचकयोग काव्यसमस्यापूरण अक्षरमुष्टिका कथन म्लेच्छित विकल्प भाषा-मानसी काव्यक्रिया और क्रियाविकल्प। इन सब कलाओं को मद्यपान, उद्यानक्रीडा आदि के समान मनोविनोद का साधन माना गया है। अत यह स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि से काव्य का परम उद्देश्य केवल जीवन का अनुकरण नहीं है मनोविनोद और ध्यानप्रसाधन भी है। इसी कारण भारतीय कवि भावविदग्धता और कलात्मकता के साथ भावाभिव्यंजना करने का प्रयत्न करते हैं और इस कामना की सिद्धि के हेतु 'कूट' जैसी क्लिष्ट और 'चारु' रचनाओं का भी आश्रय लेते हैं। कूटकाव्य को विस्मयजनक कुतूहल-उत्पादन और आत्माभिव्यंजन की कामना से प्रेरित कला माना जाता था।

(१) रहस्यात्मक और आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना

'कूट' श्रेणी की रचनाओं का प्रयोग प्राय आध्यात्मिक और रहस्यात्मक अभिव्यंजना के लिए भी किया जाता है। रहस्यवाद विचारों अथवा भावों का वह स्वरूप है जिसका समुचित निर्वचन स्वभावत ही दुष्कर है। रहस्यवाद का अर्थ है मानव मन द्वारा परमात्म-तत्त्व का ग्रहण और पूर्ण परमात्मा के साथ तादात्म्य का आनन्द। इसके दो पक्ष हैं दार्शनिक और धार्मिक। धार्मिक पक्ष व्यावहारिक है और दार्शनिक पक्ष सैद्धान्तिक और चिन्तनात्मक। चिन्तनात्मक रहस्यवाद में रहस्यदर्शी के मन में सर्वोच्च चिन्तन होता है परम ब्रह्म का जो सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् और सर्वपूर्ण है। इसीलिए रहस्यदर्शियों की चिन्तनात्मक उक्तियाँ प्राय ही थोड़ी-बहुत चमत्कारी होती हैं। व्यावहारिक में रहस्यवाद परमात्मा में आत्मा का साक्षात् मिलन भी सम्भव बना देता है। यह मिलन ऐतिहासिक उद्घाटन वेदवाक्य स्मृति आदि किसी बाह्य साधन के

यही आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से होता है। इस अवस्था में परमात्मा बाह्य वस्तु न रहकर अनुभूतिमात्र रह जाता है। रहस्यवाद व्यष्टिपरक होते हुए भी परमात्मा (समष्टि) से मिलन की आकांक्षा का फल होता है। परमात्म शक्ति दृष्टिगम्य न होने के कारण जगत् के शेष दृष्ट पदार्थों के समान उसका सामान्य रीति से दर्शन अथवा अनुभव नहीं हो सकता। अतएव सन्तों ने जब कभी अपने रहस्यानुभवों का स्पष्ट भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया है तो वे विफल रहे हैं। इसलिए सन्तों और कवियों ने रहस्यानुभवों को गूँगे का सा आस्वाद माना है। कबीर ने कहा है —

अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय।
गूँगे केरी सरकरा बैठा और मुसकाय॥[1]

ईश्वर के साथ प्रेम की कहानी वर्णनातीत है। इसका कारण यह है कि रहस्यद्रष्टा की अनुभूतियों का प्रकाशन करने के लिए भाषा बहुत ही अपर्याप्त साधन है और दूसरों के लिए उसमें व्यक्त अर्थ का पूर्णरूप से बोधगम्य होना कठिन है। परन्तु अपनी रहस्यानुभूति के आनन्द को अपने ही भीतर छिपाये रखने में असमर्थ होने के कारण रहस्यद्रष्टा की वाणी उस सत्य को जो केवल स्वानुभूत है व्यक्त करने के लिए संगीत के रूप में फूट पड़ती है और तब वह परम सत्य के साथ अपनी तादात्म्य को व्यक्त करने वाली शब्दावलि का आविष्कार करने में पूरी शक्ति लगा देता है। इस प्रकार रहस्यानुभूति वर्णनातीत होने के कारण अनुभावक को प्रतीकों और रूपकों का आश्रय लेना पड़ता है। मूक पुरुष के समान रहस्यदर्शी भी केवल आनन्द का अनुभव करता है और उसकी अभिव्यक्ति केवल सांकेतिक भाषा में व्यक्त कर सकता है। ऐसी ही भाषा का प्रयोग वैदिक मन्त्रद्रष्टाओं उपनिषदों के ज्ञानसम्पन्न मनीषियों सिद्धों नाथों और कबीर दादू आदि संत कवियों ने किया है। अध्यात्म जगत् में विचरण करने वाले सभी कवियों को ऐसी ही सांकेतिक और रूपकात्मक भाषा का अवलम्ब ग्रहण करना पड़ता है। वर्तमान युग के कवियों—रवीन्द्र और यीट्स—ने भी ऐसी ही भाषा में व्यंजना की है।

प्रतीकवाद मानवी अनुभूतियों की आवश्यकता की पूर्ति करता है। मानव जीवन रूपी वन के सम्यक् परिचालन के लिए प्रतीकों का उपयोग आवश्यक है। धार्मिक व्यापारों का अनुष्ठान पूर्ण प्रतीकवाद है। भाषा भी स्वयं एक प्रतीकात्मक साधन है। व्हाइट हेड के शब्दों में "जीवन में प्रतीकात्मक तत्त्व

१ कबीर ग्रन्थावली

का कार्य है सुनिश्चितता, व्यवस्था और उत्पादनक्षमता का साथ और साथ ही भावुक को भावनात्मक पूर्णता में अपने को भूल कर देना।[1]

प्रतीकवाद की आवश्यकता सर्वाधिक दार्शनिक और आध्यात्मिक जगत् में पड़ती है जहाँ प्रतीकों का प्रयोग सामान्य जनसमुदाय के लिए नितान्त दुर्बोध और परम सूक्ष्म सत्यों को सरलता एवं भावुकता के साथ व्यक्त करने के लिए किया जाता है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ठीक ही लिखा है "जीवन के गहन तत्वों का अवगाहन करने वाले ज्ञानद्रष्टा महर्षियों द्वारा आत्मदर्शन में अनुभूत सत्यों को जब मधुर सौन्दर्य से परिपूर्ण गहरे रंगों वाले चित्रों के प्रतीक से व्यक्त किया जाता है तो वे सजीव हो उठते हैं। पर इस संकेतमयी भाषा को समझने के लिए कुछ पूर्वाभ्यास की आवश्यकता है। इस अभ्यास का अभाव होने पर संकेतों के वास्तविक अर्थ को समझने में भ्रम हो सकता है और यह भ्रम उस प्रतीक को ही प्रस्तुत वस्तु समझने का कारण बन जाता है और उसके फलस्वरूप अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जैसी कि कुछ [illegible] वैष्णव सम्प्रदायों में हो चुकी हैं। इसीलिए कबीर ने कहा है कि ऐसे पुरुष को संकेतमयी भाषा में उपदेश ही न दो जो उसे समझने में असमर्थ है। साधारण शब्द के बोध के लिए भी अभ्यास की आवश्यकता है। एक सांकेतिक चित्रण का उदाहरण दीजिए जिसमें एक साधारण-सी बात कितने बड़े सत्य की व्यंजना कर रही है —

> चींटी चावल लै चली बिच में मिल गई दाल।
> कह कबीर दोउ ना मिलैं इक लै दूजी डाल॥[2]

(चींटी चावल लेकर चली। मार्ग में उसे दाल भी मिली। पर वह दोनों को एक साथ नहीं पा सकती। यदि उसे एक (दाल) लेनी है तो दूसरे (चावल) को डालना ही पड़ेगा।) निस्संदेह यहाँ एक परम सत्य को बहुत ही सरल रीति से व्यक्त किया गया है। कवि का विवक्षित अर्थ यह है कि भौतिक तत्व और आध्यात्मिक तत्व एक साथ कभी नहीं रह सकते। एक का लोप अवश्यम्भावी है। तभी दूसरा रह सकता है।

रहस्यात्मक और दार्शनिक अनुभूतियों को व्यक्त करने की एक और भी शैली है जिसे विपर्ययोक्ति कह सकते हैं। जैसे '[illegible]' द्वारा

---

[1] सिम्बलिज्म, [illegible]
[illegible] हिन्दी पृ० १०–११
[2] क० ग्रं०

मोभ विहीन मूर्ख' आदि। इस शैली को विपर्यय अथवा उलटबाँसी कहते हैं। सिद्धो नाथो और हिन्दी के निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त कवियों की रचनाओं में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। ये विपर्ययोक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं (१) अनिवार्य—जहाँ ऐसी उक्ति के बिना भावव्यंजना सम्भव न हो और (२) गोपित—जहाँ अध्यात्म के गोपनीय तत्त्वों को अपात्र के हाथों में पड़ने से बचाने का उद्देश्य होता है। *अनिवार्य विपर्यय तो व्यंजनापूर्ण होने के कारण* उत्तमकाव्य के अन्तर्गत होते हैं पर गोपित विपर्यय साभिप्राय अर्थगोपन करते हैं अतः स्वभावतः ही उत्तमकाव्य मे गणना के अधिकारी नहीं हो सकते। कविता तो जीवन के निगूढ़तम रहस्यो का उद्घाटन करती है न कि गोपन। परन्तु गोपन शैली का भी यदि यदाकदा ही प्रयोग किया जाये तो उससे भी श्रोता के मन मे अद्भुत कुतूहल उत्पन्न होता है और जब वह मर्म का उद्घाटन कर लेता है तो उसे विस्मय और हर्ष का अनुपम अनुभव होता है और फलतः उसमे सामान्य अवस्था से अधिक भावकत्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।[1] कबीर के पदा मे दोनों ही प्रकार की उलटबाँसियाँ पाई जाती हैं।

(४) ज्ञान को दूसरों से गोपित रखने की इच्छा :

कभी-कभी कोई व्यक्ति कुछ बातें गुप्त रूप मे किसी विशेष प्रयोजन से दूसरे व्यक्ति से कहना चाहता है तो वह ऐसी अभिव्यंजना शैली का प्रयोग करता है कि केवल श्रोता ही समझ सके अन्य कोई नहीं। उदाहरणार्थ महाभारत के आदि-पर्व में विदुर ने युधिष्ठिर को जब पाण्डवों को वारणावत मे लाक्षागृह मे जीवित जला देने की दुर्योधन की दुरभिसन्धि बताई तो कूटशैली का प्रयोग किया जिससे कि वह रहस्य अन्य किसी को विदित न हो सके। विदुर की उक्ति इस प्रकार है

> अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम्।
> यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥[2]

(यह आकार अग्निग्राही पदार्थों का बना है जो बाहर से दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः उसे रात्रि मे त्याग दो। जो व्यक्ति अग्निपात को सम्यक्तया जानता है उसे शत्रु नष्ट नहीं कर सकते)। यहाँ 'अलोह निशितं शस्त्र' आदि शब्द अपने प्रत्यक्ष अभिधेय अर्थ के वाचक नहीं हैं अपितु गुप्त अर्थ के सूचक हैं। 'अलोह' का अर्थ है 'अग्निग्राही पदार्थों से परिपूर्ण' 'निशितं' मे 'निशि'

---

१ हि स्व हि यो० पृ ८८
२ म० भा , १४६-

तान्त्रिक परमार्थ सिद्धि के लिए सुरा सुन्दरी मत्स्य और मांस आदि का प्रयोग विहित मानते हैं। वे रहस्यवादी क्रियाओं के विधान में स्त्री का संग आवश्यक मानते हैं। यह मान्यता अन्य सम्प्रदायों से सर्वथा भिन्न है क्योंकि उन सबमें आत्मदमन और इन्द्रियनिग्रह को महत्त्व दिया गया है। राजशेखर की कर्पूर मंजरी में प्रसिद्ध तान्त्रिक भैरवानन्द कहता है 'मन्त्र-तन्त्र आदि में जानूँ। उनके विषय में मैं कुछ नहीं जानता। मेरे गुरुओं ने तो मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिए भी मना किया है।'[1] अपने सिद्धान्त के उच्च स्वरूप का विवेचन करते हुए तन्त्रों का कथन है कि स्त्री-संग में शारीरिक मिलन होना आवश्यक नहीं है। यह तो प्रधान सिद्धान्त को मानकर मानसिक संस्कार के रूप में भी किया जा सकता है।

अनेक भक्ति-सम्प्रदायों[2] के सिद्धान्तों में प्रिय के प्रेम को आदर्श माना गया है। वैष्णव सम्प्रदाय में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैष्णव ईश्वरवाद में उसका प्रवेश राधा और कृष्ण के प्रेमाख्यानों के साथ हुआ। सामान्य धारणा यह है कि राधा अयन (ऐहन अथवा अभिमन्यु) नामक समृद्ध गोप की पत्नी थी और विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण के प्रति आसक्त हो गयी थी। अतएव राधा और कृष्ण के पूजक वैष्णव लोग इस प्रेमी युगल-मूर्ति के चरित्र से व्यक्त होने वाले साहचर्यगत प्रेम की अपेक्षा नहीं कर सकते। परन्तु वे प्राय मानते हैं कि ईश्वर के प्रति प्रेम उतना ही तीव्र होना चाहिए जितना राधा का था जिसने विवाहिता होने पर भी अपने प्रेमी के लिए सर्वस्व त्याग कर दिया। इस प्रकार राधा-कृष्ण का आख्यान वैष्णवों को पूर्ण आत्मोत्सर्ग (प्रपत्ति) की भावना का उपदेश देता है और वैष्णव भक्तों ने राधा-कृष्ण के प्रेमचरित का यही अर्थ समझा है। राधा का परकीया प्रेम भक्त के हृदय में एक भगवत् प्रेम का आदर्श उत्पन्न करता है और उसके मन में उत्पन्न हुई रति एकाग्र होकर अगाध प्रेम का रूप धारण करती है और अनन्त आनंद का कारण बनती है।

इस प्रकार के स्त्री-साहचर्य के विरुद्ध सामान्य जनमत का सामना करने और पवित्र धार्मिक अनुष्ठानों के दुरुपयोग से सम्भाव्य समाज के पतन की आशंका को दूर करने के लिए वैष्णव आचार्य और भक्तगण नाना प्रकार के दार्शनिक तथा अन्य तर्क उपस्थित करते हैं और प्रत्यक्षत अनैतिक प्रतीत

---

१ मन्ता ण तन्त ण किंपि जाणे। झाणं च णो किंपि गुरुप्पसाआ।
मज्जं पिबामो महिलं रमामो। मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा। क० म० १ २२

२. यथा—वाल्लभ, चैतन्य, माध्व सम्प्रदाय, राधावल्लभ आदि संप्रदाय।

होने वाले अपने धार्मिक विश्वासों और आदर्शों की पवित्रता और औचित्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। प्रथम यहाँ तर्क यह दिया जाता है कि राधा कृष्ण का यह युगलरूप सामान्य स्त्री-पुरुष के रतिभाव को उदात्त बनाकर परमपावन भक्तिभाव में परिणत कर देता है। तथापि इस आदर्श का अपरिष्कृत रूप सामान्य जन के भावों को दूषित कर सकता है। अतः गुरु और आचार्य अपने ज्ञान का तत्त्व केवल पात्रों को ही देने के लिए बहुत सावधानी से काम लेते थे। इसीलिए इन विविध सम्प्रदायों के धार्मिक अनुभवों की सुरक्षित निधि प्रायः रहस्यात्मक और गूढ़ भाषा में ही उपलब्ध है।

कूटकाव्य के भेद

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है रीति-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों ने कूट को काव्य का एक स्वतन्त्र पृथक् अलंकार नहीं माना है। इसीलिए कूट के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण अथवा उसके भेद प्रभेदों की विवेचना करने का कभी किसी ने प्रयास ही नहीं किया। किन्तु यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कूट न तो केवल चित्रकाव्य का भेद है और न अलंकार अपितु यह काव्य का एक स्वतन्त्र रूप है जिसमें विशिष्ट प्रकार की शब्दावली अथवा कतिपय अलंकारों की सहायता से विवक्षित अर्थ गूढ़ अथवा अस्फुट रहता है। चित्र काव्य अधम अथवा नीरस होता है किन्तु कूटरचना सदा नीरस ही नहीं होती। सूर के कूटपदों में शृंगार रस के संयोग और विप्रलम्भ दोनों ही रूप प्रचुरता से पाये जाते हैं। अलंकार भी कूटकाव्य में अर्थगोपन के सहायक साधन हैं। अतः जिस कूटरचना में अलंकारों की सहायता ली जाती है वह कूटकाव्य का एक भेदमात्र है। रचना साधन अथवा प्रयोजन की दृष्टि से कूट के अनेक भेद हो सकते हैं। अतः यहाँ प्रथम बार इन भेदों के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है।

सरदार कवि ने साहित्य लहरी की टीका में दो प्रकार के कूटों का उल्लेख किया है—दो मिल द्वादस कूट और बारावर्न कूट। प्रथम के उदाहरण में उन्होंने निम्न पद दिए हैं —

ब्रज में आजु एक कुमारि। (१)
सिस बिन बहुरि बैठिनि आई। (२)

और द्वितीय के उदाहरण में यह पद दिया है —

बालम बिलम बिदेस रहू मौरी ।

किन्तु कूट के इन दोनो भेदो का वास्तविक स्वरूप क्या है और उनमे क्या अन्तर है इसका उन्होने कही स्पष्ट निर्देश नही किया है । अत यह वर्गीकरण हम बुद्धिगम्य नही प्रतीत होता ।

हमारे विचार मे रचना के आधार पर कूट के दो मुख्य भेद किए जा सकते हैं—प्रकृत और कलात्मक । यद्यपि अर्थगोपन के लिए किसी न किसी साधन का प्रयोग तो सभी कूट रचनाओ मे अपेक्षित है तथापि कही-कही उस साधन के लिए कवि को विशेष प्रयत्न नही करना पडता अपितु वह अनायास ही स्फुटित हो जाता है और वर्ण्यवस्तु की अभिव्यक्ति म अनिवार्य होता है । ऐसी कूट रचनाओ को प्रकृत स्वत सिद्ध अथवा अयत्नज कह सकते हैं । आध्यात्मिक और रहस्यात्मक रचनाओ म भावाभिव्यक्ति क लिए जिन प्रतीको की सहायता की जाती है वे प्राय कवि-हृदय म स्वत उद्भूत होते हैं । उनके लिए कवि को विशेष प्रयत्न नही करना पडता । अत ऐसी सभी रचनाओ को प्रकृत अथवा अयत्नज ही कहा जाएगा । विपर्यय और उलटबाँसियो की गणना भी इसी वर्ग मे की जाएगी । साधन की दृष्टि से प्रतीको पर आश्रित होने के कारण इन्हे प्रतीक कूट भी कह सकते हैं । कलात्मक कूटो म अर्थगोपन के लिए रचयिता को यत्नपूर्वक किसी साधन का उपयोग करना पडता है अत उनमे गूढार्थता विविध-प्रयत्न-प्रसूता होने के कारण उन्हे यत्नज भी कह सकते हैं । प्रकृत कूटो से भिन्न सभी प्रकार की कूट रचनाएँ इसी वर्ग म अन्तर्भूत होगी ।

साधन की दृष्टि से इन कलात्मक अथवा यत्नज कूटो के अनेक भेद हो सकते हैं । किन्तु उन्हे दो मुख्य वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—शब्दाश्रित और अलकाराश्रित । शब्दाश्रित अर्थात् केवल शब्द-कूटो म अर्थ की गूढता के लिए किसी प्रकार के शब्द-छल अथवा कौशल का प्रयोग किया जाता है । शब्द-वैचित्र्य के जो अनेक साधन पहले दिये गए हैं उनके आधार पर शब्द-कूट के निम्न भेद किए जा सकते हैं —

१ रूढार्थ कूट—वे कूट जिनमे अनेकार्थवाची शब्दो को उनके एक विशिष्ट रूढ अर्थ मे प्रयुक्त किया गया हो ।

२ अनेकार्थ कूट—जिनमे एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों मे अनेक बार आवृत्त किया गया हो ।

३ मालाकूट—ऐसे कूट जिनम शब्दो की एक लम्बी माला अथवा शृखला द्वारा एक विशेष अर्थ का बोध होता है । इसके पुन दो भेद हो सकते

हैं—समस्त और असमस्त। समस्त नामकूट में शब्द शृंखला एक ही समस्त पद में होती है और असमस्त नामकूट में समास नहीं होता।

४ वर्णयोग कूट—जिनमें शब्दों के कुछ वर्णों के संयोग से नए शब्द का बोध कराया जाय।

५ वर्णलोप कूट—जिसमें किसी शब्द के कुछ वर्णों का लोप करके नये शब्द का बोध कराया जाय।

६ ध्वनिसाम्य कूट—जिसमें किसी शब्द के रूपसाम्य अथवा ध्वनिसाम्य के आधार पर विवक्षित शब्द का बोध होता हो।

७ संख्यार्थ कूट—जिसमें संख्यावाची शब्दों के द्वारा किसी निश्चित संख्या का बोध कराया जाय।

८ आलंकारिक कूट—जहाँ सामान्य समता अथवा वैधर्म्यलक्षणा द्वारा कूटार्थ का बोध हो।

९ प्रसंग कूट—वे कूट जिनमें एक शब्द के साहचर्य से अन्य शब्द का निश्चित अर्थ माना जाय।

१० व्युत्पत्ति कूट—जिसमें कूटार्थ का बोध शब्द की व्युत्पत्ति अथवा तात्पर्य पर आश्रित होता है

११ पर्याय कूट—जहाँ अभिहित शब्द अथवा संकेत द्वारा विवक्षित साभिप्राय शब्द की कल्पना की जाय।

१२ असंयुक्तार्थ कूट—जिसमें शब्दों में असंयुक्त अर्थों से कूटार्थ का बोध हो।

१३ क्लिष्टान्वय कूट—जहाँ अन्वय की क्लिष्टता के कारण अर्थबोध में कठिनाई हो।

१४ साभिप्राय कूट—जहाँ विशिष्ट चेष्टाओं अथवा पदार्थों के उल्लेख से किसी के आन्तरिक भाव अथवा गूढ़ आशय का बोध कराया जाय।

रचनात्मक कूट के उपर्युक्त भेदों के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत में संधि समास और नामधातु की सहायता से भी अनेक कूटों की रचना की गई है जिन्हें क्रमशः सन्धिकूट, समासकूट और नामधातु कूट कह सकते हैं। सन्धिकूट का एक उदाहरण यह है —

पानीयं पातुमिच्छामि त्वत्तः कमललोचने।
यदि दास्यसि नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम्॥

हे कमललोचने[1] मैं तुमसे पानी पीना चाहता हूँ। किन्तु यदि तुम दासी हो

सुमत —१६४ ।

तो नहीं पिऊँगा और दासी नहीं हो तो पी लूँगा)। यहाँ 'दास्यसि' पद में सन्धि द्वारा दासी और असि इन दो पदों का योग है। यह 'दा' धातु के भविष्यत् मध्यम पुरुष के एकवचन का रूप नहीं है। समासकूट का एक उदाहरण देखिये —

अहं च त्वं च राजेन्द्र लोकनाथावुभावपि ।
बहुव्रीहिरहं राजन् षष्ठीतत्पुरुषो भवान् ॥[1]

(हे राजन्, मैं और तुम दोनों ही लोकनाथ हैं किन्तु मैं बहुव्रीहि हूँ और तुम तत्पुरुष हो)। यहाँ लोकनाथ शब्द में बहुव्रीहि और तत्पुरुष दोनों ही समास हो सकते हैं। बहुव्रीहि समास में पद का अर्थ होगा लोक (सांसारिक जन) ही जिसके स्वामी हैं—अर्थात् याचक होने के नाते सभी सांसारिक जन मेरे स्वामी हैं। तत्पुरुष समास में अर्थ होगा 'लोकों के नाथ' अर्थात् प्रजापालक।

एक उदाहरण नामधातु कूट का भी उद्धृत किया जाता है —

कमलति ते कबरीभारः सुमनःसंभारात् प्रियेऽसतिनीलत्वात् ।
भवति च कलापकलनादभिनवरतेऽस्य कथं वा स्यात् ॥

(हे प्रिये! तुम्हारे सुन्दर केशों का यह भार पुष्पों (देवताओं) के संसर्ग से ब्रह्मा के समान आचरण कर रहा है, नीलवर्ण होने से विष्णु के समान है और कलाप (भूषण) धारण करने से शिव के समान आचरण कर रहा है)। यहाँ कमलति असति और भवति तीनों नामधातु क्रियापद हैं जिनका अर्थ क्रमशः यह है: क इव आचरति (ब्रह्मा के समान आचरण करने वाला) अ इव आचरति (विष्णु के समान आचरण करने वाला) और भव इव आचरति (अर्थात् शिव के समान आचरण करने वाला)।

इनके अतिरिक्त चित्रकाव्य के भी कई ऐसे भेद हैं जिनमें शब्द-वैचित्र्य और गूढार्थता दोनों ही होते हैं—यथा अन्तरालाप बहिरालाप प्रहेलिका क्रियागुप्तादि भाषाच्युतकादि प्रश्नोत्तर भाषाचित्र आदि। इन सब का अन्तर्भाव भी कूटकाव्य में हो सकता है। इनके लक्षण और उदाहरण रीति-ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

अलंकाराश्रित अथवा आलंकारिक कूट —जिन कूटों में कूटार्थ अलंकारों पर आश्रित होता है उन्हें आलंकारिक कूट कहते हैं। इनके भी दो भेद हो सकते हैं—शब्दालंकार कूट और अर्थालंकार कूट। शब्दालंकार कूटों में प्रायः अनुप्रास यमक और शब्दश्लेष अलंकारों की सहायता ली जाती है और अर्थालंकारों में वक्रोक्ति, विरोध, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, अन्योक्ति, अपह्नुति, भ्रान्तिमान, रूपकातिशयोक्ति, सूक्ष्म, युक्ति तथा अर्थश्लेष की सहायता ली जाती

---

१. सुभाष —१६६ २२

है। इनमें भी यमक श्लेष और रूपकातिशयोक्ति का कूट-रचना में सर्वाधिक प्रयोग होता है। इन कूटों के उदाहरण यथाप्रसंग आगे प्रस्तुत किए गये हैं।

प्रयोजन की दृष्टि से कूटकाव्य के पुनः दो भेद हो सकते हैं —रहस्यात्मक और चमत्कारात्मक। दार्शनिक और रहस्यवादी तथ्यों का विवेचन करने वाली कूट रचनाएँ रहस्यात्मक कहलाएँगी। सामान्यतः सभी प्रकृत अथवा प्रतीक कूट रहस्यात्मक होते हैं। इनके अतिरिक्त वे सभी प्रकार की रचनाएँ जिनमें काव्यकला कौशल पांडित्य-प्रदर्शन अथवा विस्मय या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए शब्द-वैचित्र्य के नाना साधनों का आश्रय लिया जाता है चमत्कारात्मक कूट कहलाएँगे।

हिन्दी में कूटकाव्य में दो प्रमुख धाराएं मिलती हैं —उलटबाँसी और दृष्टकूट। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है उलटबाँसियों का प्रयोग रहस्यात्मक और आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ है और दृष्टकूटों का प्रयोग विशेषतः साहित्यिक उत्कर्ष अथवा काव्य-कौशल के लिए किया गया है। रहस्यात्मक और आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ संस्कृत में विशेषकर वैदिक साहित्य में प्रचुरता से उपलब्ध हैं पर उलटबाँसियाँ प्रधानतः सिद्धों और नाथपन्थियों के ही आविष्कार हैं और उसी परम्परा में कबीर, दादू आदि सन्त कवियों ने भी इनकी रचना की है। जब विद्यापति और सूर आदि ने संस्कृत की कलात्मक कूट-परम्परा को अपनाया है और उनके कूटपद दृष्टकूट कहलाते हैं। हिन्दी म दृष्टकूटों के रचयिता कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि उन्होंने सर्वाधिक कूटों की रचना की है और उन्होंने कूट के प्रायः सभी प्रमुख भेदों की रचना में अपना काव्य-चातुर्य प्रदर्शित किया है। साहित्यिक उत्कर्ष के अतिरिक्त सूर ने मधुराभक्ति की गोपनीयता और रहस्यात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भी कूटरचना का आश्रय लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि दृष्टकूटों की यह परम्परा कदाचित् सूर के साथ ही समाप्त हो गई थी क्योंकि उनके परवर्ती कवियों की कूट रचनाएँ बहुत ही कम उपलब्ध हैं। अतएव सूर के कूटपद विशेष अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु सूर के कूटपदों का अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व उनसे पूर्ववर्ती संस्कृत और हिन्दी के कूट-साहित्य का संक्षिप्त विवेचन और पर्यालोचन न केवल आवश्यक है अपितु अनिवार्य है क्योंकि उससे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि सूर को कूटशैली की सूक्ष्म रचना करने की प्रेरणा विशेषकर उसी परम्परा से प्राप्त हुई थी। अतः अगले अध्याय में इस परम्परा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय ३

कूटकाव्य की परम्परा

संस्कृत में कूटकाव्य

कूट-शैली की गूढार्थक रचनाएँ भारतवर्ष में बहुत प्राचीन-काल से लोकप्रिय रही हैं। वैदिक और वैदेतर संस्कृत-साहित्य दोनों में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। भारोपीय भाषा-परिवार के प्राचीनतम साहित्यिक स्मारक ऋग्वेद में उच्चकोटि के साहित्य के साथ-साथ अनेक ऐसे भी मन्त्र हैं जो गूढार्थक अथवा प्रहेलिकाओं के रूप में होने के कारण कूटकाव्य के प्राचीनतम उदाहरण माने जा सकते हैं।[1] इनमें गूढ और रहस्यात्मक उक्तियों के कारण ऐसे अनेक मन्त्रों को भाष्यकारों ने बिना भाष्य किये ही छोड़ दिया है, कुछ का ठीक अर्थ न समझने के कारण अशुद्ध भाष्य कर दिया है और कुछ ऐसे हैं जिनका अर्थ आज भी अत्यधिक संदिग्ध है।[2]

इन गूढार्थक और प्रहेलिका मन्त्रों की भाषा अत्यन्त जटिल और दुर्बोध्य है। सम्भवतः आध्यात्मिक और रहस्यात्मक विचारों की अभिव्यंजना के लिए ही इस

---

१ विंटरनित्ज़ ने इन्हें रिडिल हिम्स कहा है। हि. इ. लि. पृ. ११७

२ यास्क के निरुक्त और सायण के 'ऋग्वेद भाष्य की भूमिका' से यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का निश्चित अर्थ उनके समय में भी ज्ञात न था और अनेक विद्वान् उनके कल्पित अर्थ लगाने का यत्न करते थे। उनमें से कुछ विद्वान् तो यहाँ तक स्पष्ट घोषणा कर देते थे कि वेद पूर्णतः निरर्थक हैं क्योंकि उनके मन्त्र अर्थहीन अस्पष्ट और परस्पर-विरोधी भावों वाले हैं (निरुक्त १-५)। परन्तु यास्क इनके मत को ठीक नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि अन्धा स्थाणु को न देख सके तो स्थाणु का क्या दोष है। मन्त्र अर्थहीन नहीं हैं परन्तु उनके अर्थ को समझने के लिए यथोचित बुद्धि, कुशलता और श्रम अपेक्षित है। (वही)। कठिन शब्दों की व्याख्या में स्वयं यास्क ने भी व्युत्पत्ति का आश्रय लिया है और अनेक शब्दों के एक से अधिक अर्थ लिखे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यास्क के समय में भी अनेक मन्त्रों का अर्थ पूर्णतः स्थिर नहीं किया जा सका था। ऐसा ही विवेचन सायण के 'ऋग्वेद भाष्य की भूमिका' में भी है जहाँ वेद-विरोधी नास्तिकों के इन मन्तव्यों पर विचार किया गया है जिनके अनुसार वेदमन्त्र या तो अर्थहीन हैं या संदिग्ध अर्थ वाले अथवा परस्पर-विरोधी अर्थों वाले। सायण ने इन शंकाओं का उत्तर देकर उन्हें निराधार सिद्ध कर दिया है। उनके मत में मन्त्र निश्चय ही अर्थपूर्ण हैं जिनकी स्पष्ट व्याख्या यास्क तथा अन्य भाष्यकारों ने की है (उपोद्घात पृ. ४)।

दस्य ऐसी देवयोनियाँ हैं जो मनुष्य के शुभाशुभ और इष्टानिष्ट की जनक हैं। अतएव उनके मन में उन देवों के प्रति कुतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न होती थी और वे अपनी इन भावनाओं को साधारण शब्दों में व्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण प्रतीकों तथा रूपकों की सहायता से वर्णन करते थे। यथा —

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमान ॥

(एकपाद तो है द्विपाद से भी तीव्रगामी। द्विपाद भी है त्रिपाद से अग्रगामी। द्विपाद की पुकार पर है चतुष्पाद आता। पाँच का समूह जहाँ देखता वहीं ही है।)

सम्भवत: 'एकपाद' का यहाँ अर्थ है वायु का देवता एक पैर वाला मेघ' अथवा दूसरों के मत में 'एक चक्र वाला सूर्य'। त्रिपाद का अर्थ है 'यष्टिकाधारी वृद्ध पुरुष' और 'चतुष्पाद' का अर्थ है 'कुत्ता'।

(५) विस्तृत अर्थ को अत्यन्त संक्षेप में व्यक्त कर देना वैदिक ऋषियों की वाणी का विशिष्ट गुण था। इसी से मन्त्रों की भाषा को समाधि भाषा कहा गया है। इसके अतिरिक्त इस देश के पुरातन लोगों की यह भी प्रवृत्ति रही है कि ज्ञान और उपासना के रहस्यों को यथासम्भव गुप्त रखा जाए, जिससे वे सरल और सस्ते न बन जाएँ। फलत: इन दोनों ही कारणों से ब्राह्मणों और उपनिषदों में ज्ञान की अपार निधि रहस्यात्मक एवं गूढार्थ भाषा में प्रच्छन्न है।

(६) अन्त में इस बात के भी प्रचुर प्रमाण हैं कि वैदिक ऋषि काव्य-कला के प्रेमी और कुशल पारखी थे। ऋग्वेद में विशेषत: वाग्-देवता के सूक्त में कुछ ऐसी उक्तियाँ हैं जिनसे ऋषियों की काव्य-विषयक धारणाओं का स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद की ऋचाओं में समृद्ध कविता यथेष्ट दृष्टान्त उच्च कल्पना और उदात्त विचारधारा को देखकर यह मानना ही पड़ेगा कि वैदिक-युग के विश्वमायक कवियों की काव्यानुभूति पर्याप्त समृद्ध थी। वाग्-देवता सम्बन्धी सूक्त के मन्त्रों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने जीवन में वाणी की अद्भुत शक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया है क्योंकि वाणी में ही सम्पूर्ण आध्यात्मिक और भौतिक इच्छाएँ निहित रहती हैं।[२] एक मन्त्र

---

१ ऋग्वेद १ ११७-८

२. अहं राष्ट्री संगमनी वसूना चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥
मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति य प्राणिति य ई शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि। ऋक्—१ १२५ ३,४

में तो सामान्य भाषा और काव्य की भाषा के अन्तर को बहुत स्पष्ट रूप में बताया गया है और वैदिक विश्वगायक के प्रति वास्तविक श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी है जिसकी वाणी में सौन्दर्य भरा पड़ा है। यह असम्भव नहीं है कि काव्य चमत्कार का यह प्रेम वैदिक ऋषियों को प्रहेलिका और कूटार्थक उक्तियों में अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए प्रेरणादायक बना हो। ऐसी काव्यमयी गूढोक्तियों और प्रहेलिकाओं के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।

निम्न मन्त्र में अग्नि का वर्णन किया गया है

यद् वातजूतो वना व्यस्थादग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्याः ।[1]

(वायु के द्वारा विभूषित अग्नि वनों में फैल गई है और पृथ्वी की रोमावलि काट रही है)। यहाँ पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले तृण औषधि आदि को 'रोम' कहा गया है। एक अन्य उदाहरण देखिये —

अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून् स वना न्यृञ्जते ।[2]

(अग्नि अपनी तीक्ष्ण दंष्ट्राओं (ज्वालाओं) से वनों को निगल रही है। वह उन्हें चबा रही है और उसी प्रकार उनका उन्मूलन कर रही है जिस प्रकार कोई योद्धा अपने शत्रु का करता है)। यहाँ 'जम्भै' शब्द का अर्थ है 'अग्नि की ज्वालायें' जो दन्त के समान हैं।

रूपकातिशयोक्ति की सहायता से कूटरचना का एक और सुन्दर उदाहरण यह है —

दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम् ।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परिषीं नयन्ति ॥[3]

(दस चपल कुमारियों ने त्वष्टा के इस बालक (अग्नि) का भरण-पोषण किया है)। यहाँ समिधाओं द्वारा अग्नि के प्रज्वलित करने का वर्णन है। दस कुमारियों का अर्थ यहाँ दस अँगुलियाँ हैं जिनका प्रयोग समिधाओं के रगड़ने में करना पड़ता था। और क्योंकि समिधाओं को रगड़कर अग्नि उत्पन्न करने में बहुत बल की आवश्यकता होती थी अतः अग्नि को ऋग्वेद में सर्वत्र सहस्य (बल) की सन्तति कहा गया है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ ऋग्० १० ७१-२

१ ऋ० १ ६५-८

२ ऋ० १ १४३-५

३ ऋ० १ ९५-२

ऋग्वेद की सर्वोत्तम कवित्वमयी रूपकात्मक सूक्तियों में से एक यह है जिसकी व्याख्या विभिन्न भाष्यकारों ने विभिन्न प्रकार से की है

चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश ॥[1]

(इस वृषभ के चार शृंग तीन पाद दो सिर और सात हाथ हैं। तीन ओर से बँधा हुआ यह गरज रहा है। यह महान देवता मर्त्यों में प्रविष्ट हो गया है)। प्रत्यक्षत तो यह निरर्थक और असंगत कथन प्रतीत होता है पर ध्यान-पूर्वक विचार करने पर इसमें एक निश्चित अर्थ की प्रतीति होने लगती है। सायण ने इस मन्त्र के अनेक अर्थ किये हैं। सर्वप्रथम उसने इसे यज्ञाग्नि का वर्णन बताया है। इस अर्थ में चार सींग चारों वेद (ऋक् यजुष् सामन् और अथर्व) हैं अथवा चार पुरोहित हैं (होता उद्गाता ऋत्विक और अध्वर्यु)। तीन पैर तीन सवन हैं (प्रात साय और मध्याह्न) दो सिर हैं ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य और सात हाथ हैं सात वैदिक छन्द । यह देवता यज्ञाग्नि है जो त्रिधाबद्ध है—मन्त्र ब्राह्मण और कल्प द्वारा। इसे वृषभ कहा गया है क्योंकि यह यज्ञ के फल की वर्षा करता है और सामन् और यजुष् के गायन से उत्पन्न ध्वनि में गर्जन करता है। दूसरे अर्थ के अनुसार इस मन्त्र का सम्बन्ध सूर्य से है जिसके चार सींग चार दिशाएँ हैं। तीन पैर तीन वेद हैं (ऋक् यजुष् और सामन्) दो सिर दिन और रात्रि हैं और सात हाथ सात किरणें हैं। यह तीन स्थानों पर बँधा है पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश में। यह वृष्टि करता है अत इसे वृषभ कहा गया है।[3] पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इस मन्त्र की व्याख्या शब्द ब्रह्म के सम्बन्ध में की है।[4] उसके अनुसार चार प्रकार के शब्द—नाम आख्यात उपसर्ग और निपात—चार सींग हैं तीन काल—भूत भविष्य और वर्तमान—ही तीन पैर हैं शब्द और अर्थ दो सिर हैं और सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। यह शब्द-ब्रह्म रूपी वृषभ तीन स्थानों पर बँधा है —उर कण्ठ और सिर में।

ऋग्वेद के सूक्त १ १६४ में अनेक गूढ़ार्थक मन्त्र हैं जिनके विषय में विंटरनित्ज ने कहा है —दुर्भाग्यवश उनमें से अधिकांश को समझने में हम असमर्थ हैं।[5] उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं —

---

१ ऋ ४ ५८-३

त्रिष्टुप् जगती पंक्तिः गायत्री, पंक्ति अनुष्टुप बृहती।

३ सायण ४ ५८-३

४ महाभाष्य १ १ १

५ सूक्त १ १६४ के गूढ़ार्थ मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या मार्टिनराम ने अपने वैदिक

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥[1]

(सात मिलकर एक चक्र वाले रथ को हाँक रहे हैं। सात नामों वाला एक ही घोड़ा उसे खींच रहा है। इस अमर्त्य की तीन नाभियाँ हैं। यह चक्र निरन्तर चल रहा है जिस पर सभी भुवन स्थित हैं)। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि यज्ञ के सात पुरोहित सूर्य के रथ को (मन्त्र द्वारा) हाँक रहे हैं। उस रथ में सप्त घोड़े अथवा सात नामों (रश्मि) वाला एक ही घोड़ा जुता हुआ है। इस अमर सूर्य-चक्र में तीन ऋतुएँ (ग्रीष्म वर्षा और शीत) ही उसकी तीन नाभियाँ हैं और उसी में मानव का सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाता है। इस मन्त्र के और भी कई अर्थ हो सकते हैं जिन्हें विस्तारभय से यहाँ नहीं दिया गया है।

विरोधाभास पर आश्रित कूट का एक उदाहरण यह है —

कृष्णाया पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो अजायत।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहित ॥[2]

(काली रात्रि ने एक श्वेत (सुन्दर) वत्स को उत्पन्न किया है। वह आकाश में ऊँचा चढ़ गया है)। यहाँ कृष्णा का पुत्र अर्जुन (श्वेत) है यही विरोधाभास है। स्पष्ट है कि यह रात्रि के अन्त होने पर प्रभात के उदय और सूर्य के आकाश में चढ़ने का वर्णन है।

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेम व ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥

(जिसकी तीन माताएँ और तीन पिता हैं ऐसा 'वह' सर्वव्यापी एक ऊर्ध्वस्थ ही विराजमान है। वे उसे थका नहीं सकते। इस आकाश की पीठ पर वे वाक् (वाणी) से मन्त्रणा करते हैं जो सर्वविद् है किन्तु सर्वव्यापी नहीं)। यहाँ सायण के अनुसार यह 'एक' अग्नि अथवा संवत्सर है जिसकी तीन माताएँ हैं —

'रेडोन वाचिक' और 'रेडोन दूसरो' नामक ग्रन्थों में भी है। (S. Bay A. 1876) भाषण में था (अपने ग्रन्थ ag Ph 1 के पृष्ठ 10-6119 पर) इसकी व्याख्या की है। वारटेल ने Z D M G 45 1892, 7396 में है सिद्धि ने Z D M G 48 1894 3536 में एन ल्यूमे ने Z D M G 64, 1910-4856 में और वी हेनरी ने Revue Critique 1906 पृ 403 पर इसकी व्याख्या की है।

१ ऋ. १ १६४ २२
२ ऋ. १ १६४ १
३ ऋ. १ १६

पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश तथा जिसके तीन पिता हैं —अग्नि वायु और सूर्य।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानं मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥[२]

(मैंने एक गोप देखा जो कभी नीचे नहीं गिरता। वह अपने मार्ग पर ऊपर और नीचे निरन्तर चलता रहता है। उसने उनको आवरण बना रखा है जो उसके साथ दौड़ते रहते हैं और जो वृत्त बनाकर तीनों भुवनों में फैल जाते हैं)। स्पष्ट ही यह सूर्य और उसकी आवागमन का वर्णन है।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥[३]

(आकाश मेरा पिता और जनयिता है। यही मेरा बन्धु नाभि है। मेरी माता यह महती पृथ्वी है। इन दोनों के बीच में सोमपात्र के आकार की योनि फैली हुई है। उसी योनि में पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया)। यहाँ सायण ने 'नाभि' का अर्थ किया है "सोमरस"[४] जिससे अन्न की उत्पत्ति होती है। अन्तिम पद 'अत्रापिता दुहितुर्गर्भमाधात्' का अर्थ है 'सूर्य ने अपनी किरणों से अथवा इन्द्र ने वृष्टि करके पृथ्वी को उर्वर कर दिया।[५] यहाँ 'पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया' यह एक विपर्ययोक्ति है और इसी में सिद्धो, नाथपन्थियों और निर्गुणपन्थी हिन्दी कवियों की उलटबाँसियों का बीज विद्यमान है। विंटरनित्ज़ के अनुसार ऐसे प्रहेलिका प्रश्न और प्रहेलिका मिश्र कथनकारी युग के मनोविनोद थे और कभी-कभी तो ये यज्ञविधानों में भाग भी होते थे।[६]

अग्निविषयक आख्यान का मूल भी वस्तुतः रूपकात्मक अथवा कूटात्मक भाषा में ही है।

तद्वामृतं रोदसी प्रब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताग्निरङ्ग विचेताः स प्रचेताः ॥[७]

---

१ आकाश धरा वर्ष
२ ऋ० १ १६४ ३१
३ ऋ० १ १६४ ३३
४ नाभिरत्र सोमो स्तोत्र निष्पत्तिर्भवति ... [illegible] ... —सायण भाष्य पृ० १८८।
५ वही पृ० १८८
६ हि० इं० लि० पृ० ९९
७ ऋ० १ ७९।४

अग्नि उत्पन्न होते ही अपनी इन्हीं माताओं का भक्षण कर लेता है)।
इस अग्नि का वर्णन है। अग्नि के तीन जन्म अथवा जन्मस्थान माने जाते
—आकाश में सूर्य के तेज के रूप में, जल में विद्युत् के रूप में और पृथ्वी
पर दो पार्थिव समिधाओं के संघर्ष से मानव द्वारा उत्पन्न अग्नि के रूप में।
क्योंकि पार्थिव अग्नि की उत्पत्ति दो समिधाओं के मंथन से होती है इसीलिए कहा
गया है कि उसकी दो माताएँ हैं और वह उत्पन्न होते ही उन दोनों का भक्षण
कर लेती है अर्थात् उन दोनों समिधाओं को जला डालती है।

अथर्ववेद के पुरुषसूक्त और स्कम्भ-स्तम्भ सूक्त में भी वृक्षशैली के सूत्रात्मक
संकेत हैं।[1] वृक्षसम्बन्ध की आध्यात्मिक उक्ति का एक उदाहरण यह है —

अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी संविदाना इति ॥[2]

(चमस का मुख नीचे की ओर है और पेंदा ऊपर को। उसके किनारे पर सात
ऋषि हैं और आठवीं वाग्देवता है)। यहाँ सिर को चमस की उपमा दी
गयी है। सिर के विभिन्न भागों में सप्तप्राणवायु का निवास है जो स्फूर्तिकारी
है। उसी के निकट इन्द्रियाँ हैं जिनमें मन की वाणी वाली भी है।

निम्न मन्त्र बृहदारण्यक और कठ दोनों उपनिषदों में है जिसमें विश्व और
परमब्रह्म का रूपकात्मक भाषा में वर्णन किया गया है —

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥[3]

(यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की
हैं। वही शुक्र है, वही ब्रह्म है और वही अमृत (अमरत्व) का उपभोग करता
है)[4]। एक अन्य उदाहरण मुण्डकोपनिषद् का है जिसमें संसाररूपी वृक्ष का
वर्णन किया गया है —

---

१. अ. वे. १ ... ८, ९ ११

२. अ. वे. ... ९

३. कठ. ... २, ३ ... १

४. इसी बात को व्यक्त करने वाला श्रीमद्भगवद्गीता का यह श्लोक भी है —

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

गी. १५.१

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥[1]

(दो पक्षी (जीव और ईश्वर) जो परस्पर (नियम्य-नियामक भाव से) सहगामी हैं और सखा (तुल्य चैतन्य स्वभाव होने से मित्र) हैं एक ही वृक्ष (देह अथवा संसार) पर बैठे हैं। उनमें से एक (जीव) स्वादिष्ट पिप्पल का भक्षण करता है (कर्मफल को भोगता है) और दूसरा (ईश्वर) कुछ भक्षण न करते हुए (कर्मफलों को न भोगते हुए) प्रकाशमान रहता है।[2]

एक उदाहरण ईशोपनिषद् का भी देखिए जिसमें कहा गया है कि ज्ञान की प्राप्ति विषयों के त्याग से ही हो सकती है।

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
> तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥[3]

(सत्य का मुख हिरण्मय-पात्र से ढका हुआ है। हे पूषा तुम उसे उघाड़ दो ताकि सत्य दिखाई पड़ सके)। यह एक निश्चित धारणा है कि सांसारिक भोगों में रत व्यक्ति से आध्यात्मिक ज्ञान छिपा रहता है और उसका उद्घाटन केवल सांसारिक सुखोपभोग के त्याग से ही सम्भव है।

महाभारत के कूट श्लोक

रसात्मक अर्थात् काव्य-चमत्कारपूर्ण कूटों की परम्परा परवर्ती संस्कृत साहित्य में अधिक लोकप्रिय रही है। उसके प्राचीनतम नमूने महाभारत के उत्तरी संस्करण की प्रतियों में उपलब्ध हैं। सौति का कथन है कि ये ग्रन्थग्रन्थियाँ वे गूढ़ श्लोक हैं जिन्हें महर्षि व्यास ने विशेष प्रयोजन से रचा था[4]। आदि पर्व में कहा गया है कि ब्रह्मा के कहने पर महर्षि व्यास ने गणेशजी से प्रार्थना की कि वे महाभारत लिखने में उनके सहायक हों। गणेशजी ने उनका लिपिक बनना स्वीकार कर लिया पर एक शर्त रखी कि ग्रन्थ समाप्त होने तक उनकी कलम बीच में कभी रुकने न पाए। व्यास ने यह शर्त मान ली पर स्वयं भी एक शर्त रखी कि गणेशजी सम्यक्तया अर्थ समझे बिना कुछ भी न लिखें। गणेशजी

---

१ मुण्डक ३ १-१ ।

२ उपनिषद् का यह मन्त्र ऋग्वेद के निम्न मन्त्र से लिया गया प्रतीत होता है —
[illegible] ।
[illegible] ॥ ऋग् १ [illegible]

३ ईश १५

४ ग्रन्थग्रन्थिं तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात् । म. भा. १ १-८०

युक्त श्लोकों में 'कूट' के सभी अंशों का समावेश हो गया है और उन्हें देखकर परवर्ती लेखकों को इस प्रकार की कलापूर्ण साहित्यिक रचनाओं में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिली है। 'यमक' और 'श्लेष' पर आश्रित 'कूट' का एक सुन्दर उदाहरण यह है —

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञं प्रलापज्ञो वचोऽब्रवीत् ॥[१]

(ग्राम्य लोगों की स्थानीय बोलियों को अच्छी तरह समझने वाले उस प्राज्ञ ने ये शब्द उस व्यक्ति से कहे जो स्वयं भी उन बोलियों को जानता था। उन बोलियों को न जानने वाले उन मर्मों को न समझ सके केवल उनके जानने वाले ही समझ सके)। यहाँ 'प्राज्ञ' शब्द के तीन अर्थ हैं 'बुद्धिमान' ग्राम्य (अज्ञ) और 'समझने में कठिन'। इसी प्रकार 'प्रलापज्ञ' के भी दो अर्थ हैं 'वह व्यक्ति जो ग्राम्य लोगों की बोलियों का जानने वाला है' और 'केवल असंस्कृत लोगों की तरह प्रलाप जानने वाला है'। यह श्लोक आदि पर्व का है। इसमें पाण्डवों को वारणावत के निमित्त लाक्षागृह में भस्म कर देने का दुर्योधन का षड्यन्त्र विदुर ने गूढ़ भाषा में युधिष्ठिर को बता दिया था। इसकी सान्वय व्याख्या इस प्रकार है —

प्राज्ञप्रलापज्ञः प्राज्ञः विदुरः प्रलापज्ञं युधिष्ठिरं
प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं प्राज्ञम् इदं वचः अब्रवीत् ॥

'प्राज्ञप्रलापज्ञ' 'प्राज्ञ' का विशेषण है जिसका अर्थ है 'प्रादेशिक बोलियों' का ज्ञाता 'बुद्धिमान् विदुर'। 'प्रलापज्ञम्' युधिष्ठिर का विशेषण है। दूसरी पंक्ति में 'प्राज्ञ' और 'प्रलापज्ञ' दोनों ही षष्ठी विभक्ति में हैं और उनका क्रमशः अर्थ है 'म्लेच्छों की' और 'ऐसी उक्तियों के अर्थ को समझने वाले की'। फिर 'प्राज्ञ' और 'प्रलापज्ञ' दोनों 'वचः' के विशेषण हैं जिनका क्रमशः अर्थ है 'दुर्बोध अर्थ वाले' और 'असंस्कृत ग्रामीणों के शब्द'।

नीचे विदुर द्वारा युधिष्ठिर को कहे हुए दो और श्लोक उद्धृत किए जाते हैं जिनमें दूरस्थ मूलसिद्धान्त अर्थ और पदमोट पर आधारित है।

अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम् ।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥[२]

१ म भा १ १४५-५
२ म भा १ १४५ २१

निरंतर बुनती जा रही है और समस्त प्राणियों और लोकों को विवर्तित करती जा रही है)। यह प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले इस संसार के जीवन का वर्णन है। दो युवतियाँ दो अवस्थाएँ हैं—बाल्यावस्था और वृद्धावस्था और दो श्वेत और कृष्ण तन्तु हैं प्राणिमात्र के जीवन को आवृत रखने वाले सुख और दुख।

शब्दों की माला और विशिष्ट पदार्थों पर आश्रित कूट का एक उदाहरण यह है —

नदीज लंकेशवनारिकेतुर्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः ।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी जित्वा वयं नेष्यति चाद्य गाः ॥

(हे भीष्म! यह अंगनावेषधारी तो अर्जुन प्रतीत होता है जो इन्द्र का पुत्र है और वानरकेतु है)। जब विराट के पुत्र उत्तर की सहायता के लिए बृहन्नला-वेषधारी अर्जुन युद्धभूमि में लड़ रहा था तो द्रोणाचार्य ने उसे पहचान लिया और दुर्योधनादि में भीष्म से यह बात कही थी। यहाँ 'नदीज' का अर्थ है 'नदी का पुत्र भीष्म'। नदी शब्द का प्रयोग यहाँ गंगा के लिए हुआ है क्योंकि भीष्म गंगा के ही पुत्र थे। 'लंकेशवनारिकेतु' इस शब्दमाला का अर्थ है 'कपिध्वज' (लंकेश अर्थात् रावण के वन अशोकवाटिका का शत्रु ध्वंस करने वाला अर्थात् हनुमान् और अर्जुन की पताका में हनुमान् का चिह्न था अतः 'लंकेशवनारिकेतु' का अर्थ हुआ 'हनुमान है केतु में जिसके' अर्थात् अर्जुन)। 'नगाह्वय' का अर्थ है 'नग (वृक्ष) है आह्वय नाम जिसका'। 'अर्जुन' एक वृक्ष-विशेष का भी नाम है अतः अर्जुन ही 'नगाह्वय' हुआ। 'नगारिसूनु' भी अर्जुन ही है क्योंकि वह नगों (पर्वतों) के शत्रु इन्द्र का पुत्र है। इन दोनों शब्दों में नग शब्द दो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

निम्न श्लोक वर्ण-लोप-कूट का सुन्दर उदाहरण है —

विषं भुङ्क्ष्व सहामात्यैर्विनाशं प्राप्नुहि प्रथमम् ।
राजन् येन विना भाग्यात् स्वीकुरु कृष्णाजिनं वरम् ॥

(हे राजन्! अपने अमात्यों के सहित विष का भक्षण करो और निश्चय ही विनष्ट हो जाओ क्योंकि राज्य की पुनः प्राप्ति और भोग के बिना अभाग्यग्रस्तों के लिए यही उचित है कि वह कृष्णाजिन धारण कर संन्यासी बन जाय)। वस्तुतः कवि का अभिप्रेत अर्थ यह है — (हे राजन्! अपने अमात्यों

---

१ अ० म० ४ १६ १
२ म० भा० ४ ११६ ६टि

सहित इस विस्तृत राज्य का उपभोग करो और सुखपूर्वक रहो)। यहाँ पहले अर्थ में 'नेम' का अर्थ है 'कुल और 'सान्ध्याम्' का अर्थ है 'अभ्यास' कुलीन व्यक्ति तथा दूसरे अर्थ में 'नेम बिना साम्ना स्फीतं कृष्णाजिनम्' का अर्थ है मकार पकार और दोनो मकारो के बिना 'कृष्णाजिनं' शब्द अर्थात् क+आजि+नम् और सन्धि होने पर इससे बना 'राज्यम्'।

एक अन्य श्लोक मे अनेकार्थवाची एक 'गो' शब्द की भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति करके कूटरचना की गई है—

> गोकर्णं सुमुखीकृतेन इषुणा गोपुत्रसंप्रेषिता
> गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोवा प्रभम्।
> दृष्ट्वा गोपकृतं जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै
> गोकर्णासनमर्दनश्च न ययौ ना प्राप्य मृत्योर्विषम्॥

यह श्लोक महाभारत के कर्णपर्व से लिया गया है जिसमे कहा गया है कि कर्ण ने अपना सर्परूपी बाण अर्जुन पर छोड़ा किन्तु उसने उसके मुकुट को ही नष्ट किया पर अर्जुन बच गया।

न्यग्रह ग्रंथो में एक सुन्दर श्लोक और मिलता है जो महाभारत का बताया जाता है किन्तु महाभारत के प्राप्य किसी भी संस्करण में वह नहीं मिलता। वह यह है —

> खचरस्य सुतस्य सुतः खचर खचरी जननी न पिता खचरः।
> खचरस्य सुतेन हत खचर खचरी परिरोदिति हा खचर॥

यह घटोत्कच की मृत्यु का वर्णन है। इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार होगी एक खचर (राक्षस) खचर (वायु) के पुत्र का पुत्र था। उसकी माता (हिडिम्बा) खचरी (राक्षसी) थी पर पिता (भीम) खचर (राक्षस) नहीं था। यह खचर (राक्षस) खचर (सूर्य) के पुत्र (कर्ण) द्वारा मार डाला गया तो खचरी (हिडिम्बा) रोने लगी 'हा मेरे प्रिय पुत्र'! यहाँ 'खचर' का अर्थ है 'खे चरतीति' अर्थात् 'आकाश में विचरण करने वाला'। अत तीन प्रसगो मे क्रमश उसके अर्थ है (१) वायु, (२) राक्षस और (३) सूर्य। 'वायु के पुत्र' से तात्पर्य है भीम का और सूर्य के पुत्र का अर्थ है 'कर्ण' तथा आकाश मे विचरण करने वाले 'राक्षस' से तात्पर्य है घटोत्कच का और राक्षसी से अभिप्राय है उसकी माता हिडिम्बा।

महाभारत के अनन्तर कूट-शैली की रचनाएँ भक्ति और लोक-काव्य के कवियो ने प्रचुर मात्रा मे की। तान्त्रिको ने तो कुछ ऐसे विचित्र और कूटार्थक शब्दो एव बीजाक्षरो की रचना की जिसका प्रयोग विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति

के लिए ही किया जाता था। इसके अतिरिक्त भक्ति-काव्य के कवियों की ऐसी रचनाओं का मुख्य उद्देश्य था अपने धार्मिक विचारों और अनुष्ठानों को सुरक्षित रखना। किन्तु कुछ लौकिक और आलंकारिक साहित्य के रचयिता इस प्रकार की रचनाओं में केवल चमत्कार और काव्य-कला में अपना पाण्डित्य एवं कौशल प्रदर्शन करने के लिए ही प्रवृत्त होते थे। भागवत पुराण में दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के विवेचन में कुछ कूट रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनमें से दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं —

> द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पंचस्कंधः पंचरसप्रसूतिः।
> दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥[1]

(इस वृक्ष के दो बीज, सौ जड़, तीन नाल, पाँच स्कंध, पाँच रसों वाले फल, ग्यारह शाखाएँ, दो पक्षियों के नीड़, तीन वल्कल और दो फल हैं। यह सूर्य में प्रविष्ट हो गया है)। यह रूपकात्मक भाषा में विश्व का वर्णन है। इस विश्वरूपी वृक्ष के पाप और पुण्य नामक दो बीज हैं। सैकड़ों प्रकार की वासनाएँ मूल हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् रूपी तीन नाल हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व स्कंध हैं। पाँच प्रकार के इन्द्रियानुभव रसीले फल हैं। दस इन्द्रियाँ और मन ग्यारह शाखाएँ हैं। जीव और आत्मारूपी दो पक्षी हैं। तीन धातु वल्कल हैं और सुख-दुःख दो फल हैं। ऐसा ही भाव एक अन्य श्लोक में भी है —

> एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पंचविधः षडात्मा।
> सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥[2]

इस (संसाररूपी) आदि वृक्ष का (प्रकृति ही) एक अयन (आश्रय) है। (सुख और दुःख) दो फल हैं। (सत्त्व, रज और तम) तीन शाखाएँ हैं। (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) चार रस हैं। (ज्ञानेन्द्रियों की) पाँच प्रकार हैं। (उत्पत्ति, स्थिति, उन्नति, परिवर्तन, क्षति और विनाश) छः आत्माएँ हैं। (रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र) सात वल्कल हैं। (पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार) आठ शाखाएँ हैं। (दो मुख, दो नासाछिद्र, दो नेत्र, दो कर्ण तथा पायु और मूत्रेन्द्रिय) नौ द्वार हैं। (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय) दस पत्ते हैं और (जीव व ईश्वर) दो पक्षी हैं।

१ भा० ११ । १२ । २१
२ वही १० [illegible]

नहीं) खींचतान से की हुई व्युत्पत्ति के बल पर ऐसा अर्थ देते हैं जो व्याकरण के नियमानुसार बहुत कम संभव है —

सुराः सुरालये स्वैरं भ्रमन्ति दशनार्चिषा ।
मज्जन्त इव मत्तास्ते सौरे सरसि संप्रति ॥[1]

(चमकते हुए दाँतों वाले सुर (मदिरा-विक्रेता और देवता) सुरालय (मदिरालय और देव-मंदिर) में स्वेच्छापूर्वक विचरण कर रहे हैं और इस प्रकार मस्त हुए वे ऐसे लगते हैं मानो सौर सरोवर (मद्यसरोवर और सुरों के सरोवर-मानस) में ही मज्जन कर रहे हों) ।

समानरूपा प्रहेलिका में शब्दों का अर्थ अलंकार अथवा लक्षणा की सहायता से पर्याय रूप में ग्रहण किया जाता है । यथा—

उद्याने मया दृष्टा वल्लरी पंचपल्लवा ।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा यस्यां कुसुममंजरी ॥

इस उद्यान में मैंने एक पाँच पल्लवों वाली (पाँच अंगुलियों वाली) लता (स्त्री की बाहुलता) देखी । उसके प्रत्येक कोमल पल्लव (अँगुली) में रक्त पुष्पों की मंजरी थी (रक्तनख थे) ।

योगमालात्मिका प्रहेलिका का एक उदाहरण दण्डी ने यह दिया है —

विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः ।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥[2]

(सूर्य की किरणों से सन्तप्त जन मेघों से घिरे हुए आकाश का स्वागत कर रहे हैं)। इसकी व्याख्या इस प्रकार है —वि-पक्षी (गरुड़) उसके द्वारा जित—जीता हुआ (इन्द्र) उसका आत्मभव—पुत्र (अर्जुन) उसका द्वेषी—शत्रु (कर्ण) उसके गुरु-पिता (सूर्य) उसके पाद (किरणों) से आहत—सन्तप्त लोग हिम अर्थात् शीत के अपहा—विनाशक (अर्थात् अग्नि) उसका अमित्र—शत्रु (जल) उसको धारण करने वाले (मेघों) से व्याप्त आकाश का अभिनन्दन कर रहे हैं । यहाँ अर्थ का ज्ञान शब्दों की एक शृंखला और व्युत्पत्ति से ही होता है । हिन्दी में इस प्रकार की रचनाएँ बहुलता से पाई जाती हैं ।

धर्मसूरि द्वारा निर्दिष्ट शाब्दी और आर्थी प्रहेलिकाओं में से आर्थी प्रहेलिका का एक उदाहरण यह है —

---

[1] का० द० ३—११३
का० द० ३—११२
[2] का० द० ३—११

के नामों के आद्य अक्षर हैं और अन्त में बारह मासों के नामों के आद्य अक्षर हैं।

कलात्मक कूटों के प्रायः सभी भेद संस्कृत में पाये जाते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख भेदों के उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। निम्न उदाहरण यमक पर आश्रित कूट का है —

सुवर्णस्य सुवर्णस्य सुवर्णस्य च जानकि।
प्रेषिता तव रामेण सुवर्णस्य च मुद्रिका ॥[1]

समासरहित शब्दमाला कूट का यह उदाहरण पहले उद्धृत किया जा चुका है —

समीरगर्भस्य यो गर्भस्तस्य गर्भस्य यो रिपुः।
रिपुगर्भस्य यो भर्ता स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥[2]

निम्न श्लोक में पट्ट, शिव, चतुष्पथ, केश और गुल शब्दों के अप्रसिद्ध अर्थों को लेकर कूटरचना की गई है —

पट्टभुजा जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
प्रमदाः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति कलौ युगे ॥[3]

निम्न पद्य में शब्दों की समस्त माला द्वारा कूट की रचना की गई है —

वायुभिन्नसुतनन्दनाहतारातिभूवलशिरोऽवलम्बिनी।
तज्जवैरिपतिपीपसे सदा पातु मां कमललोचनो हरिः ॥[4]

संस्कृत के लोकविश्रुत महाकवि कालिदास प्रधानतः माधुर्य और प्रसाद गुण के कवि हैं तथापि उनके प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रथम पद्य कूटशैली में है —

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ॥
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥[5]

(जो ब्रह्मा की आदि सृष्टि है अर्थात् जल, जो विधिपूर्वक हवन की हुई आहुति को ग्रहण करती है अर्थात् अग्नि, जो होता है अर्थात् यजमान, जो दो ज्योतियाँ दो कालों दिन और रात्रि का विधान करती हैं अर्थात् सूर्य और चन्द्र, जिसका

---

१ सुभाष पृ. १६६—इसका अर्थ पहले पृ. २१ पर देखिए
२ सुभाष पृ. १६६—इसका अर्थ पहले पृ. २७ पर देखिए।
३ सुभाष पृ. १६६—इसका अर्थ पृ. २८ पर देखिये।
४ सुभाष पृ. १६६—इसका अर्थ पृ. २४ पर देखिये।
५. अभि. शा. १.१

युत शब्द है और जो नित्य में व्यापक है अर्थात् आकाश जिसको सब जीवों की प्रकृति माना गया है अर्थात् पृथ्वी और जिसके द्वारा प्राणी प्राणवान् हैं अर्थात् वायु ऐसी प्रत्यक्ष आठ मूर्तियों द्वारा ईश (शिव) तुम्हारी रक्षा करें)।

भारवि के किरातार्जुनीय माघ के शिशुपालवध और श्रीहर्ष के नैषधीय चरित में उपलब्ध चित्रकाव्य के कुछ भेद कूटकाव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। ये प्रायः अलंकारों पर आश्रित हैं। किरातार्जुनीय का यह श्लोक कूट का उत्तम उदाहरण है —[1]

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ॥

इस श्लोक में 'नागराज' शब्द में अभङ्ग श्लेष और सभङ्ग श्लेष द्वारा विभिन्न अर्थों के कारण तीन प्रकार के अर्थ आभासित होते हैं। उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है।

(क) प्रथम अर्थ में 'नागराज' शब्द में सन्धि-विच्छेद द्वारा ना और अगराज को पृथक् पद ग्रहण किये जाते हैं। ना का अर्थ है नर अर्थात् अर्जुन और अगराज का अर्थ है पर्वतराज हिमालय। इसमें अर्जुन की हिमालय से तुलना की गई है। अर्थ इस प्रकार है —

संसार में शंकर भगवान् के साथ रण में समर्थ सिंह के सदृश कान्तिमान प्रजा का पालक कृष्णवर्ण प्रचुर दानी और जय का अभिलाषी अर्जुन पृथ्वी की रक्षा करने के लिए ब्रह्मा द्वारा निर्मित सिंहों को आश्रय देने के कारण उनके प्रिय सुधा के समान धवल वर्ण वाले अनेक रत्नों के दाता और दैत्य तथा ऋषियों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले हिमालय के समान सुशोभित हुआ।

(ख) नागराज का एक अर्थ है ऐरावत। अतः अर्जुन की ऐरावत से तुलना की गई है। अर्थ इस प्रकार है —

वह अर्जुन राक्षसों से युद्ध करने में समर्थ तथा इन्द्र के प्रिय (दोनों पक्षों में यही अर्थ है) अमृत के समान स्वच्छ (अर्जुन के पक्ष में शील के कारण और ऐरावत के पक्ष में शुभ्रवर्ण) दान की वर्षा करने वाले (अर्जुन के पक्ष में दानी और ऐरावत के पक्ष में मदवर्षी) तथा (दोनों पक्षों में) विजय के इच्छुक ऐरावत के समान प्रतीत हुआ।

(ग) तीसरे अर्थ में नागराज का अर्थ है शेषनाग जिससे अर्जुन की तुलना की

---

1 किरात० १५-४२

गई है। अर्थ इस प्रकार है —

जगत् की रक्षा करने में युक्त कृष्ण का प्रिय (शेषनाग के पक्ष में विष्णु के प्रिय) प्रजा का पालक और कृष्णवर्ण (शेषनाग के पक्ष में वसुधा से बधे हुए) दैत्यों ऋषियों और लक्ष्मी के द्वारा प्रशंसित वह अर्जुन शेषनाग के समान सुशोभित हुआ।

माघ का निम्न श्लोक भी कूटकाव्य का एक ऐसा उदाहरण है जिसके प्रत्येक पद के तीन-तीन अर्थ हैं —

सदाभवबलप्राय: समुद्धृतरसो बली ।
प्रतीतविक्रम: श्रीमान् हरिर्हरिरिवापर: ॥[1]

(कृष्ण दूसरे इन्द्र अथवा सूर्य के समान प्रतीत हुए)। इसमें कृष्ण की इन्द्र और सूर्य के साथ तुलना की गई है। अतः प्रत्येक पद के तीन-तीन अर्थ हैं। हरि शब्द के तीन अर्थ हैं—कृष्ण इन्द्र और सूर्य। अतः विशेषण पदों की भी क्रमशः इन तीनों के अनुकूल अर्थ वाली तीन प्रकार की व्याख्या की गई है। 'सदा मद बलप्राय' पद का अर्थ कृष्ण के प्रसंग में सदा मदमत्त रहने वाले बलराम को आनन्द देने वाला है, इन्द्र के प्रसंग में देवताओं को दुःख देने वाले दैत्यराज बलि का नाश करने वाला और सूर्य के प्रसंग में जिसके उदय से सब रोगों का नाश होता है और जो सज्जनों को नई स्फूर्ति प्रदान करता है होगा। 'समुद्धृत रस'-पद का अर्थ है कृष्ण के प्रसंग में 'पृथ्वी का उद्धार करने वाला' इन्द्र के प्रसंग में 'विष का नाशक' और सूर्य के प्रसंग में 'जल का शोषक'। इसी प्रकार 'प्रतीतविक्रम' पद का अर्थ कृष्ण के प्रसंग में तीनों लोकों को नापने वाले 'तीन पराक्रमों वाला' इन्द्र के प्रसंग में 'प्रसिद्ध पराक्रम वाला' और सूर्य के प्रसंग में 'आकाश में अपनी गति के लिए प्रसिद्ध' होगा।

नैषधीयचरित की अन्यतम का एक उदाहरण भी नीचे उद्धृत किया जा रहा है जिसमें शब्दश्लेष की सहायता से अनेक अर्थ किए जा सकते हैं। इस श्लोक में एक साथ पाँच व्यक्तियों का वर्णन है—एक है राजा नल और शेष चार हैं इन्द्र अग्नि यम और वरुण देवता जो नल का ही वेष धारण कर दमयन्ती के स्वयम्वर में आये थे।

देव: पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नल: खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वर: कतर: परस्ते ॥[2]

---

१ शिशु १९ ११९
२ नैषध १३-३४

(हे विदुषी तुम इस कान्तिमान् नैषधराज नल को पतिरूप में वरण करके अपना निर्णय क्यों नहीं कर लेती हो। यदि तुम उस नल में सम्भवतः दोष देखती तो तुम्हें हानि होगी। उससे बढ़कर वर और कौन हो सकता है)? यहाँ 'पराजयस्या' पद का अर्थ इन्द्र के प्रसंग में होगा 'वज्रधारी' अग्नि के प्रसंग में 'मेषवाहन' यम के प्रसंग में 'महिषवाहन' और वरुण के प्रसंग में 'जलाधीश' और नल के प्रसंग में 'नराधीश'। इसी प्रकार 'मनिमह्यामसाम' के भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं जो विस्तारभय से यहाँ नहीं दिये गये हैं।

पालि और प्राकृत में कूटरचना का अभाव

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्दगामी और कलात्मक दोनों ही प्रकार का कूटकाव्य प्राचीन और मध्यकालीन संस्कृत कवियों को बहुत प्रिय था और यह परम्परा बहुत समय से चली आ रही थी तथा सभी प्रदेशों और कालों के परवर्ती कवियों ने उसे अविच्छिन्न बनाये रखा। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मध्य युग के आदि काल में इस परम्परा के चिह्न ढूँढने का प्रयास विफल ही रहा है क्योंकि पालि और परवर्ती प्राकृत के ग्रन्थों में कूट रचनाएँ प्राय अप्राप्य हैं। पालि और प्राकृत में कूटकाव्य के इस अभाव का कारण सम्भवतः यह जान पड़ता है कि ये जनसाधारण की भाषाएँ थीं और सामान्यतः गम्भीर साहित्य की रचना विशेषतः आलंकारिक काव्य के लिए इनका प्रयोग नहीं होता था। यद्यपि प्राकृत में सनुबन्ध हाल की 'गाथा सप्तशती' प्रवरसेन का 'रावण-वहो' वाक्पतिराज का 'गौडवहो' हेमचन्द्र का 'प्राकृत द्व्याश्रय' तथा राजशेखर की 'कर्पूर-मञ्जरी' आदि कुछ उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाएँ भी हैं। पर उनमें क्लिष्ट अथवा गूढार्थक काव्य नहीं है क्योंकि जैसा कि राजशेखर ने कहा है प्राकृत बहुधा सुकुमार रचना की भाषा समझी जाती थी परुष रचना की नहीं।[1] जहाँ तक पालि का सम्बन्ध है वह तो प्रमुखतः बौद्धों के धर्मोपदेश की भाषा के ही रूप में अपनाई गई थी। अतः उसमें अभिव्यक्ति की ऐसी दुर्बोध शैली की आवश्यकता ही नहीं थी जैसी कि परवर्ती सिद्धों के द्वारा प्रचारित गुह्य अनुष्ठानों के लिए आवश्यक थी। अतएव अपभ्रंश के उदय और उसके साहित्य के विकास के समय तक कूट-परम्परा के पुनर्जीवन को कोई अवसर नहीं मिला। उसका पुनः बीजारोपण उन सन्त कवियों ने किया जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के पुनरुत्थान का द्वार खोला। स्पष्ट पालि और प्राकृत में कूट

---

१ परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं॥ कपू० १-८

परम्परा के प्रभाव का कारण स्पष्ट हो जाता है । अतः अब हम उस अपभ्रंश साहित्य का पर्यालोचन करेंगे जिसका स्थान समय पाकर हिन्दी-साहित्य ने ग्रहण कर लिया ।

अपभ्रंश में सिद्धों के रहस्यवादी पद

वज्रयानी और नाथपन्थी योगियों के रहस्यवादी पदों में रहस्यात्मक और आध्यात्मिक कूटों की परंपरा पुनः प्रतिध्वनित हुई । ये पद गूढार्थ भाषा में रचे गये हैं । सिद्धलोग बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की वज्रयान और सहजयान शाखा के अनुयायी थे । महायान के उदय के साथ बौद्धधर्म जनसाधारण के अधिक निकट सम्पर्क में आया और अधिक लोकप्रिय भी हुआ । प्राचीन हीनयान सम्प्रदाय ने बौद्धधर्म के मूल उपदेशों—व्रतों के पालन और निर्वाण की प्राप्ति—को अधिक महत्त्व दिया था । उसमें ब्रह्मचर्य और सन्यास के जीवन को भी बहुत महत्त्व दिया जो निर्वाणपथ पर अग्रसर होने वाले साधक के लिए परम आवश्यक माने जाते थे । पर महायान ने अधिक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया और यह माना कि उपासना तथा मन्त्रतन्त्रों के अनुष्ठान से निर्वाण की प्राप्ति सभी के लिए बहुत सुगम हो सकती है । अतएव महायान में त्याग विरक्ति और ब्रह्मचर्य के स्थान पर सुखी सांसारिक जीवन और चारित्र्य-शुद्धि को अधिक महत्त्व दिया गया । हीनयान और महायान के इस भेद को हिन्दुओं के ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग से तुलना करके अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है ।

चौथी और सातवीं शताब्दी के बीच ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान हुआ जिसकी तीन प्रमुख धाराएँ प्रवाहित हुईं —शैव शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय । इन तीनों की स्वतन्त्र उपासना-पद्धति और धार्मिक विश्वासों में अनेक बातें समान ही थीं । अधिक लोकप्रिय बनने के लिए महायान ने भी हिन्दूधर्म की इन उपासना-पद्धतियों में से कुछ को अपना लिया विशेषकर शाक्त सम्प्रदाय के मन्त्रतन्त्र को और इस प्रकार धर्म-शनैः उसका भी विकास तत्कालीन प्रमुख *तान्त्रिक सम्प्रदायों में से एक के रूप में हो गया । मन्त्रतन्त्र को अपनाकर पहले* वह मन्त्रयान बना और बाद में भैरवीचक्र के प्रवेश तथा सुरा-सुन्दरी के उपभोग की ओर प्रवृत्त होने पर वज्रयान बन गया । जैसा कि प्रायः सभी अच्छे सम्प्रदायों में होता है इस सम्प्रदाय का भी पतन हुआ और उसका कारण थे उसके कुछ पतित अनुयायी जिन्होंने डाक्टर भट्टाचार्य के शब्दों में—सदाचार के कठोर नियमों का विरोध करने में अपने ढंग की चरम सीमा का भी उल्ल

पन कर दिया और सभी नियमों का उन्मूलन कर डाला।

आठवीं शताब्दी में लगभग शंकर के यहाँ तमाम से परास्त और मस्त होकर
बौद्धधर्म ने तिब्बत नेपाल बिहार, बंगाल तथा आसाम के कुछ प्रदेशों मे
शरण ली। भारत म बचे हुए बौद्धो ने बदली हुई परिस्थितियो के अनुकूल अपने
को ढालने का प्रयत्न किया और ब्राह्मणधर्म के साथ ऐसी सन्धि करली जिससे
उनके धर्म मे जनसाधारण की रुचि बनी रह सके और वह पुन जीवित हो
उठे। शंकर के शैवसम्प्रदाय से प्रभावित होकर बौद्धभिक्षुओं ने योग
क्रियाओ का प्रचार प्रारम्भ कर दिया और जनमत को आकृष्ट करने के लि
वे साधिको के मन्त्रतन्त्र द्वारा भाँति-भाँति के चमत्कारो का प्रदर्शन करने लगे
इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने उपासना की कठोरताओ को स्वीका
किया और मन्त्रतन्त्रों की जटिलता मे प्रवृत्त हो गये। बौद्धधर्म का यह न
रूप सहजयान कहलाया और उसके आचार्य सिद्ध कहलाये। वे सिद्ध नालन्द
विक्रमशिला और उदन्तपुरी के प्रसिद्ध विद्यापीठो मे अपने सिद्धान्तो का उप
और प्रचार करते थे। एक ओर तो उन्होंने वाममार्ग से मिलते-जुलते महासुख
को स्वीकार किया और दूसरी ओर अपने घट के ही भीतर मानस निरञ्जन
खोजने का उपदेश दिया। उनका महासुखवाद गुह्यसाधना अथवा रहस्य के न
पर कामवासना की तृप्तिमात्र था।

वज्रयान के सिद्धान्तो के प्रति अगाध आस्था होते हुए भी कुछ सिद्धो
अपने सम्प्रदाय क परम्परागत दृष्टिकोण मे क्रान्ति लाने का प्रयत्न किया
उन्होंने विहारो क कृत्रिम और धर्मनिरपेक्ष जीवन को सरल और स्वाभावि
जीवन मे बदल देने का प्रयास किया। वे बाह्य संस्कारो और अनुष्ठानो
विश्वास नहीं करते थे। अपितु उन्होंने आत्मा का शून्य के साथ तादात्म्य स्था
पित करने को ही प्रमुखता दी जिसे वे महासुख अथवा महाभाव कहते
उन्होंने स्वाभाविक गार्हस्थ्य जीवन को ही श्रेयस्कर बताया और वज्रयान
यहीं तक माना जहाँ तक वह सम्बन्ध मे बाधक नहीं है। उनका मत था
गार्हस्थ्य जीवन और भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति न केवल आवश्यक है
अपितु उनका दमन नितान्त अस्वाभाविक और अन्त साधना के मार्ग
बाधक है। जीवन का प्राकृत मार्ग मर्यादा का पालन करते हुए निर्वाणसि
मे बाधक न होकर उसका साधक है। इन सिद्धो का जनसाधारण पर

१ नाथसम्प्रदाय पृ० १
२ हि का धा पृ ४७

प्रभाव था और अपने जीवन-यापन की विचित्र पद्धति के कारण उन्हें राजाओं और सामन्तों तक से सम्मान मिलता था। परन्तु सिद्धों को अधिक सफलता न मिल सकी क्योंकि वे संयोग के द्वारा निर्वाण प्राप्ति के अपने सिद्धान्तों का उपदेश खुलकर नहीं कर सकते थे क्योंकि ऐसा करने पर उन्हें जनता में ही नहीं अपितु अपने अनुयायियों तक के विरोध का सामना करना पड़ता। इस प्रकार अपने अस्तित्व के प्रति सशंक रहकर वे अपने सहजयान के सिद्धान्तों का उपदेश केवल सीमित समुदाय को ही दे सकते थे। किन्तु अपने उपदेशों को लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने जनसाधारण की भाषा को ही अपनाया।

इनमें से कुछ सिद्ध काव्यरचना भी कर सकते थे। उन्होंने अनेक पदों की रचना की है जिनमें उनके सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और उपदेशों का समावेश है। इन सिद्धों का मूल उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना था अतः उनकी रचनाओं में उत्कृष्ट काव्य के गुणों की आशा करना उचित नहीं होगा। वाम-मार्ग के अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियों के समान सिद्ध लोग भी अपनी साधना पद्धति को सरल और स्पष्ट रूप में जनता के सम्मुख रखना नहीं चाहते थे। अतः अपने सम्प्रदाय के रहस्यों की रक्षा के लिए उन्होंने प्रतीकात्मक भाषा का आश्रय लिया जिसमें शब्दों में वाच्यार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक गंभीर अर्थ निहित होता था। सिद्धों की यह वाणी सन्ध्यावचन अथवा सन्ध्याभाषा कहलाती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों की इस भाषा को हिन्दी का आदि रूप माना है[1] यद्यपि उसमें हिन्दी की अपेक्षा अपभ्रंश के लक्षण अधिक हैं।

इस भाषा में अनेक प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग होता था। ऐसे अनेक शब्दों का अर्थ हेवज्रतन्त्र में समझाया गया है।[2] यथा मदन = मद्य अर्थात् जल अथवा खाद्यसामग्री बल = मांस खेट = गति प्रयाग = आगति अर्थात् आना अस्थ्याभरण = रत्न डमरक = डमरुक दुर्दुर = अभव्य अर्थात् दुर्जन कालंजर = भव्य अर्थात् सज्जन डिण्डिम = अस्पर्श अर्थात् अनाहत कपाल = पद्मभाजन तृप्तिकर = भक्ष या मधु मालतीन्धन = व्यञ्जन अर्थात् निरामिष भोजन गूथ = चतुस्सम मूत्र = कस्तूरिका अर्थात् सुगन्ध सिह्लक = कपूर अर्थात् शयन करना महामांस = स्वेतरस बोल = वज्र कक्कोल = पद्म कुलम् = योनि वर्ज = भेदावह। इनके अतिरिक्त ग्रन्थ में अनेक और भी

---

[1] हि० का० धा० भूमिका

[2] भारतीय इतिहास ... ग्रन्थ हि० दा० ... 'सन्ध्याभाषा' विषयक लेख देखिए

पृ ११ ३२

समाज से पृथक हो गये थे और उन्होंने एक बुद्धिवादी संप्रदाय का विकास कर लिया था। चौरासी सिद्धों में से एक—गोरखनाथ—ने इस नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उसने सम्पूर्ण सम्प्रदाय की व्यवस्था ही बदल दी और जीवन के संयम पर बल दिया। इस प्रकार उसने संप्रदाय की जीवनधारा को सप्राण रखा जबकि सिद्धों ने उसे जनसाधारण की नाड़ियों में प्रवाहित कर उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया। गोरखनाथ शैव सम्प्रदाय से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने हठयोग और द्वैताद्वैत-विलक्षण-समतत्ववाद का उपदेश दिया जिसके अनुसार परमात्मा अद्वैत और द्वैत दोनों से विलक्षण है।[1] नाथों ने सिद्धों की परंपरा में नयी आत्मा फूँकी और नये प्रतीकों की उद्भावना की। उन्होंने अपने मत में निरीश्वरशून्य के स्थान पर सेश्वरशून्य स्वीकार कर लिया और इस प्रकार अपने धर्म में 'ईश्वरवाद' का समावेश किया। सम्भवतः नाथ पंथ पर कौलमार्ग का भी कुछ प्रभाव हुआ। नाथपंथियों ने कौलमार्गियों से षडंग योग तो ग्रहण कर लिया पर समाधि का भारी विरोध किया। उनकी आध्यात्मिक धारणाएँ शैवमत की हैं किन्तु साधनाएँ पतंजलि के हठयोग से मिलती-जुलती हैं। इस पंथ में हठयोग का पूर्ण विकास हुआ परन्तु साधना की जटिलता और कठिनाइयों के कारण यह पंथ बहुत लोकप्रिय न हो सका। साधकों पर पंथ के गुरु भी अनेक प्रतिबंध लगा देते थे। यह भी लोकप्रियता में बाधक बना। फलतः यह अनुयायियों के लिए सुगम पंथ न रहा। वे धर्म के बाह्यरूप की अपेक्षा उसकी प्राचीन परंपराओं की रक्षा पर अधिक ध्यान रखते थे। इसी कारण उनकी दार्शनिक शब्दावली कभी-कभी रहस्यमयी बनकर जनसाधारण के लिए दुर्बोध हो जाती थी। उनके प्रतीकों का अर्थ जाने बिना गूढ़ अर्थ को समझ सकना संभव न था। इन योगियों ने अपना एक पृथक वर्ग भी बना लेने का प्रयत्न प्रारंभ कर दिया था। उनके अनुसार सारा जगत् पथभ्रष्ट है केवल हठयोग के सिद्धान्तों को मानने वाले और उसकी साधना करने वाले ही ठीक मार्ग पर चल रहे हैं। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में लिखा है योग के अतिरिक्त सभी सम्प्रदायों के उपदेश भ्रष्ट हैं। संसार उलटा क्रम मानता है जैसे ब्रह्मचर्य

---

१ अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना।
—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह पृ० १२ पर उद्धृत
गो सि १ ५ —२१

गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास अथवा काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष। ठीक क्रम में सर्वोत्तम को प्रथम स्थान मिलना चाहिए। अतएव उचित क्रम होगा संन्यास, वानप्रस्थ, गार्हस्थ्य और ब्रह्मचर्य अथवा मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम। यह विपरीत क्रम गोरखपंथियों के जीवन का एक ऐसा अंग बन गया जिससे वे अपने उपदेश भी विपरीतार्थक वाक्यों में देने लगे जिन्हें परवर्ती आचार्यों ने निरर्थक अथवा ऊलजलूल भी मान ली। फिर भी उस पंथ का गौरव घटा नहीं अपितु निरन्तर बढ़ता ही गया। योगी लोग साधारण में उपदेश भी बहुत उत्साह और श्रम के साथ ऐसी गूढ़ और विपरीतार्थ भाषा में देने लगे जो दुर्बोध और क्लिष्ट थी। हठयोग विषयक एक श्लोक देखिए —

यत्किंचित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥

(दिव्यरूप वाले चन्द्र से जो भी अमृत स्रवित होता है उसे सूर्य ग्रस लेता है। इसीलिए पिंड जरा से युक्त हो जाता है)। तुम कहते हो सूर्य और प्रताप जीवन-दाता है किन्तु बात बिलकुल उलटी है। वे तो वास्तव में मृत्यु के कारण हैं। चन्द्रमा से प्रस्रुत अमृत को तो सूर्य ग्रस लेता है। अतः उसका मुख बन्द करना चाहिए। यहाँ सूर्य वास्तव में आकाश में चमकने वाला सूर्य नहीं है और न यहीं जिसका स्थान नाभि के ऊपर है। चन्द्रमा तालु के नीचे है। इसी प्रकार के वचन भी विशेष द्रष्टव्य हैं। तुम कहते हो कि गोमांसभक्षण महापाप है और सुरापान निषिद्ध है। परन्तु वास्तव में ये ही कुलीनता के सच्चे लक्षण हैं। क्योंकि 'गो' शब्द का अर्थ 'गाय' नहीं 'जिह्वा' है अतः गोमांसभक्षण का शुद्ध अर्थ है 'जिह्वा को घुमाकर तालु में प्रविष्ट कराना और ब्रह्मरंध्र की ओर ले जाना'। तुम कहते हो विधवा (रंडा) आदर और पूजा की भाजन है। किन्तु यह भी सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि 'बालरंडा' का अर्थ है गंगा और यमुना के मध्य पवित्र स्थान में वास करने वाली तपस्विनी। विष्णु के परमपद की प्राप्ति का वास्तविक मार्ग उस तपस्विनी को बलात् पकड़ लेना है। इस प्रसंग में 'गंगा' का अर्थ है 'इड़ा' और 'यमुना' का 'पिंगला'। इन दोनों के मध्य 'सुषुम्णा' में 'कुंडलिनी' का वास है। यही कुंडलिनी 'बालरंडा' है और जीवन का परमार्थ इस कुंडलिनी को ऊर्ध्वगामिनी बनाना है।

---

१ गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्। कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि। गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥
ह० यो० ३. ४७, ४८

ऐसी वक्रोक्तियाँ तांत्रिकों, योगियों और संत कवियों की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। नाथों की गूढ़ार्थी कविताएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं (१) रूपकात्मक भाषा में रहस्यवादी विचार व्यक्त करने वाली और (२) उलटबाँसियाँ। प्रथम श्रेणी के उदाहरण के लिए गोरखनाथ का यह पद देखिए —

त्रिभुवन डसती गोरखनाथ दीठी।
मारी सपणी जगाइ ल्यौ भौंरा।
जिनि मारी सपणी ताकौ कहा करै जौरा।
सपणी कहै मैं अबला बलिया।
ब्रह्मा बिस्नु महादेव छलिया॥
माती माती सपणी दसौं दिसि धावै।
गोरखनाथ गारुडी पवन बेगि ल्यावै।

(गोरखनाथ ने तीनों भुवनों को डसती हुई सर्पिणी (तीनों भुवनों को नचाने वाली कुण्डलिनी) को देखा। उसने उसे मारकर (वश में करके) भौंरे (जीव) को जगा दिया। जिसने इस सर्पिणी (कुण्डलिनी) को वश में कर लिया है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है। सर्पिणी कहती है कि मैं अबला बाला हूँ फिर भी मैं ब्रह्मा विष्णु महादेव तक को छल लेती हूँ। वह सर्पिणी मस्त होकर दसों दिशाओं में भ्रमण करती है। गारुडी गोरखनाथ ने उसे पवन (प्राणायाम) के बल से वशीभूत कर लिया है। इसमें जीवात्मा द्वारा कुण्डलिनी को वश में करने का वर्णन है। यहाँ सर्पिणी का अर्थ है कुण्डलिनी और भौंरा का जीवात्मा। सर्पिणी बहुत बलवती होती है। वह तीनों भुवनों को डसती है और ब्रह्मा विष्णु महेश तक को छल लेती है। गोरख का मत है कि जीवात्मा हठयोग द्वारा उसे वशीभूत कर सकता है। यहाँ 'पवन' (प्राण) शब्द प्राणायाम का बोधक है जो हठयोग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

गाते के वश में पोली के रूप में सृष्टि का वर्णन है। यह पहेली वेद-मन्त्र जैसी ही है।

नगरन्मुलकोमध्ये नान्ररदा दारिसमी। धन स्थारेग पुरनीवात् दर्दिस्पा सर्व सरम्॥
दता नगरती मंगा स्मिधा करमा मरो। दर्शिगन्योमध्ये नान्ररदा गु पुरन्ती॥
[illegible]

१ गोरखबानी १११—१

निरति उपजी बेली प्रकास मूल न थी वाही प्रकास ।
ऊरध मौड किया बिसतार जालमें जोगी करै बिचार ॥

(जब बेल प्रकट हुई तो सृष्टि उत्पन्न हो गयी । उस बेल में मूल न थी । फिर भी वह आकाश में चढ़ गयी और वहाँ विस्तृत हो गया । योगी उस पर विचार करें और उसे जानें) ।

गोरखनाथ का यह पद उलटबाँसी का उत्तम उदाहरण है —

नाथ बोलै अमृतबाणी बरसैगी कँबली भीजैगा पाणी ।
गाडि पडरवा बाँधिलै खूँटा, चलै दमामा बाजिलै ऊँटा ॥

(नाथ अमृतवाणी बोल रहा है कँबली बरसेगी और पानी भीग जायेगा । भैंस के बछड़े को गाड़ दो और खूँटे को बाँध दो । ढाल चल रहा है और ऊँट बजबजा रहा है) । भावार्थ यह है कि माया (भ्रम) में फँसने पर यह संसार रूपी मन उलट आच्छादित हो जाता है । मन को वश में रखना चाहिए जिससे जीवात्मा विजयी हो सके और इस लोक में आनन्द पा सके ।

कुछ उलटबाँसियाँ तो पहेलियाँ ही बन जाती हैं । जैसे —

गगन मंडल में गाय बियाई कागद दही जमाया ।
छाछ छाणि पिंडता पाणी सिधा माखण खाया ॥[3]

(आकाश में गाय ब्याई है । कागज पर दही जमाया गया है । सिद्ध ने छाछ को पानी समझकर छोड़ दिया है और वह मक्खन खा गया है) । भाव यह है कि यह विश्व जो माया की सृष्टि है नश्वर है और उसी में ज्ञान निहित है । सिद्ध अर्थात् परमात्मा उस ज्ञान के सार को ग्रहण कर लेता है और शेष को छोड़ देता है । दूसरा उदाहरण —

कहत गोरखनाथ मछिंदर का पूता । मार्‌यौ मृग भया अवधूता ।
याहि हियाली जे कोई बूझै, ता जोगी कौ त्रिभुवन सूझै ॥[4]

(गोरखनाथ कहता है कि मछन्दरनाथ मृग को मारकर अवधूत बन गया । इस पहेली को जो समझ जायेगा वह योगी तीनों भुवनों को देख सकेगा) । यहाँ 'मृग' का अर्थ 'मन' है । भावार्थ यह है कि मछन्दरनाथ मन को वश में करके ही अवधूत बन सका और उसने योगसाधना का मार्ग अपनाया ।

---

[1] गोरखबानी ११६ २
[2] वही, १ ४८
[3] वही, १ ८०
[4] गोरखबानी, १ १४६

कूटरचना की यह शैली इतनी आकर्षक थी कि कबीर तथा अन्य निर्गुणी सन्त कवि भी उसका प्रयोग करने का मोह संवरण न कर सके। उन्होंने अपने रहस्योपदेशों के लिए उलटबाँसी को साधन बनाया। इस प्रयत्न में उन पर नाथों का बहुत प्रभाव पड़ा। कबीर, दादू और सुन्दरदास की रचनाओं में ऐसे अनेक विरोधाभास और रूपक वाले पद मिलेंगे। कबीर की उलटबाँसियाँ हिन्दी के उत्तम साहित्य का नमूना हैं जिनमें अद्भुत मौलिकता और कौशल है।

कबीर ने समय की आवश्यकता को समझकर निर्गुण सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उसके प्रादुर्भाव के सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक आदि अनेक कारण थे जिन सबने मिलकर इस आध्यात्मिक आन्दोलन को धर्म-गाम्भीर्य और रूप की नवीनता प्रदान की थी। देश की राजनीतिक परिस्थिति इसका तात्कालिक कारण बनी क्योंकि मुसलमान विजयी होकर देश में बस चुके थे और दो सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण वाली जातियों—हिन्दू और मुसलमान—का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष होने लगा था। दोनों ही धर्मों के सन्तों ने सहिष्णुता और सद्भावना आचरित कर धार्मिक समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। हिन्दुओं का वेदान्त और मुसलमानों का सूफीवाद परस्पर साम्य के कारण इस प्रयत्न में सहायक बना। अद्वैत सर्वेश्वरवाद हिन्दुओं की देन था और एकेश्वरवाद मुसलमानों की। कबीर के उपदेशों में इस दृष्टिकोण की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। कबीर ने सर्वव्यापी और सर्वतत्त्वभूत सर्वान्तर्यामी शक्ति की आराधना का उपदेश दिया। उसे वेदान्त और सूफीवाद—दोनों ही में एक ही उपदेश दिखाई पड़ा 'ईश्वर एक है वह अमूर्त है। कर्मकाण्डी विधानों से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं वे तो ईश्वर को हमसे छिपाने वाले मिथ्या आवरण हैं। वास्तव में उसके साथ हमें एकाकार होना है वह घटघटवासी है और सभी वस्तुओं का तत्त्वभूत है।' कबीर पर वैष्णवों की भक्ति और नाथों के हठयोग का भी बहुत प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार कबीर द्वारा संस्थापित निर्गुण सम्प्रदाय का विकास रहस्यवादी रूप में ही अधिक हुआ।

ज्ञानद्रष्टा के लिए अपनी रहस्यानुभूतियों की समुचित भाषा में व्यंजना कर सकना और शैव संसार के लिए उसे समझ सकना दुर्लभ था। अतएव उस सम्प्रदाय के लोगों को प्रतीकात्मक और वक्र भाषा का प्रयोग करना पड़ा। कबीर ने प्रतीक-भाषा का प्रयोग भावोद्रेक के परम विस्मय अथवा आनन्दातिरेक को व्यक्त करने के लिए किया है। गोरख के समान कबीर ने भी दो प्रकार की उक्तियाँ कही हैं रूपकात्मक और उलटबाँसियाँ। रूपक का प्रयोग आध्यात्मिक सत्य को व्यक्त करने अथवा योग के सिद्धान्तों का प्रतीकों द्वारा समझाने के

लिए किया है। पर उलटबाँसियों का प्रयोग केवल विस्मय के हेतु किया है। रूपकात्मक व्यंजना के भी अनेक भेद हैं :—प्रहेलिका अन्योक्ति आदि। प्रहेलिकाओं में प्रायः रहस्यानुभूति का समावेश होता है। उदाहरणार्थ यह उक्ति देखिए —

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथ्यो गियानी॥

इसमें सर्वव्यापी परब्रह्म और विश्व के एकत्व का उल्लेख है। एक और उक्ति है —

इक डाइन मेरे मन बसै नित उठि मेरे जिय को डसै।
या डाइन के लरिका पाँच रे, निसिदिन मोहि नचावैं नाच रे॥

(मेरे मन में एक डाइन रहती है। वह नित्य उठकर मेरे जीवन को डस लेती है। उसके पाँच पुत्र हैं जो मुझे दिन-रात नचाते रहते हैं)। डाइन माया है और उसके पाँच पुत्र पञ्चेन्द्रियों के विषय हैं जो जीवात्मा को कष्ट देते रहते हैं और उसके अधःपतन के कारण हैं।

ऐसी प्रहेलिकाएँ प्रायः विभावना अलंकार पर आश्रित होती हैं जिनमें बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति बताई जाती है। आगे की पहेली में बताया गया है कि परमात्मा बिना कारण उत्पन्न होने वाला कार्य है

काइ रची गोविन्द पंडिता मंडिता, तेरा कौन गुरु कौन चेला।
आपणें रूप कौं आपहि जाणें आपै रहै अकेला।
बाँझ का पूत बाप बिन जाया बिन पाँऊँ तरवरि चढ़िया।
बीज बिन अंकुर पानि बिन तरवर, बिन साखा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी पुहुप बिन पुहा, बिना पौषा भँवर बिलंबिया।
गुप्त होइ सु परम पद पावै जीव कर्तव होइ सब करिया॥[3]

(ईश्वर ने पंडित और मूर्ख दोनों को रचा है। उसके अपना कोई गुरु अथवा चेला नहीं है। वह अपने रूप को केवल स्वयं जानता है और सदा अकेला रहता है। वह बाँझ का पुत्र है और बिना पिता के उत्पन्न हुआ है। बिना पैरों के वह वृक्ष पर चढ़ गया है। वह बिना बीज का अंकुर है बिना पानी का तालाब है, बिना शाखा का फल वाला वृक्ष है, बिना रूप की नारी है बिना पुष्प की पुहा है

१ विस्तृत चर्चा के लिए देखिए पृ० २२
२ क० ग्र० पृ० ९९
३ क० ग्र० पृ० ९४

और बिना पंखों का भौंरा है, उस परम पद को शूरवीर ही पा सकते हैं। कीट पतंग तो सब जल जाते हैं)।

अन्योक्ति का एक उदाहरण लीजिए —

माली आवत देखि करि कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए काल्हि हमारी बार॥[1]

(माली को आता देखकर कलियाँ पुकारने लगी कि इसने हममे से फूली-फूली कलियों को तो आज चुन लिया है और कल हमारी भी बारी आने वाली है)। यहाँ (सर्वनाशक काल रूपी) माली द्वारा चुने हुए फूल सासारिक सुखों की नश्वरता के प्रमाण हैं।

एक और उदाहरण इसी भाव का द्योतक है —

बाढ़ी आवत देखकरि, तरिवर डोलन लाग।
हम्म कटे की कछु नहीं पंखेरू घर भाग॥[2]

(बढ़ई को आता देखकर वृक्ष काँपने लगा और पक्षी से बोला "हे पक्षी हमारे कटने की तो कोई बात नहीं तुम अपने घर भाग जाओ")। यहाँ वृक्ष शरीर को वृक्ष से निरूपित किया गया है। वह आत्मरूपी पक्षी से कहता है कि मेरे नष्ट होने की अथवा आने वाली मृत्यु की चिन्ता न करो तुम अपने को ब्रह्म में लीन करो।

आगे का पद कमलिनी को सबोधित करके कहा गया है जो अपने जीवन तत्त्व जल मे ही निवास करने पर भी सूर्य के प्रकाश के अभाव में कुम्हला रही है।

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी तेरेहि नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तल तपति न ऊपर आगी तोर हेत कहु कासन लागी।
कहै कबीर जे उदकि समान ते नहि मुए हमरे जान॥[3]

(हे नलिनी तुम क्यों कुम्हला रही हो। तुम्हारे पास ही सरोवर का पानी है। तुम्हारी जल म ही उत्पत्ति है और जल म ही निवास है। न तुम्हारे नीचे ऊष्मा है न ऊपर अग्नि है। तुम्हारा किससे प्रेम हो गया है। कबीर कहते हैं कि जो जल मे समाये हैं वे हमारी समझ म तो मरते ही नहीं)। यहाँ नलिनी मनुष्य है,

---

१ क ग्र पृ ७२ ६

२ वही।

३ क ग्र पृ ११२

और धन बढ़ता है जो आत्मा के लिए घातक है। सांसारिक वैभव सूर्य के प्रकाश में समान है। जो अनंत ब्रह्मरूपी जल में लीन हो जाते हैं वे कैसे मर सकते हैं?

कबीर के कूटों में सबसे अधिक महत्त्व उलटबाँसियों का है। वे प्रायः विरोधाभास चमत्कार पर आश्रित हैं जिसमें विपरीत कर्म और परिस्थितियों में कार्य की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिए नीचे ऐसी दो उलटबाँसियाँ उद्धृत की जाती हैं —

कैसे नगरि करौं कुटवारी।
चंचल पुरुष विचषण नारी॥
बैल बियाई गाइ भई बाँझ।
बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ॥
मकड़ी धरि माखी छछि हारी।
मास पसारि चील्ह रखवारी॥
मूसा खेवट नाव बिलइया।
मींडक सोवै साँप पहरइया॥
नित उठि स्याल स्यंघ सूँ जूझै।
कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥

(किस तरह उस नगरी की रक्षा करूँ जहाँ पुरुष चंचल है और नारी विचक्षण है। बैल बच्चा देता है और गाय बाँझ है। बछड़े को तीनों शाम दुहा जाता है। मक्खी ने मकड़ी को पकड़ लिया है और वह उसे झकझोर रही है। चील को मांस का प्रहरी रखा गया है। चूहा नाविक बना है और बिल्ली नौका। साँप के पहरे में मेढक सो रहा है। प्रतिदिन उठकर सियार सिंह के साथ जूझता है। कबीर कहते हैं कि इसे बिरला ही समझता है)। यहाँ नगर शरीर, पुरुष जीवात्मा और नारी बुद्धि है।

एक अचंभा देखा रे भाई।
ठाढ़ा सिंह चरावै गाई॥
पहले पूत पाछे भई माई।
चेला के गुर लागै पाई॥
जल की मछली तरवरि ब्याई।
पकरि बिलाई मुर्गै खाई॥

---

१ क० ग्रं० पृ० १०८

बैलहि डारि गूँनि घरि आई ।
कुत्ता कूँ लै गई बिलाई ॥
तलि करि साखा ऊपरि करि मूल ।
बहुत भाँति जड़ लागे फूल ॥
कहै कबीर या पद कौं बूझै ।
ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै ॥[1]

(हे भाई, तुम एक आश्चर्य देखो। एक सिंह खड़ा होकर गाय को चरा रहा है। पहले पुत्र हुआ पीछे माता। गुरु चेले के पैरों पड़ता है। जल की मछली पेड़ पर ब्याई है। चूहे ने बिल्ली को पकड़कर खा लिया। बैल को छोड़कर रस्सी को पकड़ लिया गया है। बिल्ली कुत्ते को पकड़कर ले गई। पेड़ की शाखाएँ नीचे हैं और जड़ ऊपर, जड़ पर बहुत तरह के फूल भी लगे हैं। कबीर कहते हैं जो इस पद को समझता है वह तीनों लोकों को जान लेता है)।

यहाँ जीवात्मा पुत्र है और माया माता। जीवात्मा माया से पूर्व जन्म धारण करता है पर जन्म के पश्चात् संसार में आते ही वह माया से आच्छन्न हो जाता है। साधक शिष्य है भगवान् गुरु है जो प्राप्त होने पर स्वयमेव आकर उसके सम्मुख प्रकट हो जाता है। मन मछली है और विश्व (सृष्टि) वृक्ष है जिसमें मन विविध वासनाओं में व्यस्त होता रहता है। आत्मा चूहा है और अज्ञान बिल्ली है जो आत्मा के ज्ञान प्राप्त करने पर नष्ट हो जाता है।

कबीर ने दो प्रकार की उलटबाँसियाँ लिखी हैं व्यंजनात्मक और गोपनात्मक। व्यंजनात्मक उलटबाँसियों में उच्चा काव्य निहित है पर गोपनात्मक प्रायः सिद्धान्त-परक हैं और उनमें सत्काव्य नहीं है। परन्तु जहाँ गोपनात्मक उलटबाँसियों का भी यथार्थता प्रयोग हुआ है वहाँ व पाठक को अत्यन्त विस्मित करती हैं और उसका अर्थ समझने के लिए पाठक में कौतूहल उत्पन्न होता है और अर्थ का उद्घाटन होने पर जब वह विस्मयपूर्ण मुख से अवाक् रह जाता है तो उसमें ऐसे ज्ञान की अधिक आतुरता उत्पन्न हो जाती है। व्यंजनात्मक उलटबाँसी का एक उदाहरण यह है —

उमड़ बदरिया परिगौ संझा अगुआ भूले बनखंड मंझा ।
पिय अन्ते धन अन्ते रहईं चौपरि कामरि माथे गहईं ॥

---

[1] क   पृ ९१-९२

समुद्र है। मुक्ति तट है। ईश्वरप्राप्ति नगर है। परम्परागत अन्धविश्वास मार्ग है। माया रस्सी है। मन्दिर ईश्वरत्व है।

सुन्दरदास की रचनाओं में भी इस प्रकार के बहुत से पद मिलते हैं। सुन्दरदास के निम्न पद में कबीर की उपर्युक्त उलटबाँसी में व्यक्त भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है।

> कुंजर कीरी कूं गिल बैठी सिंघ खाइ अघानो स्याल।
> मछरी अगिनि माँहि सुख पायो जल में बहुत हुती बेहाल॥
> पंगु चढ्यौ परबत के ऊपर, जल में मृतकहि डेराने काल।
> जाको अनुभव होय सो जानै सुन्दर उलटा ख्याल[1]॥

(चींटी (जीवात्मा) हाथी (प्रत्यक्ष जगत् अर्थात् माया) को निगल गयी। सिंह को खाकर सियार तृप्त हो गया। मछली (आत्मा) को अग्नि (ज्ञान) में सुख मिला। वह जल (माया) में बहुत व्याकुल थी। पंगु जीव (विवेकाग्रता के कारण इन्द्रियों के अप्रयोग से) पर्वत (परमपद) पर जा चढ़ा। मृतक को (संसार में) देखकर काल भी डर गया। सुन्दर कहता है कि जिसे अनुभव प्राप्त है वही इस विपरीत ज्ञान को समझ सकता है)।

आध्यात्मिक सत्य का वर्णन करने वाली कबीर की एक और उलटबाँसी यह है —

> ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या मैं रह्या उमेषै।
> मूसा हस्ती सों लड़ै कोई बिरला पेखै॥
> मूसा बैठा बाँबि मैं लारै सापणि धाइ।
> उलटि मूसै सापिणि गिली यहु अचरज भाई॥
> चींटी परबत ऊषण्यां लै राख्यो चौड़ै।
> मुर्गा मिनकी सूं लड़ै झल पाणी दौड़ै॥
> सुरही चूषै बछतलि, बछा दूध उतारै।
> ऐसा नवल गुणी भया सारदूलहि मारै॥
> भील लुक्या बन बीझ मैं ससा सर मारै।
> कहै कबीर ताहि गुर करौं जो यहु पदहि बिचारै[2]॥

(जब मैं जग रहा था तो मेरे गुरु ने यह आश्चर्य मुझ से कहा — चूहा हाथी से लड़ता है पर विरला ही उसे देख सकता है। चूहा बिल में बैठा है और सर्पिणी

---

१ हि का नि सं पृ ४४८
२ क ग्रं १४७ १६१

निरर्थक हैं। इन्हें सम्यक्तया समझने के लिए दो बातें आवश्यक हैं। (१) धर्म ग्रंथों की परम्परा का ज्ञान और (२) कबीर के दृष्टिकोण से परिचय। कुछ प्रतीकों का तो रहस्यवादी और आध्यात्मिक ग्रंथों में पारिभाषिक अर्थ हो गया है और उनके प्रयोग की दीर्घ परम्परा है। जैसे गंगा यमुना सरस्वती त्रिवेणी नारायणी सूर्य चन्द्र सोमरस वारुणी मदिरा गोमांस भुजंगी नागिनबाला अमृत सघार, बंकि नाल शून्य गगन ब्रह्मपुर आदि। इन शब्दों के रहस्यवादी अर्थ को समझने में तो कोई कठिनाई नहीं होती। कठिनाई उन प्रतीकों में होती है जिनका प्रयोग सदा एक ही अर्थ में नहीं किया गया। वहाँ अर्थ का केवल अनुमान लगाना पड़ता है।

सिद्धों नाथों और सन्तकवियों द्वारा प्रयुक्त रूपकात्मक शब्दों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतीक के अर्थ में जहाँ प्रस्तुतार्थ अप्रस्तुतार्थ में छिपा रहता है वहाँ प्रस्तुतार्थ का ज्ञान प्रतीकवस्तु के माध्यम से नहीं उसके धर्म से होता है। जैसे यदि 'मन' को 'हरिण' बताया गया है तो इसलिए कि चंचलता उसका धर्म है। कभी-कभी एक ही धर्म का द्योतन अनेक प्रतीक कर सकते हैं। जैसे 'माया' के लिए माता नारी नटी मैया बिलैया आदि प्रतीकों का प्रयोग होता है तो 'मन' के लिए मच्छ, मीन सौज सियार, हस्ती मातंगी आदि का। यद्यपि कबीर ने कविता सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं लिखी पर उनकी उलटबाँसियाँ कहीं-कहीं शब्द-चित्र बिम्ब और भावात्मक जटिलता की कला में चमत्कार को भी मात करती हैं। कबीर की इन उक्तियों में भाव की गहराई और भाषा की उदात्तता भी है। वास्तव में ये स्वतः उद्भूत उक्तियाँ हैं क्योंकि उनके विचारों का रहस्यवादी स्वरूप सरल शब्दों में व्यक्त होना सर्वथा दुष्कर था।

हिन्दी में दृष्टकूट पदों की परम्परा

कलात्मक कूटकाव्य की पुरानी परम्परा हिन्दी में सर्वप्रथम चन्दबरदाई की रचना में दृष्टिगोचर हुई। चन्द हिन्दी का आदि महाकवि माना जाता है। अपने महाकाव्य पृथ्वीराज रासो में उसने अपने आश्रयदाता और मित्र अन्तिम हिन्दू नरेश पृथ्वीराज का वर्णन किया है जिसने बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में मुसलमानी आक्रमण का सामना किया। चन्द अनेक विषयों का प्रकाण्ड विद्वान् था। उसे छः भाषाओं का ज्ञान था। उसकी काव्य-प्रतिभा अद्भुत थी। कहते

---

१ (क) उक्तिधर्मविशालस्य राजनीतिर्नवं रसं।
षट् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया॥ रासो १-७९
(ख) षट् भाषा व्याकरण काव्य कर पुच्छे अभिराम। रासो १-२११

ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोदंड संध कंद्रप्प बयट्ठौ॥
अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जरयौ।
सुर भुवन छाँडि कवि चन्द कहि तिहि धोखै राजन परयौ॥[1]

(हाथी पर सिंह था सिंह पर दो पर्वत थे पर्वतों पर दो भौंरे और भौंरो पर चन्द्रमा शोभित था। चन्द्रमा पर एक शुक था और शुक पर मृग दृष्टिगोचर हो रहा था। मृग पर धनुष साधे कामदेव बैठा था। उस पर सर्प था। स्वर्णजटित हीरे जैसा मोर पृथ्वी पर विद्यमान था। और उसे देखकर राजा स्वर्ग को छोड़ उसी के धोखे में पड़ गया)। पृथ्वीराज ने एक बार संयोगिता को प्रासाद के गवाक्ष में देखा था और उसके रूप को देखकर वह मुग्ध हो गया था। उस रूपवती के अङ्गों का वर्णन कवि ने केवल उपमानों से किया है। हाथी जंघा का उपमान है सिंह कमर का पर्वत उरोजों का भृङ्ग चूचुक का चन्द्र मुख का शुक नासिका का मृग नेत्र का धनुष भृकुटि का सर्प अलकों का और मयूर तिरछी चितवन का।

श्लेष-वक्रोक्ति पर आश्रित कूट का भी एक उदाहरण देखिए —

मुह बंकिय अब तुच्छ तन जंगलराव सुहद्द।
बन उजार पसुतन चरन क्यौं दूबरो बरद्द॥[2]

(चन्द पर व्यङ्ग्यपात करते हुए जयचन्द कहता है 'जंगल के राजा की सीमा में रहकर और सारे जंगल को उजाड़ कर भी हे बैल! तुम्हारा मुख वक्र और शरीर तुच्छ क्यों है)? यहाँ 'जंगलराव' शब्द के दो अर्थ हैं (१) जंगल का राजा और (२) जांगल प्रदेश का राजा पृथ्वीराज। इसी प्रकार 'बरद्द' के अर्थ हैं (१) बैल और (२) चन्दबरदाई।

यमक और श्लेष पर आश्रित कुछ कूट भी मिलते हैं। यथा —

हरि हरि हरि बन हरित महि हरन पिय्यर्य अंषि।
सारँग रंकि सारंग हुवे सारँग करनि करष्पि॥[3]

यहाँ 'हरि' और 'सारँग' शब्दों के अनेक अर्थ हैं। 'सारँग' शब्द विद्यापति और सूरदास को भी बहुत प्रिय था और उन्होंने इसका अनेक पदों में प्रयोग किया है जिसका प्रमाण आगे के विवेचन में मिलेगा।

विद्यापति के कूटपद—पूर्वी हिन्दी (बिहारी) की उपभाषा मैथिली में पदरचना करने वाले विद्यापति कवि के पदों में चमत्कारात्मक कूटकाव्य का बहुत

---

१ रासो ६१ ११४८
२ वही ६१ ५
३ वही ६१ ७१

विरभिन्न रूप मिलता है। कबीर आदि सन्त कवियों और तत्कालीन अन्य तत्त्वदर्शी कवियों की अपेक्षा उसका कवित्व उत्तम काव्य कोटि का है। वह संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान् था। उसकी कवित्व-शक्ति अद्भुत थी। वह संस्कृत के काव्यशास्त्र में भी पारंगत था। साहित्यशास्त्र की परम्पराओं के ज्ञान से उसकी कवित्वकला का अद्भुत स्फुरण हुआ था। उसने जो कुछ लिखा चमत्कारपूर्ण लिखा। उसने अपनी अधिकांश रचना संस्कृत में की। पर अवहट्ठ अथवा 'मैथिल अपभ्रंश' (देसयवाणी) में भी उसकी थोड़ी सी रचनाएँ हैं और उसकी 'पदावली' मैथिली में है।[1] पदावली में अनेक कूटपद भी हैं। पदावली की भाषा के विषय में विद्वानों में बहुत समय से बड़ा मतभेद रहा है। कोई चालीस वर्ष पूर्व बंगाली लोग इसे बंगला मानते थे। श्री रामकृष्ण मुकर्जी नगेन्द्रनाथ गुप्त और डा. ग्रियर्सन के अन्वेषणों से इस मत का पूर्णतः निराकरण हो गया है। परन्तु स्व. पं. रामचन्द्र शुक्ल आदि हिन्दी के अनेक समालोचक इसे बिहारी अथवा पूर्वी हिन्दी की उपभाषा मानते हैं और विद्यापति की गणना हिन्दी के उच्च कोटि के कवियों में करते हैं। *निस्सन्देह शब्दावली की दृष्टि से (जैसा कि श्री मुकर्जी मानते हैं)*[2] मैथिली अन्य किसी भाषा की अपेक्षा हिन्दी के बहुत निकट है और विशेषकर विद्यापति की पदावली की भाषा तो कुछ प्रत्ययों और विभक्तियों को छोड़ कर तत्कालीन हिन्दी से बहुत कम भिन्न है।

पदावली के पदों में उच्च साहित्यिक उत्कर्ष और अनुपम धार्मिक भावोद्रेक है। इन पदों का साहित्यिक सौन्दर्य ही विद्यापति को कवियों की पंक्ति का अधिकारी बना देता है। पर उनका विशिष्ट चमत्कार है उनकी धार्मिक भावना में। वे मन को शान्तिवान् और उत्कृष्ट बनाते हैं तथा आत्मा को पवित्र और महान्। उनके कूट-पद काव्य-कला के प्रेम के फल हैं। मैथिली के कवियों और आचार्यों ने केवल रस को काव्य की आत्मा कभी नहीं माना। उन्होंने चमत्कारों को भी उतना ही महत्त्व दिया है। केशवमिश्र ने ऐसा ही माना है।[3] गोविन्द ठक्कुर के अनुसार काव्य का चमत्कार केवल रस में नहीं होता अलंकारों में भी होता है।[4] विद्यापति इसी मत का अनुयायी था अतः चमत्कार और रस

---

१ हि. सा. इ. पृ. १०

२ वही

३ चमत्कारकारित्वम् [illegible]

[illegible] ... चमत्कारमात्र हि काव्यम्।

—शिवनन्दनसिंह के 'महाकवि विद्यापति' से उद्धृत

दोनों के माध्यम से काव्य-चमत्कार उत्पन्न करके उसने अपना कौशल दिखाया।

विद्यापति-पदावली की काव्य-निधि में सर्वोत्तम पद रत्न वे हैं जिनमें राधा-कृष्ण की प्रणयलीला का वर्णन है। यद्यपि विद्यापति शैव था पर उसने शृगार के लिए राधा-कृष्ण के प्रेम को चुना। इस विषय में उस पर सुप्रसिद्ध गीतगोविन्दकार जयदेव महाकवि का बहुत प्रभाव पड़ा था। कुछ विद्वानों ने विद्यापति के प्रेमपदों में रहस्यवाद ढूंढ़ने का भी प्रयास किया है पर वे विफल ही रहे हैं। ये पद तो सरस और शुद्ध प्रगीत हैं जिनमें रतिभाव और उसके सचारियों की प्रचुरता है। रति ही उनमें एकमात्र स्थायी भाव है जिसके आलम्बन राधा और कृष्ण हैं। यद्यपि ये पद परम शृगारी हैं पर उनके द्वारा पर *वर्ती हिन्दू भक्तों में अद्भुत धार्मिक भावनाओं और आध्यात्मिक तत्त्वों का उदय* हुआ। चैतन्य महाप्रभु जैसे भक्त भी उन पर मुग्ध थे। ये पद ईश्वरीय प्रेम के उदात्त दर्शन के प्रतीक हैं—"प्रेम ही ईश्वर है प्रेम ही जगत् का शासक है, प्रेम ही जगत् का सच्चा धर्म है। विद्यापति के अनुसार प्रेम जीवन का चरम लक्ष्य है। जीवन मानो दो धाराओं के बीच प्रवाहित है। वे धाराएँ हैं स्त्री और पुरुष। उन दोनों के मिलन में ही जीवन का सत्य छिपा है। राधा और कृष्ण तो केवल उसके प्रतीक हैं। एक ही विश्वात्मा जीवों के प्रति अपनी अनन्त कृपा और प्रेम के वशीभूत दो स्वरूपों में प्रकट हुआ। उनमें से एक का दूसरे के प्रति अगाध प्रेम है। उनमें प्रेम की ज्वाला जल रही है। वह ससार को उपदेश देती है कि हम भी *उसी विश्वात्मा से उत्पन्न हैं, उसी के अंश हैं* अत उसके प्रति हमारे हृदय में भी वैसा ही प्रेम होना चाहिए, उसमें पुनर्मिलन की एकाकार होने की परम उत्कण्ठा होनी चाहिए। राधा और कृष्ण दो रूप होते हुए भी एक ही हैं। यह स्वत-सिद्ध सत्य है। इसके लिए तर्क की प्रमाण की आवश्यकता नहीं। एक का स्मरण दूसरे का भी स्मरण है। प्राचीनों का यह उपदेश इसी बात को स्पष्ट करता है। सम्पूर्ण वैष्णव दर्शन को इस एक दोहे में व्यक्त किया जा सकता है —

> हिय सर राधा कमल फूल रहौ बहु भाम।
> मोहन भँवरा रैन दिन रहै तहाँ मंडराय॥

(जिस हृदयरूपी सरोवर में राधारूपी कमल विविध रूपों में प्रफुल्ल रहता है उसमें कृष्णरूपी भ्रमर भी सदा मँडराता रहता है)। यह सौन्दर्य अनुभवैकगम्य और वर्णनातीत है।

विद्यापति द्वारा निर्मित राधा-कृष्ण की प्रेममूर्ति में ऐन्द्रिय रति का गहरा रग है। हिन्दू भक्तों के लिए साक्षात् ईश्वर-रूप राधा और कृष्ण की इस धारी

रिक और दैहिक रति को गुप्त रखने के लिए ही विद्यापति ने कूट जैसी रचनाओं का आश्रय लिया है। इन पदों में राधा और कृष्ण के प्रेम और प्रणय-लीलाओं का वर्णन है।[१] वय:सन्धि नख-शिख अभिसार, मान विरह आदि में कवि का भाव इतना प्रबल हो गया है कि नायक-नायिका कवि की उद्दीप्त भावना के अनुवर्ती मात्र प्रतीत होते हैं। कवि की चित्तता और कल्पना की कुशलता के सम्मुख राधा और कृष्ण भूक पाते हैं।

कूट-रचनाओं में विद्यापति ने यमक अतिशयोक्ति विरोधाभास और सन्देह आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं इनमें से एकाधिक अलंकार का संकर अथवा संसृष्टि भी है। उनके कूट-पदों के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। अतिशयोक्ति पर आश्रित कूट का उदाहरण देखिए —

सजनी अपरुब पेखल रामा।
कनकलता अवलम्बन ऊयल हरिन हीन हिमधामा।
नयननलिनि दुओ अंजन रंजइ भौंह विभंग विलासा॥
चकित चकोर जोर विधि बाँधल केवल काजर पासा।
गिरिवर गरुअ पयोधर परसित गिम गज मोतिम हारा।
काम कम्बु भरि कनक सम्भु पर ढारत सुरसरि धारा॥
पइसि पयाग जाग सत जागइ सोइ पावइ बहु भागी।
विद्यापति कह गोकुलनायक गोपी जन अनुरागी॥

(हे सजनी मैंने एक अपूर्व रमणी देखी। मानो सोने की लता (राधा की सुन्दर अंगयष्टि) का सहारा लेकर हिम का धाम अर्थात् चन्द्र (मुखचंद्र) उदित हुआ जो हरिण (कलंक) से रहित था। उसके दोनों कमलनयन अंजन रंजित थे और उसका भृकुटि-विभंग अत्यन्त विलासमय था। नयनों की चंचलता ऐसी प्रतीत होती थी मानो विधि ने चकोर-युग्म को कज्जल के पाश से बलात् बाँध रखा है। पर्वत सदृश गुरु पयोधरों को स्पर्श करता हुआ मोतियों का हार उसकी ग्रीवा पर था। ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेव ग्रीवारूपी शंख में हार रूपी गंगाजल भरकर शम्भु रूपी कुचों पर उँडेल रहा हो। विद्यापति कहता है

---

१ विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में बँधी हुई राधाकृष्ण के चरणों पर समर्पित की गई है क्योंकि प्रेम के माध्यम से अपने हृदय के सभी विचारों को अभिव्यक्त कर दिया है ... इस प्रकार का ऐसा लिखना अच्छा है जिससे राधाकृष्ण के नाम का तत्त्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है ... वि ... ना ... था ... ह ... प ... अक्षर
२ वि प

कृष्ण और गोपियों में अनुराग रखने वाला वही भाग्यवान् उस रमणी को पा सकता है जिसने प्रयाग में सौ यज्ञ किए हैं। यहाँ 'कनकलता' आदि में कूट है और 'गिरिवर मध्य' वाली पंक्ति में सुन्दर उत्प्रेक्षा है। उरोजों पर लटके हुए कण्ठस्थ हार को देखकर कवि ने कामदेव द्वारा शिवमूर्ति पर कलश से भरा हुआ गंगाजल उँडेलने की उत्प्रेक्षा की है।

कूट का एक ऐसा ही और उदाहरण देखिए —

ए सखि पेखल एक अपरूप ।
सुनइत मानबि सपन सरूप ॥
कमल जुगल पर चाँद क माला तापर उपजल तरुन तमाला ।
ता पर बेढ़लि बिजुरीलता कालिन्दी तट धीरे चलि जाता ॥
साखा सिखर सुधाकर पाँति ताहि नवपल्लव अरुनक भाँति ।
बिमल बिम्बफल जुगल बिकास तापर कीर थीर कर बास ॥
तापर चंचल खंजन जोर तापर साँपिनि झाँपल मोर ।
ए सखि रंगिनि कहल निसान हेरइत पुनि मोर हरल गिआन ।
कवि विद्यापति एह रसभान । सुपुरुख मरम तुहु भलजान ॥

(हे सखि आज मैंने एक अपूर्व पुरुष देखा। सुनने पर तो उसे स्वप्न का स्वरूप ही माना जा सकता है। दो कमलों (पैरों) पर चन्द्रमाओं की माला (नख) थी। उन पर एक तरुण तमाल का वृक्ष (कृष्ण का तरुण शरीर) उगा हुआ था। उस वृक्ष पर बिजली की लता (पीताम्बर) विद्यमान थी। वह पुरुष यमुना तट पर धीरे-धीरे चला जा रहा था। उसकी शाखाओं (भुजाओं) के शिखर (अँगुलियों) पर चन्द्रमा की पंक्ति (नख) थी और उसके नए पल्लव (हथेली) लाल रंग के थे। उस पर दो चंचल खंजन (नेत्र) थे और उन पर सर्पिणी (अलकें) मोर (मोरमुकुट) को ढके हुए थी। हे सखि मुझे उस पुरुष का परिचय बताओ। मैं तो उसे फिर देखकर अपना सारा ज्ञान खो बैठूंगी। कवि विद्यापति इस रस को भली प्रकार जानता है पर हे सखि! उसके रहस्य को तुम्हीं बता सकती हो)।

अतिशयोक्ति विरोध अनुप्रास आदि अलंकारों के संकर से युक्त कूट का एक उदाहरण यह है —

जुगल सैल सम हिमकर देखल एक कमल दुइ जोतिरे ।
फुललि मधुर फुल सेंदुर लोटायल पाँति बइसलि गजमोतिरे ॥
आज देखल जति के पतिआएत अपुरुब बिहि निरमानरे ।

---

१ वि० प० प ३९

मालिठि तहिका मते ।।
जाहि लागि गेल्हु से चलि भाएल ।
तो मोय बाएल मुकाई ।
से चलि येल ताहिलए चलिलहु
ते पथ मेल मने थाई ।
संकर वाहन खेडि बेलाइत ।
मेदिनि वाहन आगि ।
जे सब भडलि सग से सब चालति भंग ।
उबरि मएलहु भति भागि ।
जाहि पुर खीज करइ भवि सामुन्हि
से मिलु अपना संगे ।
भनइ विद्यापति सुनु बर जौवति
गुपुत नेह रति रंगे ।।

इस पद से दो अर्थ हो सकते हैं। एक कृष्ण के पक्ष म और दूसरा वर्षा के पक्ष मे। कृष्ण के पक्ष मे हे प्रिय सखि ! जिस (कृष्ण) के लिए मैं यहाँ गयी उस मेरे प्रियतम को तुम यहाँ क्या नहीं लायी। बताओ तुम्हारे पति का वैरी यह अब कहाँ है (जिसने तुम्हें मिलने का वचन दिया था)? अपने उस भोग के सुख का भी अपने मुख से वर्णन करो जिससे तुम्हारे भूषण खो गए। हे सुन्दरी! तुम जिसका उदय होने पर आयी थी उसका अन्त होने पर जा रही हो अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक तुम जो बाहर रही हो उसका क्या कारण अपने पति को समझाओगी। सुन्दरी जिसे देखने मैं गयी थी वह तो स्वय ही यहाँ आ गया और उसने मुझे गोद मे उठा लिया। जब मेरी सखियाँ चली गयी तो मैं भी अपने प्रेमी के साथ चली गयी। मार्ग मे उस (माधव) ने मेरे साथ बड़ा अभ्यास किया। वह सूमारचारी (माधव) तो आगे चला गया और मैं थककर वाहनों (बैल-गायों) के साथ खेलती रही। माधव को देखकर मेरी सब सखियाँ मुझे छोड़कर चली गयी और तब मैं किसी प्रकार माधव से छुटकारा पाकर भाग्य से यहाँ आ गयी हूँ। सखि हम दोनो को आप ढूँढ रही है पर हम पहले ही मिल चुके हैं। विद्यापति कहता है हे वर युवति गुप्त प्रेम के चिह्न तुम मे स्पष्ट दिखायी पड़ रहे हैं।

वर्षा के पक्ष म प्रिय सखि मैं पानी लेने गई पर न ला सकी। बताओ

---

१ वि प प १३१

तुम्हारा घट कहाँ है ? तुम्हारा अवगाहन नष्ट हो गया है । अब अपनी अवस्था का अपने ही मुख से वर्णन करो । प्रिय सखि अपने पति को प्रातः से शाम पर्यंत बाहर रहने का क्या कारण बताओगी ? सखि मैं तो वहाँ पानी लेने गई थी पर पानी तो स्वयं आ गया अर्थात् वर्षा होने लगी । इसलिए मुझे भाग कर छिप जाना पड़ा । जब वर्षा रुकी तो मैं फिर चली पर रास्ता बदल गया । मार्ग में मैंने आपस में लड़ते हुए बैल देखे और एक साँप भी मेरे सामने रेंग रहा था । मेरी सब सखियों ने मुझे छोड़ दिया और वे विभिन्न दिशाओं में चली गईं । मैं सौभाग्य से बचकर लौट आई । दोनों वस्तुएँ (जल और घट) जिन्हें तुम्हारी सास ढूँढ रही है अपने-अपने तत्त्व में मिल गये हैं । विद्यापति कहता है, हे सखि पुष्प प्रेम के चिह्न तुम्हारे शरीर पर स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं । यहाँ 'तापति बैरि पितु' की व्याख्या इस प्रकार होगी (१) पिता अर्थात् तुम्हारे पति का बैरी और (२) अपने स्वामी के शत्रु का पिता अर्थात् कूप को पुराणानुसार समुद्र के शत्रु अगस्त्य का पिता कहा जाता है ।

ऐसा ही एक उदाहरण आगे का पद भी है जिसमें राधाकृष्ण की विपरीत रति का वर्णन है पर जिसमें वर्षा विषयक अर्थ भी ध्वनित होता है ।

सखि हे कि कहब किछु नहि फूर ।
सपन कि परतेख कहए न पारिए किए नियरे किए दूर ॥
तड़ितलता तल जलद समारल आँतर सुरसरि धारा ।
तरलतिमिर ससिसूर गरासल चौदिस खसि पड़ तारा ।
अम्बर खसल धराधर उलटल धरनी डगमग डोलै ।
खरतर बेग समीरन संचर चंचरि गन कर रोलै ॥
प्रलयपयोधि जले जनि झाँपल इ नहि जुग अवसान ।
के विपरीत कथा पतिआयत कवि विद्यापति भान ॥

वर्षा के पक्ष में इसका अर्थ है हे सखि क्या कहूँ मेरी समझ में कुछ नहीं आता । मैं कह नहीं सकती कि यह बात स्वप्न थी कि प्रत्यक्ष निकट थी कि दूर । तड़ितलता के नीचे बादल घिरे थे । उनके बीच गंगा की धारा थी । तिमिर अन्धकार ने सूर्य और चन्द्र को ग्रस लिया था । तारे चारों ओर खिसक कर गिर गए थे । आकाश मानो खिसक रहा था पर्वत उलट रहे थे और पृथ्वी डगमगा रही थी । तीव्र वेग से समीर चल रहा था । भ्रमर गुंजार कर रहे थे । प्रलय के मेघों ने मानो घेर लिया था और युग का अवसान काल आ गया था । विद्यापति कहता है कि कौन

---

१ वि० प० प० १२

विश्वास कर सकता है कि यह कथा वास्तव मे विपरीत है अर्थात् यह विपरीत रति का वर्णन है।

विपरीत रति के पक्ष मे है कवि राधा-कृष्ण की विपरीत रति का कैसे वर्णन करूँ। मुझे शब्द ही नही मिलते। मुझे यह भी समझ मे नही आता कि यह स्वप्न की बात है या प्रत्यक्ष की। जलद समान कृष्ण नीचे लेटा था। तडितलता जैसी राधा ऊपर थी। उन दोनो के मध्य ग्रीवा का हार गगा की धारा के तुल्य था। घोर अन्धकार जैसे राधा के केशो ने उसके चन्द्रमुख और सिंदूर रूपी सूर्य को आच्छन्न कर लिया था। पुष्परूपी तारे चारों ओर खिसक कर गिर रहे थे। राधा का वस्त्र खिसक गया और उसके पर्वतोपम कुच नीचे को झुक गए। राधा के पृथ्वीरूपी उरु डगमगाने लगे। तीव्र श्वास रूपी वायु का सचार हुआ और करधनी की ध्वनि के रूप मे जयजयकार पुकार उठे। वे दोनो प्रणय के समुद्र मे पूर्णत डूब गये और उनके सयोग का कभी अन्त न हुआ। विद्यापति कहता है कि इस विपरीत रति की कथा का कौन विश्वास करेगा।

आगे के कूट मे अर्थ बहुत घुमा-फिरा कर व्यक्त किया गया है

कुसुमित कानन कुंजे बसी नयनक काजर घारि मसी ॥
नखसौं लिखल नलिनिदलपात लीखि पठाओल आखर सात ॥
पहिलहि लिखलनि पहिल बसंत दोसरें लिखलनि तेसरक अंत।
भनइ विद्यापति आखर लेख, बुधजन हो से कहए बिसेख ॥

(कुसुमित वन की कुंज मे बैठी राधा ने अपने नयनो के कज्जल की मसी बनाई और कमलिनी के पत्ते पर नखों से लिखने बैठी और उसने सात अक्षर लिखकर उस पत्र को अपने प्रिय के पास भेज दिया। पहले तो उसने वसत ऋतु का पहला मास 'मधु' (चैत्र का नाम) लिखा। फिर तीसरी ऋतु वर्षा के अन्त हस्त नक्षत्र का पर्याय 'कर' लिखा। (वर्षा वसन्त से तीसरी ऋतु है और उसका अन्त हस्त नक्षत्र मे होता है। हस्त का पर्याय कर है)। इस प्रकार उसने 'मधुकर' लिखा। लज्जावश वह 'मधु' के बाद वसत का अनुज 'माधव' (जो वैशाख का दूसरा नाम है) न लिख सकी। विद्यापति कहता है कि इन अक्षरो के विशिष्ट अर्थ को बुधजन ही जानते है)। टीकाकार यह मानते है कि राधा ने 'मधुकर धावैछि' लिखा जिसका मैथिली मे अर्थ है 'मधुकर (कृष्ण) धा रहा है'। वह लज्जावश 'माधव' न लिख सकी। इस पद के साथ संस्कृत के इस श्लोक की तुलना की जा सकती है —

१ वि प प २४१

हिन्दी काव्य-कानन के कृष्णभक्ति-रूपी पारिजात का पोषण किया। भक्त के रूप में उनकी गणना कबीर, दादू और नानक के साथ होगी जिन्होंने परमब्रह्म का यशोगान किया पर कवि के रूप में वह कालिदास भारवि श्रीहर्ष जयदेव और विद्यापति के समकक्ष हैं जिन्होंने काव्य-कला की विविध जटिलताओं को सुलझाने में अपनी निपुणता का प्रदर्शन किया। निःसन्देह सूरदास की काव्यानुभूति को प्रमुख प्रेरणा राधा और कृष्ण की अगाध भक्ति से मिली पर उसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में उत्तम परिष्कृत और उदात्त कवित्व भी विद्यमान है जो विस्मय उत्पन्न करता है और शब्द-चित्रण के प्रयोग में सूर की निपुणता का ज्वलंत प्रमाण है। सूर ने कुछ कूटपद भी लिखे हैं जो संख्या और उत्तमता दोनों ही दृष्टियों से अप्रतिम हैं और उनकी विलक्षण-कला के अनुपम उदाहरण हैं। बहुत सम्भव है कि विद्यापति के कूट-पद सूर के दृष्टकूटों के लिए प्रेरणास्रोत रहे हों क्योंकि दोनों कवियों के दृष्टिकोणों में बहुत साम्य है। प्रथम तो राधाकृष्ण की प्रेमगाथा के चित्रमय वर्णन के क्षेत्र में सूरदास के सम्मुख विद्यापति ही आदर्श बन सकते थे। आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रारम्भिक कवियों में विद्यापति ही अग्रणी और युग-प्रवर्तक थे और हिन्दी गुजराती और बंगाली के परवर्ती भक्त कवियों ने उन्हीं के मार्ग का अनुसरण किया है। दूसरे सूरदास विद्यापति का सहारा इसलिए भी ले सकते थे कि उसी ने सर्वप्रथम शृंगार और उदात्त भक्ति का समन्वय किया था। मधुर भक्ति के तत्त्व का सम्यक् चित्रण सूर और विद्यापति दोनों का उद्देश्य था अतः अपने पूर्वगामी विद्यापति से प्रेरणा प्राप्त करना सूर के लिए स्वाभाविक था। सच्चा भक्त लयात्मक गीतों और गेय पदों के माध्यम से अपनी भक्ति-भावना की कोमल व्यंजना किए बिना नहीं रह सकता इसलिए सूरदास विद्यापति से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि भारत के लोकप्रिय विरहगायकों में विद्यापति ही सर्वाग्रणी और सर्वप्रथम थे। अनेक पदों के तो वर्ण्यविषय शब्दावली शैली आदि इतने समान हैं कि सरलता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूर विद्यापति के सर्वथा ऋणी हैं। इन दोनों महाकवियों के काव्य-रचना के विषय और उद्देश्य एक से थे अतः सूर के लिए यत्र-तत्र विद्यापति की कला का अनुसरण करना तथा उदात्त काव्य की गम्भीरता और महत्ता लाने के लिए कूट-पद्धति का अपनाना भी सम्भव था।

सम्भवतः इसीलिए विद्यापति जैसे प्रकाण्ड कलाकारों की परम्परा का पालन करते हुए सूर की रचनाओं में कूटों को स्थान मिल गया। इस प्रकार सूरदास

---

१. तुलनार्थ देखिए अध्याय ६

की रचनाओं में प्राप्त गूढार्थक कूटकाव्य का महत्व स्वयं प्रतिपादित है और कविता तथा भक्ति दोनों ही दृष्टियों से उनकी समीक्षा भी अपेक्षित है। इसीलिए अगले अध्यायों में सूर के कूटपदों की समीक्षात्मक विवेचना की जाएगी।

निष्कर्ष

१ कूटकाव्य की परम्परा बहुत प्राचीन है और ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के प्रहेलिका मन्त्रों में इसका बीज निहित है।

२ उपनिषदों में भी अध्यात्म सम्बन्धी अनेक उक्तियाँ कूटशैली में हैं।

३ प्राचीन वैदिक ग्रन्थों की यह कूटकाव्य की परम्परा मूलतः गूढ और रहस्यवादी कही जा सकती है यद्यपि उनमें शब्द-वैचित्र्य और चमत्कार आदि काव्य के अन्य तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

४ कथात्मक कूटों का प्रारम्भ महाभारत की ग्रन्थग्रन्थियों से होता है। व्यास के अनुसार इन ग्रन्थियों अथवा कूटों की संख्या ८८ है और इनकी रचना सोद्देश्य की गई थी। अनेक स्थलों पर दो व्यक्तियों के वार्तालाप में गोपनीयता ही इनका मुख्य उद्देश्य था। किन्तु इन श्लोकों की रचना में चमत्कार प्रदर्शन और काव्य-कौशल तथा प्रतिभा का प्रदर्शन भी एक कारण था।

५ संस्कृत के कवियों को कूट-रचना के लिए महाभारत के कूट-श्लोकों से ही प्रेरणा मिली और परवर्ती संस्कृत साहित्य में इस प्रकार की रचना प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। भागवत जैसे धर्म-ग्रन्थ तथा भारवि माघ और हर्ष आदि कवियों की कृतियों में अनेक कूट-श्लोक पाये जाते हैं। इन रचनाओं का मुख्य उद्देश्य पाण्डित्य और काव्यकला-कौशल का प्रदर्शन ही था।

६ संस्कृत के बाद कूट-शैली की कूटकाव्य परम्परा अपभ्रंश में सिद्धों के रहस्यवादी पदों में दिखलाई देती है। पाली और प्राकृत में इस प्रकार की रचना का अभाव है।

७ संधाभाषा के पद, नाथपन्थियों की विपर्ययोक्तियाँ और सन्तकवियों की उलटबाँसियाँ कूटकाव्य का ही एक रूप हैं। इनकी रचना रहस्यात्मक और दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए की गई थी। अतः ये रचनाएँ भी गूढ या रहस्यवादी कही जा सकती हैं।

८ हिन्दी में कलात्मक कूट की परम्परा सर्वप्रथम अमीर खुसरो की रचना में दृष्टिगोचर होती है। तदनन्तर विद्यापति के कूटपदों में उसका अधिक विकास हुआ।

९ सूरदास के कूटपदों में भी इसी परम्परा का निर्वाह किया गया है।

१ सूरदास के कूटपदों की रचना में विद्यापति के पदों से ही विशेष प्रेरणा मिली होगी क्योंकि दोनों के कूटपदों के विषय शब्दावली और शैली आदि में पर्याप्त साम्य है तथा इस प्रकार की रचना करने का दोनों का उद्देश्य भी प्रायः एक ही था अर्थात् मधुराभक्ति का विवेचन ।

द्वितीय भाग

सूर के दृष्टकूट पद

अध्याय ४

सूरदास के दृष्टकूट पद

कूटपदों का सर्वेक्षण

सूरदास ने लगभग तीनसौ कूटपद लिखे थे जिनमें से एकसौ अठारह (११८) साहित्य लहरी में बत्तीस (३२) सूरसारावली में और शेष सूरसागर में हैं। साहित्यलहरी एक पृथक् संग्रह-ग्रंथ है जिसमें केवल कूटपद हैं। इसके अतिरिक्त सूर के दृष्टकूट पदों के कुछ अन्य संग्रह भी हैं पर वे पृथक ग्रंथ नहीं हैं क्योंकि उनके प्रायः सभी पद सूरसागर से उद्धृत हैं।

सूरसागर के कूटपद

सूरदास के नाम से सम्बद्ध[2] अनेक रचनाओं में सूरसागर सर्वाधिक प्रसिद्ध है और सभी विद्वान् एकमत से उसे सूर की प्रामाणिक रचना मानते हैं यद्यपि उसके पदों की संख्या और वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद है। इसका प्रमुख विषय है कृष्णभक्ति और कृष्ण की जीवन-गाथा विशेषकर कृष्ण की बाल-लीलाएँ और राधा तथा गोपियों के साथ उनकी प्रेम-क्रीडाएँ। कथा का मूल सूत्र भागवत से लिया गया है और उसी के आदर्श पर सूरसागर की रचना भी बारह स्कन्धों में की गयी है। दशम स्कन्ध सबसे अधिक लम्बा है और उसमें आद्योपान्त कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा-प्रयाण तक के जीवन की कहानी कही गयी है। इस स्कन्ध में सूर के अधिकांश कूटपद आये हैं।

अत्यन्त खेद की बात है कि अभी तक सूरसागर का कोई प्रामाणिक और व्यवस्थित संस्करण उपलब्ध नहीं है। अतः उसके कूटपदों की ठीक संख्या और शुद्ध पाठ का निर्धारण कर सकना भी सम्भव नहीं है। परम्परा के अनुसार तो सूरदास के सवा लाख पद माने जाते हैं[3] पर वास्तव में अब तक पाँच-छ

---

१ इन शब्दों के विस्तार के लिए देखिए परिशिष्ट (क)

२ सूरदास के नाम से सम्बद्ध ग्रन्थों की पूरी सूची के लिए देखिए अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ १२ और सूर निर्णय पृ १

३ श्री राधाकृष्णदास ने अपने संस्करण की भूमिका में लिखा है

(क) सूरदासजी के सवा लाख पद बनाने की किंवदन्ती जो प्रसिद्ध है वह ठीक विदित होती है क्योंकि स्वयं पद ना भी अष्टछाप भी के लिखे होने के कारण

प्रकाशित किसी अन्य संस्करण पर आश्रित बताया गया है) केवल दशम स्कंध के पूर्वार्ध के पद हैं। इनमें कुछ ऐसे भी पद हैं जो प्रथम संस्करण में नहीं हैं अतः यदि उन्हें प्रथम में जोड़ दें तो पदों की कुल संख्या पाना सहज हो जायेगी। सभा वाला संस्करण अभी कुछ दिन पूर्व दो खंडों में प्रकाशित हुआ है और उसके पदों की संख्या ५१६६ (४६३६ मूल ग्रंथ में और २६ दो परिशिष्टों में) है। यह प्रामाणिक और व्यवस्थित संस्करण बताया गया है और उसके सम्पादन में उक्त दोनों प्रकाशित संस्करणों तथा कुछ हस्तलिखित प्रतियों की सहायता ली गयी है ऐसा बताया जाता है।[1] परन्तु सम्यक् परीक्षा करने पर यह दावा ठीक नहीं प्रतीत होता। पहले तो न उन हस्तलिखित प्रतियों का कोई विवरण ही दिया गया है जिनके आधार पर इसका सम्पादन किया जाता है और न कोई पाठान्तर ही दिये गये हैं। दूसरे ऐसे और भी पद हो सकते हैं जो अन्य हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्य हों और जिनका उपयोग विद्वान् सम्पादक ने नहीं किया हो। अतः सूरसागर के सम्पूर्ण पदों की संख्या के विषय में अब भी भारी मतभेद है और इस प्रसंग में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि सभी प्राप्य हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र कर उनकी तुलना तथा व्यवस्थित अनुशीलन और परीक्षा करके कोई प्रामाणिक संस्करण न निकाला जाये। ऐसी स्थिति में कूटपदों की संख्या का निर्धारण करना तो और भी कठिन है। कुछ लेखक समय-समय पर सूरसागर के कूटपदों का संग्रह करने का प्रयत्न करते रहे हैं पर सर्वांगपूर्ण संग्रह अभी तक नहीं हो पाया है। इस प्रबन्ध में सूरसागर के कूटपदों सहित सूर के सभी कूटों का संग्रह करने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया गया है।[2] परन्तु सूरसागर के कूटपदों के इस संग्रह को भी सर्वांगपूर्ण संग्रह नहीं कह सकते क्योंकि यह भी पूर्वोक्त प्रकाशित संस्करणों कुछ हस्तलिखित प्रतियों[3] और कुछ प्रकाशित अथवा हस्तलिखित

---

१ भूमिका पृ १

२ देखिए, परिशिष्ट (क)

३ जिन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है वे ये हैं :—

(अ) कांकरौली की प्रति—लि सं० १८०१

(आ) आगरा की प्रति—तिथि अज्ञात

(इ) मथुरा की प्रति—लि स १८८५

(ई) दिल्ली की प्रति—लि सं १८७०

(उ) कांकरौली की प्रति—लि सं १६५८ ४६।१

(ऊ) आगरा की प्रति—लि० सं १ १ १ ।१

(ऋ) आगरा की प्रति—लि० सं १८०१ । ।१

स्फुट संग्रहों पर आश्रित है।

इस संग्रह में सूरसागर से सम्बन्धित १२५ कूटपद हैं जिनमें से अधिकांश सूरसागर की प्रायः सभी प्रतियों तथा स्फुट संग्रहों में मिलते हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। शेष के विषय में निश्चयपूर्वक तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता पर शैली समान शब्दावली वर्ण्य-विषय और जिस भावना को लेकर वे रचे गए हैं उसके देखने पर यही प्रतीत होता है कि वे सूरदास-रचित ही हैं। शुद्ध पाठ की दृष्टि से बम्बई और लखनऊ वाले संस्करण प्रायः अविश्वसनीय हैं। सभा वाले संस्करण में निःसन्देह शुद्ध पाठ देने का प्रयत्न किया गया है पर फिर भी उसे पूर्णतः प्रामाणिक और शुद्ध नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ दसवें पद में 'पच तिरले एक ही छिप' के स्थान पर 'पचवारिज एक ही छिप' अधिक शुद्ध प्रतीत होता है। इसी प्रकार तेतीसवें पद में मोरपख के प्रसंग में 'तापच' के स्थान पर 'तासुत' (उसकी उपज) पाठ होता तो अधिक सरलता उत्पन्न होती। फिर भी हमने अपने संग्रह में प्रायः सभा वाले संस्करण के पाठों को ही रखा है। किन्तु जहाँ कहीं उसके पाठ अप्रामाणिक प्रतीत हुए हैं तो उनके स्थान पर अन्यत्र लब्ध शुद्ध पाठ रख दिए गए हैं।

सूरसारावली के कूटपद

सूरदास की दूसरी रचना है सूरसारावली जिसमें कुल पदों की संख्या ११०७ है और उनमें से ३६ कूटपद हैं। उनमें पद-संख्या ६३७ से ६६६ तक कूटपद हैं जैसा कि ६६६ के बाद 'अष्टकूट सूचनिका सम्पूर्णम्' से विदित है और ६८६ से ६९१ तक भी। इस ग्रन्थ की कोई हस्तलिखित प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है पर मुद्रित रूप में यह सूरसागर के बम्बई संस्करण के आदि में मिलता है। इसके नाम और अध्ययन से स्पष्ट है कि यह सूरसागर के वर्ण्य-विषय का संक्षिप्त सार है।

सूरसारावली के लेखक के विषय में हिन्दी के विद्वानों में मतभेद है। कई

---

१ परिशिष्ट (क)

२. (क) सूरसागर (हिन्दी) भवानी सूरदास रचित सूरसारावली तथा स्वामिनी पदों का सूचीपत्र

(आ) श्री वल्लभ[illegible] स्वामी [illegible] ।
[illegible]

(इ) यह सारावली तथा सूरसागर की रचना का संकेत में [illegible] है। [illegible]
पृ० १४

विद्वान् उसे सूर की रचना मानने क पक्ष में नहीं हैं। अधिकांश विद्वान् तो उसे सूर ही की रचना मानते हैं पर डा व्रजेश्वर वर्मा ने अपने सूर विषयक निबन्ध मे भिन्न मत का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है "वर्ण्य-विषय भाव भाषा शैली और छन्दावली की दृष्टि से सूरसारावली सूरदास की रचना नहीं प्रतीत होती।"[1] इस कल्पना की पुष्टि म उन्होंने सूरसागर और सारावली की कथावस्तु में कोई सत्ताईस स्थलो पर भेद होने का निर्देश किया है[2] और उससे यह निष्कर्ष निकाला है कि सारावली महाकवि सूरदास का ग्रंथ नहीं किसी अन्य कवि की रचना है जिसने उसे सूर की रचना के नाम से प्रसिद्ध कर दिया।[3] डा वर्मा के तर्क सक्षेप मे इस प्रकार हैं —

सारावली का वर्ण्य-विषय सूरसागर से बहुत भिन्न है। सूरदास और सारावली के रचयिता के दृष्टिकोण मे भी बहुत भेद है क्योंकि सारावली के लेखक ने भागवत की अपेक्षा अन्य पुराणो का अधिक आश्रय लिया है। सारावली की भाषा सूरसागर की भाषा से बहुत भिन्न है विशेषकर, विभक्तियो रूपों और कुछ धातुरूपो मे।

श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'सूर-निर्णय' ग्रंथ म इन तर्कों की निस्सारता सिद्ध कर दी है[4]। उन्होंने विस्तारपूर्वक इस प्रश्न का विवेचन किया है और दोनो ग्रन्थो की तुलना करके ये निष्कर्ष निकाले है

(१) वर्ण्य-विषय भाव भाषा और शैली की दृष्टि से सारावली निस्सन्देह सूर की रचना है। कवि के विविध उपनाम और उसम पाई जाने वाली कुछ स्वरचित उक्तियाँ इसके प्रबल प्रमाण हैं।

(२) सारावली 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' पर आश्रित है।

(३) उसका दृष्टिकोण प्रधानत सिद्धान्तपरक है।

(४) इसकी रचना वि स १६ २ मे हुई थी और इसमे सूरदास के उस समय तक के दैनिक पूजा और वर्षोत्सव के लिए निर्मित पदों का संक्षिप्त सार है।

डा दीनदयाल गुप्त और प्रो मुंशीराम शर्मा ने भी इसी मत की स्थापना की है कि सारावली सूरदास की रचना है। डा गुप्त के तर्क ये हैं

१ सूरदास पृ० १ ५
२ सूरदास पृ० ४१-६२
३ पृ १०२—यह सम्भावना अधिक है कि यह 'रॅगुमिया मरौमम' नाने वाला कवि नाम-साम्य और विचार-साम्य के कारण अपनी रचना को प्रसिद्ध भक्त कवि सूरदास की रचना के सम्बन्ध रखने का लोभ संवरण न कर सका।
४ सूरनिर्णय पृ० १७२-७१

और भी ११६ ६६

सैलसुतापति ताके सुतपति ताके सुतहिं मनावति ।

३ साराबली १४४

सारँग ऊपर सारँग राजत सारँग सम्भ सुनावै ।
सारँग देखि सुनै मृदु बैनी सारँग सुख बरसावै ॥

सूरसागर ५११ ४७

सारँग ससि सारग पर सारग ता सारँग पर सारग बैनी ।
सारँग रतन बसन सुनि सारँग सारँग सुत प्रिय निरखि निवैनी ॥

४ साराबली १४५

सारँग रिपु की बरन और वै कहु बैठी है मौन ।
ब्रह्मसुता सारँग के मोवे करत सकल बसमौन ॥

सूरसागर ११२ २

सारग रिपु की ओट रही दुरि सुन्दर सारँग चार ।
सति मुख चमित सुमिल बीड संग मन सारँग की अनुहार ॥

और भी २५१ ५१

सारँगरिपु की मंगु ओट करि क्यों सारग मुख पावत ।

५ साराबली १४६

सारँगसुता देखि सारग को तेरी अवल सुहाग ।
सारँगपति ता पति ता बाहन कीरति रह अनुराग ॥

सूरसागर २ ५४४१

सारँगरिपुसुतपतिरिपु वा रिपु तारिपुसमय लिवावै ।
हरिवाहनबाहनपदनायक तासुत आनि बचावै ॥

और भी ६१४ ४०

सारँग कहत सुनत वै सारग सारँग मनहिं दिए ।
सारँग पथिक कँटि वै सारँग सारँग मिलन हिए ॥

६ साराबली ६३१

बरसि कमल मैं कमल कमल कर मधुर बचन उच्चार ।
कमलावाहन पहुत कमल सौं कमलन करत विचार ॥

सूरसागर १८ ३।२

कमल पर कमल बरसि धर लाव ।
कामवती सुचतो वै कमला कमलैं मिल सूरश्याम ॥

साहित्यलहरी २१

निरखि सारंग नयन सारंग सुमुख सुन्दर फेर ।
कहुँ सारंग सुत बदन सुनि रही नीच तेर ॥

२ सारावली ७२१

वायस भखा सबद मनमोहन रटत रटत दिन रैन ।
तारापति के रिपुपुर ठाढे देखत हैं हरि नैन ॥

साहित्यलहरी १६

वायस भखा सबद की मिलवनि कीन्हौं काम अनूप ।
सब दिन राजत नीरज आपे सुन्दर स्याम सरूप ॥

साहित्यलहरी के कूटपद

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं साहित्यलहरी एक पृथक स्वतन्त्र ग्रंथ है जिसमे केवल कूटपदो का संग्रह है। इन पदों में नायिकाभेद रस भाव अलंकार आदि रीतिशास्त्रीय विषयो का वर्णन है। इस ग्रंथ की भी कोई हस्तलिखित प्रति अभी तक देखने में नहीं आई। परन्तु विभिन्न टीकाओं सहित इसके अनेक मुद्रित संस्करण प्राप्य हैं। उनमे से दो प्रमुख हैं

(१) श्री सूरदास का दृष्टकूट सटीक टीकाकार—सरदार कवि प्रकाशक—नवलकिशोर प्रेस (चतुर्थ संस्करण—१६१२ ई०)। इसकी फरवरी १८६७ के द्वितीय संस्करण की एक प्रति लखनऊ में श्री भवानीशंकर याज्ञिक के पास सुरक्षित है।

(२) साहित्यलहरी सटीक अर्थात् साहित्यलहरी का तिलक—संकलनकर्ता और सम्पादक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रकाशक—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर, पटना (प्रथम संस्करण १८६२ ई०)। इसका एक नया संस्करण वि० सं० १९९९ में श्री महादेव प्रसाद की आधुनिक हिन्दी (खड़ीबोली) टीका के साथ पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय पटना से निकला है। पर इसका पाठ बिलकुल भारतेन्दु के संस्करण वाला ही है अतः इसमें कोई विशेष नवीनता नहीं। सरदार कवि की टीका वाले संस्करण का नाम प्रकाशक ने रखा है 'श्री सूरदास का दृष्टकूट सटीक।'[1] इसकी टीका के अन्त में लिखा है 'इतिश्री सुकवि

[1] काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (१६ ई० सं २ ६ २) में एक अपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ का उल्लेख है जिसका नाम है 'सूरदासजी के दृष्टकूट अथवा 'सूरशतक सटीक' जिसके विषय में डा० दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में पृ० २२४ पर लिखा है कि यह सूरदास की साहित्यलहरी से भिन्न नहीं है।

था। इस पुरानी टीका का नाम था 'सूरसागर का टीका'।[1]

(२) सरदार ने इस टीका के अर्थों को अपना लिया और अपनी तरफ से भी कुछ जोड़ दिया। उसमे पदो के क्रम मे भी यथेष्ट परिवर्तन कर दिया और इस प्रकार नये रूप में नयी टीका प्रस्तुत करदी।

(३) सरदार ने मूल सटीक ग्रन्थ में ११ पद और जोड़ कर पदो की संख्या भी बढ़ा दी[2]। उसने टीका के अन्त में कहा है कि उसने सूरसागर का मथन करके ये रत्न निकाले और उन पर टीका लिखी।[3] इससे स्पष्ट है कि इसमें ये पद सूरसागर से उद्धृत किये हैं।

(४) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इस प्राचीन टीका का उपयोग किया और उसके तथा सरदार कवि की टीका के भेदों का निर्देश किया।

(५) भारतेन्दु ने सरदार कवि द्वारा जोड़े हुए पदों को दो परिशिष्टों में बाँट दिया।

(६) भारतेन्दु ने चरितावली के अन्तर्गत सूरदास के चरित्र मे यह कल्पना की कि यह टीका स्वयं सूरदास ने लिखी थी।[4] इस मत का खंडन बाबू राम दीन सिंह ने इस तर्क से कर दिया[5] कि इस टीका में जसवन्तसिंह के भाषा भूषण के उदाहरण भी हैं और जसवन्तसिंह सूरदास से बहुत बाद में हुआ था।[6] अतः यह टीका भाषाभूषण के बाद की होनी चाहिए सूरदास लिखित नहीं।

दोनो संस्करणो की ऊपर दी गई तुलना से और बाबू रामदीन सिंह की टिप्पणी से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं —

(१) सरदार कवि की टीका से पूर्व साहित्यलहरी की एक टीका विद्यमान

---

१ साहित्यलहरी (भारतेन्दु सम्पादित पृ० १ सं० १ और १ ४)

२. नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित संस्करण में ११८ पद हैं।

३ पृ० ११८ (साहित्यलहरी का सरदार कवि का संस्करण)

मथन मथन है सूरकवि सागर किये बखार।
रतन प्रकाश है मथन करि रतन को सरदार॥

४ पृ० १६८-९ (भारतेन्दु सम्पादित साहित्यलहरी)

५. टिप्पणी—इसकी टीका सूरदास कृत नहीं है जैसा कि भारतेन्दु ने माना है। भाषाभूषण कार जसवन्त सिंह सूरदास के पीछे हुए हैं। अतः उनका किया कुछ पढ़कर वह अपनी टीका में उद्धृत नहीं कर सकते थे। अतः यह टीका अन्य किसी की है। टि० पृ० ११।

६ मिश्रबन्धु-विनोद के अनुसार जसवन्त सिंह का काल १६८८-२ [illegible] लिखा था।

थी और सरदार तथा भारतेन्दु दोनो ने उसका उपयोग किया था पर वह अब प्राप्य नही है।

(२) सरदार ने प्राचीन टीका के पदो का क्रम बदल दिया और उसमें सूरसागर के भी कुछ पद जोड़ दिये।

(३) भारतेन्दु ने प्राचीन टीका का क्रम नही बदला और उसका पाठ भी यथावत् रखा। पर सरदार कवि द्वारा जोड़े हुए पदों को भी उन्होंने ले लिया और उन्हे दो परिशिष्टो मे बाँट दिया।

(४) लहरी के पदो की सख्या ११८ ही थी जैसी कि भारतेन्दु ने रखी है।

(५) इन ११८ पदों मे से एक भी पद सूरसागर मे नही मिलता अत वे सब एक स्वतन्त्र ग्रंथ के पद हैं।

यद्यपि बाबू राधाकृष्णदास ने बहुत पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी थी कि साहित्यलहरी का कोई पद—परिशिष्टगत पदो के अतिरिक्त—सूरसागर में नही है फिर भी अनेक हिन्दी के विद्वानो मे लगातार यह भूल की है और कुछ का अब भी यही मत है कि लहरी सूरसागर का ही एक भाग है[1]। पर इधर कुछ विद्वानों ने सूरदास सम्बन्धी अपने ग्रन्थो मे इस मत का सर्वथा खण्डन कर दिया है[2]। यद्यपि सहोक्ति के उदाहरणस्वरूप दिये हुए २३वें पद से मिलता-जुलता एक पद सूरसागर म मिलता है पर उनके पाठो मे इतना भेद है कि दोनों को एक ही नही माना जा सकता[3]।

---

१ भक्तमालपुरीसार पृष्ठ ८, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ ५६४ सूरकवि समीक्षा पृ ३६, सूरसमीक्षा पृ १९, सूरसाहित्य की भूमिका पृ ११ हिन्दी काव्यधारा, पृ ७५।

२ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ ७१ सूरदास (डा वर्मा), पृ १४४ सूरसौरभ पृ २१२, सूरनिर्णय पृ ६।

३ पाठ इस प्रकार है

सखी री सुन परदेसी की बात।
अरध बीच दै गये नाथ कौ हरि अहार चलि जात।
मद नक्षत्र अरु वेद अरध करि सो बरजै सुधि जात।।
रवि पञ्चक लय गए श्याम घन तातें मन अकुलात।
मधु सम्पुट नहिं मिलें सूर प्रभु मान रहत मधु जात।।

तीसरा चरण लुप्त है जो सम्भवत यों है :

ससि रिपु बरष भानुरिपु जुगलम हरिरिपु की भख जात।

सू सा अरध कोउ परदेसी की बात।

सरदार कवि ने प्रतिवस्तूपमा अलकार के उदाहरण के रूप मे जो २ वाँ पद दिया है वह साहित्यलहरी के मूल पाठ का ही प्रतीत होता है और भारतेन्दु के सस्करण मे कदाचित् भूल से छूट गया है। प्रतिवस्तूपमा एक महत्त्वपूर्ण अलकार है और अलकार पर लिखने वाले कवि की दृष्टि से वह छूट नही सकता था। भारतेन्दु के सस्करण के १ और १२ सख्यक पद सरदार के सस्करण मे परिशिष्ट के ११वे और १२वें पद है और सूरसागर मे नही मिलते। इसके अतिरिक्त लहरी मे दिये हुए अलकारो के क्रम मे वे भारतेन्दु सस्करण मे ठीक स्थान पर आए है अत मूल पाठ के ही अंश है। १ ९वें पद मे ग्रन्थनाम और रचनाकाल देखकर डा दीनदयाल गुप्त ने अनुमान किया है कि मूल-ग्रन्थ प्रारम्भ मे यही समाप्त हुआ होगा और उससे बाद के पद टीकाकारो द्वारा जोडे गये प्रक्षिप्त पद है[1]। डा गुप्त का यह मत तो कदाचित् तर्क सगत हो सकता है कि एक सौ नवाँ पद अन्तिम पद होना चाहिये पर उसके बाद के पदो के प्रक्षिप्त होने का अनुमान निम्नलिखित कारणो से ठीक नही जान पडता। (१) टीकाकारो द्वारा जोडे गये प्रक्षिप्त पद प्राय सूरसागर से ही लिये गये है और साहित्यलहरी का कोई पद जिनमे १ ९वें पद के बाद के पद भी सम्मिलित है सूरसागर के मुद्रित सस्करणो अथवा हस्तलिखित प्रतियो मे नही मिलता। (२) साहित्यलहरी अलकार और नायिकाभेद का ग्रन्थ है और वे पद उसी विषय के है तथा उनके बिना ग्रन्थ अधूरा रहता है। (३) सरदार के सस्करण मे कवि वश-परम्परा विषयक ११ वाँ पद मूल-ग्रन्थ मे ११८ सख्यक है। इससे विदित होता है कि १ ९ और ११८ के बीच के पद ठीक क्रम मे नही है और वे १ ९वें पद से पूर्व होने चाहिये थे। यदि ११८वें पद को प्रामाणिक न माना जावे—जैसा कि कुछ विद्वानो का मत है—तो सरदार के सस्करण के २ वें पद की गणना मूल-ग्रन्थ मे हो जायगी और सख्या फिर भी वही परम्परा-गत—११८—रह जावेगी।

११८वा पद की प्रामाणिकता के विषय मे विद्वानो मे बडा मतभेद रहा

मन्दिर अरध अवधि बदि हम सौं हरि अहार चलि जात।
ससि रिपु बरष सूर रिपु जुगबर हरि रिपु कीन्हौ घात॥
मघ पचक लै गयौ साँवरौ तातें अति अकुलात।
नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि सोइ बनत अब खात॥
...
१ अष्ट छाप० पृ ११४

है। उसमें कवि के जीवन और वंश का वृत्त है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[1] और उसी के अनुकरण पर श्री राधाकृष्णदास[2] उसे सूर ही की रचना मानते हैं। बाद में सर जार्ज ग्रियर्सन[3] सर चार्ल्स जेम्स लायल[4] के सी एस आई म म पं हरप्रसाद शास्त्री मुंशी देवीप्रसाद[5] प्रो मुंशीराम[6] आदि विद्वानों ने भी इसी मत को ठीक माना है। परन्तु मिश्रबन्धु[7] प रामचन्द्र शुक्ल[8] डा जनार्दन मिश्र[9] डा दीनदयालु गुप्त[10] श्री प्रभुदयाल मीतल[11] आदि उसे प्रक्षेप मानते हैं और डा रामकुमार वर्मा[12] किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाये हैं। दूसरे पक्ष के समर्थकों के तर्क ये हैं —

(१) यह पद कूट नहीं है अत शेष ग्रन्थ की शैली और भावना से पूर्णत भिन्न है[13]।

(२) 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें सत्रु ह्वै है नास' में स्पष्टत पेशवाओं का उल्लेख है जो सूरदास से दो सौ वर्ष पश्चात् हुए थे। अतएव इस पद की रचना पेशवाओं के काल के बाद की है[14]।

(३) परम्परा प्राप्त साहित्यलहरी का पाठ १ ९वें पद में समाप्त हो जाना चाहिए था जिसमें ग्रन्थ नाम और रचनाकाल दिये हैं और इसलिए १ ९वें पद के बाद के पद टीकाकारों द्वारा प्रक्षिप्त होंगे[15]।

(४) इस पद म गुरु श्री वल्लभाचार्य के विषय में कवि ने कुछ नहीं कहा

---

१ चरितावली और सूरशतक टीका की भूमिका
२ सूरसागर (भूमिका)
३ [illegible]
४ [illegible]
५ श्री सूरदास का जीवन-चरित्र पृ ५
६ सूरसौरभ
७ हिन्दी नवरत्न पृ २२६
८ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १६
९ सूरदास पृ ६
१० [illegible] पृ ६
११ सूरनिर्णय पृ ४
१२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ७६८
१३ सूरनिर्णय
१४ हिन्दी नवरत्न पृ २२८, हि सा इ पृ १६१ और ७७०
१५ अष्ट छाप पृ १०१ और सूरनिर्णय पृ० ९

है जबकि गोस्वामी विट्ठलनाथ का नाम सादर लिया है[1]।

(५) सूरदास परम्परा से सारस्वत ब्राह्मण माने जाते रहे हैं जबकि इस पद में उन्हें चन्दबरदाई का वंशज—भाट—बताया गया है। ब्राह्मण और भाट परस्पर विरोधी शब्द हैं क्योंकि भाट ब्राह्मण नहीं माने जाते[2]।

(६) सूरदास ने अपने सांसारिक जीवन के प्रति सदा उपेक्षा ही दिखाई है अतः उनका अपने जीवन और वंश का वृत्त यों विस्तारपूर्वक देना विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता[3]।

(७) इस पद के विवरण की पुष्टि चौरासी वैष्णवन की वार्ता और हरिराय के भावप्रकाश से नहीं होती[4]।

इन कारणों से डा० दीनदयालु गुप्त की मान्यता है कि यह पद किसी प्रतिलिपिक[5] अथवा टीकाकार ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और सरदार कवि से पूर्व जोड़ दिया।

इन तर्कों की तात्त्विक समीक्षा से यह स्पष्ट होगा कि ये पूर्णतः सबल नहीं हैं। इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रमाण दिए जा सकते हैं (१) यह ठीक है कि यह पद कूट नहीं है पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस पद का वर्ण्य विषय (कवि के वंश और जीवन का वर्णन) कूटरचना की अपेक्षा नहीं रखता था। (२) 'दक्षिण विप्रकुल' आदि शब्दों के विषय में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वे वैष्णवों ही के बोधक हैं। प्रो० मुंशीराम शर्मा ने इन शब्दों की व्याख्या भिन्न रीति से की है। उनके अनुसार ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के बोधक हैं जिनके उपदेशों से भक्त कवि के काम क्रोधादि शत्रु नष्ट हो गए। इस अर्थ में सत्याभास की प्रतीति होते हुए भी यह प्रसंगानुकूल जान पड़ता है।[6] (३) यह पहले ही बता चुके हैं कि १ १वें पद से बाद के पद प्रक्षिप्त नहीं हैं। (४) वल्लभाचार्य का उल्लेख यद्यपि आवश्यक नहीं था फिर भी प्रो० मुंशीराम शर्मा के अनुसार 'दक्षिण विप्रकुल'[7] शब्दों में उन्हीं का निर्देश है। (५) प्रो० मुंशी

---

१ सूरनिर्णय पृ० और अष्ट वल्लभ, पृ० ६४
२ अष्ट वल्लभ पृ० १११ हि० ना० पृ० और हिन्दी ... पृ० ११
३ अष्ट वल्लभ, पृ० १११ सूरनिर्णय पृ० ५
अष्ट वल्लभ पृ० १११ सूरनिर्णय पृ० ५
४ अष्ट वल्लभ पृ० १११
५ सूर सौरभ पृ० ३०-१
७ सूर सौरभ पृ० ३८

राम शर्मा ने ठीक ही बताया है¹ कि 'ब्रह्मराव' और विप्र शब्दों में कोई परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि ब्रह्मराव पुरुष का नाम है और विप्र जाति का बोधक हो सकता है। इसके अतिरिक्त समग्र पद में एक भी ऐसा शब्द नहीं जो 'भाट' का अर्थ देता हो और यदि 'राव' को 'भट्ट' का पर्याय भी माना जाये तो 'भट्ट' और 'विप्र' में कोई परस्पर विरोध नहीं है। 'भट्ट' का अर्थ है विद्वान् और उसका प्रयोग कुछ ब्रह्मराव लोग भी उपाधि के रूप में धारण करते थे। यह भी संभव है कि चन्दबरदाई भी भाट न होकर ब्राह्मण (सारस्वत ब्राह्मण जिनकी निवासभूमि प्रायः पंजाब है) रहा हो क्योंकि उसका गोत्र भारद्वाज था जो सारस्वत ब्राह्मणों में बहुत मिलता है। (६) सूरसागर के पदों की रचना विभिन्न समयों पर हुई थी और बहुत बाद में उनका पुस्तक के रूप में संग्रह किया गया था। अतएव उसमें कवि द्वारा आत्मजीवन वंश वृक्ष रचनाकाल आदि का विवरण दिये जाने का कोई अवसर नहीं था। परन्तु साहित्यलहरी तथा सूरसारावली पृथक् ग्रंथ हैं जिनमें कवि को आत्मपरिचय देने का भी अवसर संभव था। (७) चौरासी वैष्णवन की वार्ता अथवा भावप्रकाश में जिन भक्तों के चरित्र दिये हैं वे पूर्ण नहीं हैं। अतएव उनमें इस पद के अथवा इसके कथ्य विषय के उल्लेख की आशा करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त चन्दबरदाई के वंशज होने का दावा करने वाले नानूराम भट्ट के पास प्राप्त वंशावली से भी यह वंशावली बहुत मेल खाती है।² इससे इस पद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। यद्यपि अधिकांश विद्वान् साहित्यलहरी को सूरदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं³ पर कुछ विद्वान् जिनमें श्री ब्रजेश्वर वर्मा प्रमुख हैं इससे सहमत नहीं। डा० वर्मा ने इस प्रश्न पर अपने निबंध 'सूरदास' में सविस्तार विचार किया है और लिखा है "वास्तव में जैसा कि ११८वें पद से विदित होता है साहित्यलहरी सूरजचन्द्र नामक ब्रह्मभट्ट की रचना है जिसने हिन्दी के दो महाकवियों—सूरदास और चन्दबरदाई के नाम से अपना सम्बन्ध जोड़ सकने का लोभ संवरण न कर सकने के कारण यह साहित्यिक छल का अक्षम्य अपराध किया"।⁴ डा० वर्मा

---

१ सूर सौरभ पृ० ४१

२ हि० सा० इ०

३ मिश्रबन्धु, सर जार्ज ग्रियर्सन पं० रामचन्द्र शुक्ल डा० श्यामसुन्दरदास पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय डा० रामकुमार वर्मा डा० रसाल डा० मुंशीराम डा० दीनदयाल गुप्त और श्री मीतल।

४ सूरदास पृ० १२४ १२५

मे अपनी कल्पना के समर्थन मे ये प्रमाण दिए है —

(१) सूरदास के काव्य की वास्तविक प्रेरणा श्रीकृष्ण की भक्ति है न कि काव्यकला और सौदर्य के प्रति अभिरुचि। किन्तु इसके विपरीत साहित्यलहरी का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत साहित्यकला का प्रदर्शन है न कि भक्ति।

(२) सूरसागर के कूटपदो मे प्रमुख वर्ण्यविषय राधाकृष्ण का नखशिख वर्णन और प्रसग है पर साहित्यलहरी मे यह बात नही है। लहरी के कुछ पदो का तो राधाकृष्ण से किंचित् भी सबध नही है।

(३) साहित्यलहरी की भाषा और शैली सूरसागर की भाषा शैली से इतनी भिन्न है कि लहरी सूरसागर के कवि से भिन्न कवि की ही रचना होनी चाहिए।

(४) जो महाकवि सूरसागर जैसी महान् रचना के विषय मे एक शब्द भी न कहे वह साहित्यलहरी जैसी साधारण रचना के नाम और रचनाकाल आदि का वर्णन करेगा यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

परन्तु डा० वर्मा के ये तर्क समीक्षा करने पर ठहर नही सकते। निस्सदेह साहित्यलहरी का मुख्य उद्देश्य काव्यकला के कतिपय तत्त्वो का प्रस्तुत करना है परन्तु यह कहना कि उसमे भक्ति-भावना है ही नही और उसके पदो की भावना सूरसागर के कूटपदो से भिन्न है बलात् का अपलाप होगा। हम आगे सूरदास के कूटपदो के वर्ण्यविषय के प्रसग मे साहित्यलहरी मे प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप का विशेष रूप से विवेचन करेंगे। पर यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि साहित्यलहरी का प्रमुख विषय मधुराभक्ति का प्रतिपादन ही है। पुष्टिमार्ग मे कृष्ण को रसस्वरूप[१] और उत्कट प्रेमभाव का पात्र माना गया है। भक्त का ध्येय भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा का भाजन बनना है और उसकी प्राप्ति तभी सभव है जब भगवान् के प्रति भक्त और अनन्य प्रेम हो। ऐहलौकिक और पारलौकिक सभी वस्तुओ से बढकर ईश्वरीय प्रेम की रक्षा सर्वथा अनिवार्य है। इस प्रकार के अनन्य प्रेम के आदर्श को प्राप्त करने मे गोपियो को सर्वोत्तम पात्र समझा जाता है। भागवत पुराण के अनुसार कृष्ण ने कामसूत्रोक्त सभी पद्धतियो के अनुसार अपनी लीलाएँ की और नायिका-

१ सूरदास पृ० १२१

२ (क) कृष्णास्तु भगवान्स्वयं वसन्तोऽभिन्नरतिरूपी आनन्दरूप।
सुबोधिनी ११ ८.११

(ख) रूपप्रेम आनन्द रस जो कुछ जग मे आहि
सो सब गिरधर देव को निधरक बरनौ ताहि। १८ ५

मेघोक्त रीति से गोपियों के साथ रमण किया[1]। इसीलिए अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-जीवन के विविध पक्षों और लीलाओं का चित्रण करने के लिए नायिकाओं के विभिन्न भेदों का भी वर्णन किया है। सूरदास ने भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण के जीवन के इसी पक्ष का चित्रण करने के लिए साहित्यलहरी की रचना की थी। साहित्यलहरी नाम के दो कारण हैं (१) इसमें केवल लीलाओं अथवा शृंगार ही का वर्णन नहीं है अन्य रसों का भी समावेश है। (२) अपात्रों के हृदय में कृष्ण के इस लौकिक रूप का विपरीत प्रभाव न हो अतः नायिकाभेद का वर्णन कूटशैली में किया गया है।

यह दूसरी आपत्ति भी ठीक नहीं है कि साहित्यलहरी में सूरसागर के कूट पदों के समान भक्तिपरक वर्णन नहीं है क्योंकि सूरसागर के कूटपदों का वर्ण्य विषय भक्तिपरक भाव ही नहीं है। सूरसागर में भी ऐसे कूट हैं जिनमें भक्ति अथवा बाललीला का वर्णन है।[2] इसके अतिरिक्त साहित्यलहरी के अनेक पद शृंगार रस के हैं। लहरी के पदों की भाषा और शैली में भी सूरसागर के पदों से साम्य अधिक है और वैषम्य कम। सूरसागर और लहरी के कुछ पद यहाँ उद्धृत किए जाते हैं। जिनसे यह सिद्ध होता है कि दोनों में न केवल विषय अपितु एक ही शब्दावली और वाक्यावली तक का प्रयोग है।

१ सा० ल०—२१

पिय बिनु बहुरि बैरिन आय।
मदन बान कमान स्यामी करति कोप चढ़ाय।

सूरसागर—

पिया बिनु नागिनि कारी रात।
कबहुँक जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।

२ सा० ल०—४१

नंदनंदन बिन ब्रज में अबी सब बिपरीत भई।

---

१ भाग० १० ३३-२६।

एवं शशांकांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः॥

'सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः' की व्याख्या श्रीधर ने इस प्रकार की है —
काव्यकथा अपि लौकिक अन्योन्यसमाश्रय गोप्योऽपि अन्योन्यसमाश्रयेण रति कृतवान् तत् हेतु रसाश्रया इति।

२ देखिए परिशिष्ट (क १) पद १-७।

सूरसागर—

मदनगोपाल बिना या तन की सबै बात बदली ।

३ सा० ल०—२८

जब तें हौं हरिरूप निहारो ।

तबतें कहाँ कहाँ हौं री सजनी लागत जग अँधियारो ।

सूरसागर—

जब तें सुन्दर बदन निहारो ।

ता दिन तें मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकारो ।

४ सा० ल०—१७

बात की सुमन सौं लपटात ।

समुझि मधुकर कहत नाहीं मोहि तोरी बात ।

सूरसागर—

मधुकर हम न होहिं वे बेली ।

जिन भजि तजि तुम फिरत और रँग करत कुसुमरसकेली ।

५ सा० ल०—२४

यह मधुप अब बेद पारथ करि आस हरन मन चाह्यो ।

सूरसागर—

यह मधुप अब बेद पारथ करि को बरजै मुहि बात ।

७ सा० ला०—२४

सखी री सुन परदेसी की बात ।

अरध बीच दै गए श्याम को हरि अहार चलि जात ।

सूरसागर—

कहै कोउ परदेसी की बात ।

मंदिर अरध अवधि बदि हम सौं हरि अहार चलि जात ।

साहित्यलहरी और सूरसारावली का साम्य बताने वाले उदाहरण पहले ही दिये जा चुके हैं ।

साहित्यलहरी में रचनाकाल और ग्रन्थ का नाम देने का मुख्य कारण यह है कि उसकी रचना स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में और एक विशेष समय पर ही हुई थी जब कि सूरसागर के पदों की रचना भिन्न-भिन्न समय पर हुई थी और उनका संकलन बहुत बाद में किया गया था । संक्षेप में साहित्यलहरी के अष्टछापी सूरदास की रचना होने के पक्ष में निम्न प्रमाण दिए जा सकते हैं :—

अध्याय ५

वर्ण्य विषय

जैसा कि पहले कहा जा चुका है सूरदास की रचनाओं का प्रमुख विषय भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र जीवन की विविध लीलाओं के आख्यानों का भावात्मक चित्रण है। उनकी रचनाएँ महाकाव्य के रूप में नहीं हैं किन्तु उनके पद मुक्तक हैं और उनमें भक्तहृदय की आंतरिक भावनाओं का चित्रण वस्तुपरक न होकर आत्मपरक है जो पाठक के हृदय में कौतूहल और 'विस्मय' उत्पन्न करता है। उनमें वृन्दावन के मधुर कुंजों में भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन की अनेक मनोरंजक घटनाओं और आख्यानों का वर्णन है। इसीलिए उनमें ऐसे तथ्यों के वर्णन में बहुत कम ध्यान दिया गया है जिनका उपयोग आन्तरिक भावनाओं के प्रतिबिम्ब में विवरण में केवल पृष्ठभूमि के रूप में किया गया है। सूर की सभी रचनाओं के विषय की एकात्मता और शैली की एकरूपता का भी यही कारण है। जो विशेषताएँ सूर की अन्य रचनाओं में हैं वे ही उनके कूटपदों में भी हैं। कूटपदों में कृष्ण-जीवन की वे घटनाएँ चित्रित हैं जिनका सूर की अन्तरात्मा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। कृष्ण के जिस चरित्र का सूर की अन्तरात्मा पर गहरा प्रभाव पड़ा उन्हीं का उन्होंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अतः कूट पदों के विषय हैं प्रपन्न भक्त की विनय, उनकी भक्ति के एकमात्र पात्र बालक कृष्ण का वात्सल्य और गोपियों की मधुराभक्ति। उनमें भी सर्वाधिक पद मधुराभक्ति के हैं जिनमें गोपियों के साथ कृष्ण की शृंगारी लीलाओं और उद्दीपक वातावरण का वर्णन है। विनय और बाललीला के वर्णन में कूट रचना का अवकाश उतना नहीं होता जितना दृढ़ भक्तिभावना से प्रेरित शृंगारी दृश्यों के चित्रण में होता है क्योंकि इस प्रकार के विवरण में लौकिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से गोपन की अपेक्षा होती है। मधुराभक्ति का विकास वास्तव में एक प्रबल सम्प्रदाय के रूप में हो गया था अतः उसका वर्णन करने के लिए कवि स्वभावतः अपने सम्प्रदाय की गोपनीयता की रक्षा के लिए बाध्य था क्योंकि सम्प्रदाय की गोपनीयता सभी अनुयायियों को प्रिय होती है।

यह ध्यान देने की बात है कि सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी तीनों ही में कृष्ण की लीलाओं के आख्यानों की एकरूपता है। प्रसंगवश साहित्य लहरी में एक और भी प्रयोजन की सिद्धि की गई है—वह है नायिकाभेद

विविध स्थायीभाव और संचारीभाव तथा अलंकार आदि रीति शास्त्रीय विषयों का विवेचन। अतः विषय की दृष्टि से कूटपदों का वर्गीकरण इस प्रकार सरलता से किया जा सकता है

(१) कृष्ण की लीलाओं का वर्णन : इसके निम्नलिखित उपभेद हो सकते हैं : (क) विनय के पद (ख) वात्सल्य के पद और (ग) शृंगार अथवा मधुरा भक्ति के पद।

(२) काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन जो साहित्यलहरी का प्रमुख वर्ण्य विषय है।

विनय के पद

विनय संबंधी समस्त कूटपद केवल सूरसागर में हैं और संख्या में बहुत कम हैं। उनमें माया, जीव और जगत् के साथ उसके संबंध का वर्णन है। वे ऐन्द्रिय सुख की ओर से मन को विरक्त करने और उसे सर्वशक्तिमान् की भक्ति की ओर प्रवृत्त करने के उद्देश्य से लिखे गए हैं। अतः उनमें विनय और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण का भाव अनिवार्यतः प्रदर्शित किया गया है। वर्णन प्रायः रूपकात्मक है और शब्दों का विशिष्ट चयन इस प्रसंग में रचना की दुर्बोधता का कारण बन गया है। माया को सांसारिक रूप में चित्रित किया गया है जो आध्यात्मिक उन्नति की ओर जीवात्मा की प्रगति में बाधक है। यह कपट रूप माया गाय तथा स्त्री के रूप में चित्रित की गई है। इस प्रकार अपने मोहक रूप में वह भक्त की शान्त प्रवृत्ति को विचलित कर देती है। वह मानो मन की तरंगों को दोलायित कर मनुष्य को उसके सामान्य मार्ग से च्युत कर देती है। माया का यह रूप अति अगम्य और अनर्थकारी है —

> नारी एक बसी मिलि विचरति अति सुन्दरी सुहागिनि।
> प्रति प्रति तरुन पुरुष अंक विलसति तदपि पिय अनुरागिनि।
> भरता जार अनत कछु नाहीं सोउ कहहि वैरागिनि।
> तीनि काल सर्वोपरि राजति स्वबस देव मुनि नाथिनि ॥[1]

(एक अति सुन्दरी सुहागिनी नारी है जो सभी दिशाओं में विचरण करती है। यद्यपि वह घर-घर घूम कर प्रत्येक पुरुष का आलिंगन करती है तथापि वह अपने पति की ही अनुरागिणी है। उसका पति जार है और उसकी स्वच्छन्दता की उसे भी चिन्ता नहीं है। मन-लोग उसे वैरागिनी बताते हैं। वह सर्वोपरि

पद १

विराजमान है और वेद मुनि आदि सभी पात्र उसका स्तवन करते हैं)।

सूर ने इस माया का रूप अत्यन्त उद्धत बतलाया है जो वर्जन करने पर भी अनेक कुमार्गों में विचरण करती है। कृष्ण स्वयं गोप हैं और उस गाय पर नियन्त्रण करने मे पूर्ण समर्थ हैं। अतः कवि उस गाय के उत्पात से रक्षा के लिए कृष्ण से प्रार्थना करता है —

> माधव जू यह मेरी इक गाई।
> अब आजु तें आपु आगें दई लै आइयै चराइ॥
> अति हरहाई, हटकत हूँ बहुत अमारग जाती।
> फिरति बेद बन ऊख उखारति सब दिन अरु सब राती॥[1]

(हे माधव मेरे एक गाय है जिसे आज आपके आगे देता हूँ इसे चरा लाइए। यह बहुत उद्धत है और मेरे बारबार रोकने पर भी कुमार्ग मे जाती है और दिन-रात वेदरूपी वन को उखाड़ती फिरती है)। (अर्थात् वेदोक्त मार्ग का नाश करती है)। ऐसा ही भाव अगले पद म है जिसमे तृष्णा को गाय बताया गया है —

> माधौ नैकु हटकौ गाइ।
> भ्रमति निसि बासर अपथ पथ अगह गहि नहिं जाई॥
> क्षुधित अति न अघाति कबहूँ निगम द्रुम दलि खाइ।
> अष्टदस घट नीर अँचवति तृषा न प्यास बुझाइ॥

(हे माधव! इस गाय (तृष्णा) को थोडा हटक दीजिए। यह दिन-रात अपथ पर विचरण करती है और नियन्त्रण मे नही आती। यह अत्यन्त क्षुधित है और वेदरूपी वृक्ष को उखाड़ कर खा रही है। अठारह घड़ो (पुराणो) का जल पीने पर भी इसकी प्यास नही बुझती)।

इन दोनो पदो म गाय का सविशेष वर्णन रूपक के द्वारा माया के विविध प्रसारो का बोध कराता है।

जीवात्मा और सृष्टि के वर्णन म भी सूरदास ने यही रीति अपनाई है —

> चौपरि जगत मड़े जुग बीते।
> गुन पासे क्रम अंक चारि गति सारि न कबहूँ जीते।
> चारि पसारि दिसानि मनोरथ घर फिरि फिरि गनि आवै।
> काम क्रोध मद संग मूढ़ मन खेलत हार न पावै॥[2]

---

१ पद १
२-पद ३
३ पद ४

यहाँ संसार की चौपड़ से तुलना की गई है जो गुणों से बिछी हुई है। मनुष्य की मूढ़ आत्मा को इस खेल का ऐसा व्यसन है कि वह हार कर भी बराबर खेलता और पासा फेंकता ही जाता है यद्यपि हरि-स्मरण रूपी विजय दिलाने वाले पक्ष की सहायता के बिना वह प्रत्येक बाजी हारता जाता है। इस पद में मर्त्य जगत् की नाना अभिलाषाओं और सुख-दुःखात्मक विविध भावनाओं एवं काम क्रोध मद आदि दुर्गुणों से ग्रस्त उपचेतन भावों का विस्तृत वर्णन है।

निम्न पद में जीवात्मा को एक बैल बताया गया है जो विषयोपभोग के लीलाक्षेत्र में चरता और स्वच्छन्द विचरण करता है। सूरदास ने इस बैल की प्रवृत्तियों की निन्दा करते हुए कहा है —

> भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ।
> पाउ चारि सिर सृंग गुंगमुख तब कैसे गुन गैहौ॥
> चारि पहर दिन चरत फिरत बन तऊ न पेट अघैहौ।
> टूटे कंधर फूटी नाकनि कौलौं धौं भुस खैहौ॥[1]

(हे बैल! तुम भक्ति के बिना असहाय हो जाओगे। जब तुम्हारे चारों पैर, सींग और मुख अशक्त हो जायेंगे तो कैसे (हरि के) गुणगान करोगे? तुम दिन भर सांसारिक विषयों के लीला-क्षेत्र में चरते हुए घूमते रहते हो और फिर भी तुम्हारी क्षुधा शान्त नहीं होती। तुम्हारे कंधे टूटे और नाक सब टूट गये हैं। अब तुम खाना भी कैसे खाओगे)?

आगे के पदों में सूरदास कामासक्त मन को फटकारते हैं और उसे कृष्ण भक्ति की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा करते हैं —

> रे मन समुझि सोचि बिचारि।
> भक्ति बिनु भगवन्त दुर्लभ कहत निगम पुकारि॥[2]

(हे मन! समझो सोचो विचारो। बिना भगवद्भक्ति के ईश्वर का साक्षात्कार दुर्लभ है वेद भी यह पुकार-पुकार कर कह रहे हैं।)

> रे मन निपट निलज्ज अनीति।
> जियत की कहि को चलावै मरत विषयनि प्रीति॥[3]

(रे मन तुमने सर्वथा निर्लज्ज होकर अनीति अपनाई है। तुम्हारे जीने की कौन कहे सांसारिक विषयों की अनुरक्ति में तुम वास्तव में मरे जा रहे हो)।

शुद्ध भक्ति के तो केवल दो ही रूपपद हैं —

---

१ सूर
२ सूर १
३ सूर ७

अब मेरी राखौ लाज मुरारी ।
संकट में इक संकट उपज्यौ कहै मिरग सौं नारी ॥
और कछू हम जानत नाहीं आई सरन तिहारी ।
उलटि पवन जब बावर जार्‌यौ स्वान चल्यौ सिर भारी ॥
नाचत कूदत मृगिनी लागी चरन कमल पर वारी ।
सूर स्याम प्रभु अबिगत लीला आपुहि आपु सवारी ॥[1]

(हे मुरारी ! अब मेरी लज्जा रखिए । नारी मृग से कहती है 'एक संकट में दूसरा संकट उत्पन्न हो गया है । मुझे और कुछ भी नहीं मालूम मैं तो केवल तुम्हारी शरण में हूँ । जब पवन उलटी चली और उसने सिंह को जला दिया तो कुत्ता सिर झाड़कर चल पड़ा । मृगी नाचने-कूदने लगी और भगवान् के चरण-कमलों पर न्यौछावर हो गयी । सूर कहता है कि प्रभु की लीला अज्ञेय है । वह स्वयं ही अपने भक्तों का ध्यान रखता है) । यहाँ जीवात्मा मृग है और बुद्धि नारी है । जगत् की जटिलताओं से मुक्त होने पर बुद्धि भगवान् के चरण-कमल पर न्यौछावर हो जाती है । यह कवि की भक्ति का ध्येय और उद्देश्य है ।

आगामी पद में भी वह अपने मन को भगवान् के चरण-कमल का भजन करने का उपदेश देता है ।

भजि मन जलधिसुतापतिचरन ।
देवगुरु कौ अवनिसुत ही सदा चाहै करन ॥
खेचरी जिय जानि मन में त्रास जातक मरन ।
तमुवाहनतासु भूषन टूटि भुव पै परन ॥
हंससुतरिपुसुत के सुत की अपत रच्छा करन ।
सारंगसुतसुत तासु पत्नी परम चिन्ताहरन ॥
जलधसुतापति श्रीपति तासतें को अजातन अभरन ।
सूर के प्रभु सदा सहायक विस्वपोषन हरन ॥

(हे मन ! यदि तुम वास्तव में जीव का मंगल चाहते हो तो उदधिसुता (लक्ष्मी) के पति (भगवान् विष्णु) के चरणों का भजन करो । वही सब का रक्षक है । खेचरी (आकाश में फिरने वाली भ्रमरी) ने मन में सोचा कि उसके बच्चे मर जायेंगे (जब महाभारत की भूमि में उसका अण्डा गिर पड़ा था) परन्तु उसी

---

१ पद ५
२. पद ६

समय पशुओं के एक वाहन—हाथी—का घूघरा (घंटा) गिर पड़ा और उसने उस अंडे को ढक लिया। इस प्रकार भगवान् ने उस अंडे की रक्षा की। इसी प्रकार सूर्य के पुत्र (कर्ण) के शत्रु (अर्जुन) के पुत्र (अभिमन्यु) के पुत्र (परीक्षित) की भी भगवान् ने गर्भ मे रक्षा की थी। सत्य के पुत्र (धर्मराज) के पुत्र (युधिष्ठिर) की पत्नी (द्रौपदी) की भी परम चिन्ता उन्होंने दूर की थी। ब्रह्म की पुत्री अहिल्या को भी जो अपने पति गौतम के शाप से पत्थर शरीर (पत्थर) हो गयी थी भगवान् ने उबारा था। सूर कहते है कि वे प्रभु सबके सदा सहायक है और विश्व का पोषण करने वाले है)। यहाँ 'दधिसुतापति' शब्द का अर्थ है समुद्रकन्या लक्ष्मी के पति विष्णु (कृष्ण के रूप मे)। अवनिसुत का अर्थ है मंगल (कल्याण) देवगुरु का अर्थ है बृहस्पति अर्थात् जीव। देवगुरु (बृहस्पति) और अवनिसुत (मंगल) दो ग्रहो के एक साथ नाम आने से पद मे विशेष चमत्कार उत्पन्न हो गया है। 'खेचरी' का अर्थ है 'आकाश मे घूमने वाली'। यहाँ भ्रमरी के अर्थ मे उसका प्रयोग हुआ है। 'पशुवाहन' का अर्थ यहाँ हाथी है और उसका भूषण 'घण्टा' है। 'इनसुतरिपुसुत के सुत' का अर्थ है परीक्षित (इन—सूर्य उसका पुत्र—कर्ण उसका शत्रु—अर्जुन उसका पुत्र—अभिमन्यु, उसका पुत्र—परीक्षित)। 'सत्यसुतसुत तासु पतनी' का अर्थ है द्रौपदी (सत्यसुत—धर्मराज उसका सुत—युधिष्ठिर, उसकी पत्नी—द्रौपदी)। 'ब्रह्मसुता' का अर्थ है अहिल्या और उसका पति था गौतम।

वात्सल्य के पद

इस वर्ग के कूटपदो मे कृष्ण की बाल-लीलाओ से कुछ चुने हुए आख्यानो का वर्णन है। ऐसे पद भी संख्या मे बहुत कम है। इनमे कृष्ण की क्रीड़ाओ उसके सुकुमार बाल रूप माखन और दधिलीला यमलार्जुन मोचारण आदि के वर्णन है। इनमे ऐसे भावपूर्ण दृश्यो की उद्भावना की गयी है जिनसे कवि अपने आराध्य देव के रूप-माधुर्य से मुग्ध होकर स्वयं को लीन कर देता है। कृष्ण के तरुण रूप के वर्णन मे सूरदास ने प्रसिद्ध उपमानो के द्वारा उसके विभिन्न अंगो का वर्णन किया है। यथा —

> देखि सखि एक अद्भुत रूप।
> एक अम्बुज मध्य देखियत बीस दधिसुत जूथ।।
> एक अवली बैठ जलचर उभय अरध अनूप।
> पंच आरिस एक ही छिन कहौं कहा सरूप।।

भई सिसुता माँहि सोभा करौ कोउ विचार।
सूर गोपाल की छबि राखियै निरधार ॥[1]

(हे सखि ! एक अद्भुत रूप देखो। एक कमल मे बीस चन्द्रो का समूह है। एक पंक्ति में दो मछलियाँ है जो दो सूर्यों के समान देदीप्यमान है। एक ही स्थान पर पाँच कमल है उनके स्वरूप का क्या वर्णन करू। कैसा भव्य स्वरूप है। शिशुता मे वस्तुतः अद्भुत शोभा उत्पन्न हो गयी है। कोई उसका विचार तो करे। सूर कहता है कि श्री गोपाल की यह शोभा हमारे मन मे स्थायी रूप से रहे)। यहाँ कृष्ण के रूप का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। कृष्ण अपने मुख पर हाथो और पैरो की बीसो अँगुलियाँ रखे है। यहाँ 'कमल' का अर्थ है मुख और 'ससिसुत' (चन्द्र) की बीस कलाओ से अभिप्राय है हाथ और पैरो की २ अँगुलियाँ। दोइ जलचर (मछली) है दोनो नेत्र पाँच कमल है दो हाथ दो पैर और मुख। कवि ने पाठको के समक्ष एक पहेली उपस्थित करने और स्वयं ही उसे सुलझाने का भी प्रयत्न किया है। वास्तव मे कवि का उद्देश्य कृष्ण के किशोररूप का वर्णन है। इसी प्रकार कृष्ण की दधिमथन क्रीडा का भी सुन्दर वर्णन देखिए —

जब दधिरिपु हरि हाथ लियौ।
खगपतिअरि डर असुरनि संका बासरपति आनन्द कियौ ॥
बिधि सिर धुनि सकुचत सिव सोचत गरलादिक कैसे जात पियौ।
अति अनुराग संग कमला तन प्रफुलित अंगनि सहित हियौ ॥
एकनि दुख एकनि सुख उपजत ऐसौ कौन बिनोद कियौ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे गहत ही एक एकतैं होत बियौ ॥[2]

(जब कृष्ण ने (दधिरिपु) मथन-दंड हाथ मे लिया तो (खगपति-अरि) शेषनाग मन मे बहुत शंकित हुए और इन्द्र प्रसन्न हुआ। ब्रह्मा सिर धुनकर लज्जित होने लगे। शिव सोचने लगे कि दुबारा गरलपान कैसे करूँगा। कमला (लक्ष्मी) का हृदय अनुराग से भर गया और उसके सब अंग प्रफुल्लित हो उठे। इस प्रकार किसी को दु ख हुआ तो किसी को सुख। सूर कहते है कि हे भगवान् आपने ऐसा अद्भुत विनोद किया कि मथन-दंड के ग्रहण करते ही एक दूसरे की सहायता के लिए आने लगा)। यहाँ दधि-मथन के लिए कृष्ण ने मथन-दंड हाथ मे लिया तो उसे देखकर शेषनाग सोचने लगे इन्द्र तथा अन्य देवता प्रसन्न

---

१ पद १
२ पद १२

कमलयोनि ब्रह्मा के वाहन (हंस) का भोजन (मोती) खोवे (नासा) को चुगा रहे हैं अर्थात् कृष्ण के नाक में मोती लटक रहा है)। यहाँ 'जलसुत' का अर्थ कमल है जो मुख का उपमान है हंस से अभिप्राय श्वेत टोपी से है और इन्द्रवधू पक्ष का उपमान है, 'दधिसुत' दो अर्थों का बोधक है। एक अर्थ है दधि का पुत्र अर्थात् 'मक्खन' और दूसरा है उदधि का पुत्र अर्थात् 'चन्द्र'। नीरजसुत में नीरज का अर्थ है जलपुत्र 'कमल' और उसका सुत है 'कमलयोनि' अर्थात् 'ब्रह्मा'। उसका वाहन है हंस जिसका भोजन है मोती। 'कीर' नासा का उपयुक्त उपमान है जिसमे कृष्ण मोती पहने हैं और वे मक्खन खा रहे हैं।

निम्न कूटपद में नन्दगृह में कृष्ण के जन्म का वर्णन है —

> दधिसुत जाम्यो नन्द के द्वार।
> निरखि नैन उरझ्यौ मन मोहन रटत देहु कर बारम्बार ॥
> दीरघ मोल कह्यौ ब्यौपारी रहे ठगे सब कौतुकहार।
> कर ऊपर लै राखि रहे हरि देत न मुक्ता परम सुढार ॥
> गोकुल नाथ बए जसुमति के आँगन भीतर भवन मँझार।
> साखा पत्र भए जल मेलत फूलत फलत न लागी बार ॥
> जानत नाहिं मरम सुरनर मुनि ब्रह्मादिक नहिं करत बिचार।
> सूरदास प्रभु की ए लीला ब्रज बनितनि पहिरे गुहि हार ॥[1]

(नन्द के द्वार पर एक मोतियों का वृक्ष उगा है। उसे देखते ही दर्शकों की आँखें वहीं उलझ जाती हैं और बारम्बार उसी के लिए आग्रह करती हैं। व्यापारी कहता है कि इन मोतियों का मूल्य बहुत अधिक है अतः सभी दर्शक आश्चर्य और कौतुक से भरे ठगे से खड़े हैं। व्यापारी ने कृष्ण के रूप में उस मोती के वृक्ष को अपने हाथ में ले लिया है और किसी ग्राहक को देना नहीं चाहता। यशोदा के आँगन में वह वृक्ष फैल रहा है उसमें शाखाएँ और पत्ते भी निकल आये हैं। पानी से सींचने पर उसमें फूल और फल आने में भी देर नहीं लग रही है। देव नर मुनि आदि इसके मर्म को नहीं जानते और ब्रह्मादिक भी उसे समझने के लिए विचारमग्न हैं। सूरदास कहते हैं भगवान् कृष्ण की इस लीला को देखो कि व्रजबालाओं ने इस वृक्ष के मोतियों के हार गूँथ लिये हैं और उन्हें पहन रखा है)। यहाँ 'दधि' 'उदधि' का संक्षिप्त रूप है अतः 'दधिसुत' का अर्थ 'मोती' है जो समुद्र में उत्पन्न होता है। कृष्ण को यहाँ मोती के वृक्ष की उपमा दी गई है। व्यापारी नन्द है और ग्राहक व्रज

---

१ पद २४

कामी और गोपाङ्गनाएँ हैं। 'शाखा' का अर्थ शरीर के अंग हैं और 'फल' का अर्थ सौंदर्य है। 'फूल' आनन्द का द्योतक है और फल 'कुचाग्रों' का। ब्रज के लोग और गोपिकाएँ भाग्यवान् हैं जिन्होंने इस मुक्ताफल, मोती को अपने आभूषण के रूप में पाया है जबकि अन्य लोग उसे केवल देख सकते हैं पा नहीं सकते। नंद और यशोदा के घर में यह वृक्ष आनन्द का देने वाला है। इस प्रकार मोतियों के वृक्ष के उगने के रूपक से कृष्णजन्म का वर्णन किया गया है।

भक्ति और वात्सल्य के पदों में कवि ने कूट-शैली का आश्रय अपने इष्ट की प्राप्ति और कवि-कौशल प्रदर्शन के लिए किया है। कृष्ण की लीला के भाव-वर्णन में कूट का प्रयोग कवि ने वास्तव में चमत्कार और अद्भुत तत्त्व के प्रदर्शन के लिए किया है। अतः यह स्पष्ट है कि कवि जहाँ अपने इष्टदेव के दैवी सौंदर्य से सर्वथा अभिभूत हो गया है वहीं उसने कूटपदों में अपने आन्तरिक भावों को अभिव्यक्त किया है।

शृंगार अथवा मधुराभक्ति के पद

उपर्युक्त भक्ति और वात्सल्य के पदों के अनन्तर सूरदास ने अपने भक्ति-भाव की व्यंजना कृष्ण तथा उनकी प्रियाओं विशेषकर राधा के साथ शृंगारी लीलाओं में बड़ी मार्मिकता के साथ की है। अतः उनके शृंगारिक कूटों में गोपियों के साथ विविध क्रीडाओं एवं राधा माधव के मोहक सौंदर्य का वर्णन है। ये पद सूर के हृदय के अन्तरतम से प्रस्फुटित भक्ति के अनन्य भावों से परिपूर्ण हैं। इन पदों में प्रेम के उच्चतम आदर्श और सौन्दर्य की अनिर्वचनीय मोहकता की प्रत्यक्ष व्यंजना में कवि ने कूट की अद्भुत शैली का आश्रय लिया है। इसमें एक ओर कवि के आत्मतोष की व्यंजना सफलता से हुई है और दूसरी ओर यह पाठक को भी आनन्दित करती है। उसकी कला का सच्चा निखार विविध रति-क्रीडाओं के सजीव चित्रण में हुआ है। किन्तु कवि ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि उसमें अश्लीलता न आने पाये और शिष्टता का उल्लंघन न हो। पर जहाँ राधा कृष्ण के अन्तरंग सम्बन्धों का वर्णन किया गया है वहाँ कवि की परम भावुकता के कारण कथ-तत्र किंचित् अश्लीलता का भी समावेश हो गया है। पर इस प्रकार के अपवादास्पद स्थल नगण्य हैं और भक्ति के महासमुद्र में बिन्दु के तुल्य हैं।

शृंगारी कूटपदों की रूपरेखा देते हुए यह कहा जा सकता है कि उनमें प्रमुख वर्ण्य-विषय ये हैं —(१) बाललीला (२) रूपासक्ति (३) राधाकृष्ण-रति (४) चोरी-प्रसंगलीला। इनमें रूपासक्ति में प्रायः कृष्ण के मनोमोहक रूप का और राधाकृष्ण रति में सुरति-वर्णन राधा का नख-शिख वर्णन

युगलमूर्ति वर्णन उत्कण्ठा मान मनुहार आदि विरह के विविध पक्ष संयोग के विविध रूपों सुरतिचिह्नों और सुरतिकथा आदि का वर्णन है। प्रसंगतः राधा की प्रेमक्रीड़ाओं उसकी शृंगारी और चपल चेष्टाओं गर्व विरह, उपालम्भ और अभिसार आदि के वर्णन में नायिकाओं के विविध रूपों और उनकी अवस्थाओं का चित्रण भी हो गया है।

दानलीला के पद

इन पदों में गोपियों द्वारा कृष्ण को गोरस (दूध दही मक्खन आदि) की भेंट दिए जाने और कृष्ण द्वारा 'गोरस' के श्लेष से इन्द्रिय रस माँगने का वर्णन है जिसे गोपियाँ समझ नहीं पाती हैं। गोपियाँ यौवन की प्रारम्भिक अवस्था में मुग्धा होने के कारण क्रीड़ा चतुर कृष्ण की इन चालाकियों को समझने में असमर्थ हैं। कवि ने इन प्रसंगों के वर्णन में गूढ़ाशय को व्यक्त करने के लिए विविध अंगों के उपमानों की सहायता ली है और इस शृंगारी भाव को गूढ़ शैली में व्यक्त किया है जो कूटकाव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। नीचे के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

दान लैहौं सब अंगनि कौ।
अतिमद गलित तालफल तें गुरु इन जुग उरज उतंगनि कौ॥
कंचन कंज मीन मृग सावक भँवर चवर भ्रुव भंगनि कौ।
कुन्दकली बन्धूक बिंबफल बर ताटंक तरंगनि कौ॥
कोकिल कीर, कपोत बिसलता हाटक हंस फनिगनि कौ।
सूरदास प्रभु हँसि बस कीन्हौ नायक कोटि अनंगनि कौ॥[1]

(मैं तुम्हारे सब अंगों का दान लूँगा। मद भरे और तालफल से बड़े उरोजों का कंचन कंज मीन मृगशावक भ्रमर अर्थात् (नेत्रों) का कुन्दकली (अर्थात् दाँतों) का बन्धूक और बिम्बफल (अर्थात् अधरों) का ताटंक की तरंगों का (अर्थात् कपोलों का जिन पर ताटंक) विद्यमान हैं। कोकिल (मधुर वाणी) शुक (नासिका) कपोत (ग्रीवा) बिसलता (कोमल भुजयष्टि) हंस (ठोड़ी) और फनिगण (कबरी) का। सूर कहता है कि इस प्रकार मुस्कराकर बोलते हुए कृष्ण ने अपनी शारीरिक सुषमा से करोड़ों कामदेवों को वश में कर लिया)। इस कोटि के अनेक पद हैं। एक और उदाहरण लीजिए —

लैहौं दान इन्हनि कौ तुम सौं।
मत्तगयंद हंस तुमसौं हैं कहा दुरावति हम सौं॥

---

[1] पद २७

केहरि, कनक, कलस अमृत के कैसे दुरै दुरावत ।
विद्रुम हेम बज्र के किनुका नाहिन हमहिं सुनावत ॥
खग कपोत कोकिला, कीर, खंजन हूँ कुरंग जानति ।
मनि कंचन के चित्र करे हैं एते पै नहिं मानति ॥
सायक चाप तुरग बनिजति हौ लिए सबै सुख जाहु ।
चंदन चमर सुगंध कहाँ तहँ कैसे होत निबाहु ॥
यह बनिजति वृषभानुसुता तुम हम सौं बैर बढ़ावति ।
सुनहु सूर एते पै कहियत हमकौं कहा लगावति ॥

(मैं तुमसे इन वस्तुओं का दान लूँगा । तुम्हारे पास एक मत्त हाथी और हंस है । उन्हें मुझसे क्यों छिपाती हो । सिंह और अमृतपूर्ण स्वर्ण कलश भी तुम्हारे पास हैं जो छिपाने से भी छिप नहीं सकते । तुम मुझे विद्रुम स्वर्ण और हीर कणिका की बात नहीं बताती हो । मुझे तुम्हारे खग कपोत कोकिल शुक खंजन और मृगशावक का भी पता है । मणि और कांचन के चित्र भी बने हैं तब भी तुम स्वीकार नहीं करती हो । तुम धनुष बाण और तुरग का व्यापार करती हो और चन्दन चँवर तथा सुगन्ध को यत्र-तत्र विकीर्ण करती हो । ऐसे कैसे निर्वाह होगा ? हे वृषभानुकुमारी ! राधा ! तुम इन सब का व्यापार करती हो फिर भी हमसे मना करती और बैर बढ़ाती हो) । गोपिकाएँ ये वचन सुन कर चकित हो जाती हैं और कहती हैं —

यह सुनि चकृत भई ब्रजबाला ।
तरुनी सब आपस मैं बूझति कहा कहत गोपाला ।
कहाँ तुरग कहँ गज केहरि कहँ हंस सरोवर सुनिए ।
कंचन कलस कहाए कब हम देखे नहीं यह सुनिए ॥
कोकिल, कीर, कपोत बनन मैं मृग खंजन सुक संग ।
तिन को दान लेत हैं हम सौं देखहु इनके रंग ॥
चन्दन चीर सुगन्ध बतावत कहा हमारे पास ।
सूरदास को ऐसी बानी देखि लेहु चहुँ पास ॥

(हमारे पास तुरग गज सिंह हंस और सरोवर कहाँ हैं ? हमने स्वर्णकलश कब बनाये ? हमने उनके विषय में देखा-सुना भी नहीं । कोकिल कीर, कपोत मृग खंजन आदि सभी वन में रहते हैं । आश्चर्य है कि उन्हें कृष्ण हमसे माँग रहा है । हमारे पास चन्दन चीर, सुगन्ध बताता है यह भी कहाँ है ? गोपियाँ

पद १
१ सभा २ ६

जरूरी हैं हे कृष्ण ! तुम ऐसे दानी को जिधर चाहो सब ओर से खोज लो। हमारे पास इनमें से कोई भी चीज नहीं है।

इन पदों में खंजन कंज मीन मृग भ्रमर, भुजग कुन्दकली बन्धूक बिम्ब फल कोकिल कीर, कुरंग कचनकलश सायक चाप मत्तगयन्द कन्दर, केहर आदि शरीर के विविध अंगों के उपमान हैं। अत कूटत्व का आधार रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। 'दान' शब्द श्लिष्ट है अत कृष्ण का दान माँगना अद्भुत है क्योंकि वह गोपी के गोरसदान (इन्द्रियों का उपभोग न कि गोदुग्ध आदि) माँग रहा है। वह गोपी कुंज में अकेली रह जाती है और अपनी सुधबुध खो देती है। वह कृष्ण से अनेक प्रकार स प्रार्थना करती है पर वह अपनी हठ पर अड़े हैं। उसकी सरलता और असहायता का प्रदर्शन कराने वाली यह पंक्ति देखिये —

ऐसी दान न माँगिए जो हमसौं दियो न जाय।[1]

(कृपा करके हमसे ऐसा दान न माँगो जिसे देने म हम असमर्थ हैं।)

रूपासक्ति

गोपियों का कृष्ण के प्रति आकर्षण और रूपासक्ति भी अनेक पदों म वर्णित है यहाँ तक कि रूपासक्ति को भक्ति का ही एक स्वरूप माना गया है। कवि ने राधा और कृष्ण के अद्भुत मोहक रूप का वर्णन करने के लिए अनेक अलकारों की सहायता ली है। सूरदास के वर्णन-कौशल की पराकाष्ठा वहाँ मिलेगी जहाँ वह दर्शक को कृष्ण का रूप देखने पर या तो विभोर कर देता है या उसे उनके साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने म सहायता देता है। सूर की कवित्व-शक्ति का वास्तविक उद्देश्य कृष्ण के अनुपम मधुर-रूप का शब्द-चित्र उपस्थित करने में ही है। कुछ उदाहरणों से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जायेगी।

सखी ब्रज राजत एक बनी।
खेलत हैं वृन्दावन माधौ मद्धि सघन रजनी॥
कमलसुत तासुत तासुत की सुत तासुतपक्ष बरनी।
मीनसुतासुत तसुत नासा ता पर गजगमनी॥
सिंह मध्य अधर रतन दुति दामिनि कोकिल मृदु बचनी।
तिमिरिपु सुतसखापितुपमहुत ता अरि काहि चुगनी॥
पीत तासु पर अहिरिपु राजत दुरत ताहि तनी।
सूरदास प्रभु निरखि हरखि कै जाकी प्रीति बनी॥[2]

१ वही १०८
२ पद १६५

(हे सखी ब्रज में एक धनी (कृष्ण) रहता है जो वृन्दावन में सब रमणियों के साथ क्रीड़ा करता है। उसका मुख चन्द्रोपम है और उसकी शुक समान नासिका में एक मोती है। उसके अधर विद्रुम जैसे हैं। उसके दाँत विद्युत् के समान दीप्तिमान हैं और वचन कोकिल के समान मधुर हैं। उसकी कमर सिंह की-सी है और उसके वक्ष-रूपी उच्च शृंग पर एक मोर (धारीदार बागे के रूप में) विराजमान है जिसकी (तनी रूपी) पखें टूटी हुई हैं। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण के सुन्दर रूप को देखकर गोपियाँ उनके प्रति प्रेमाकृष्ट होकर प्रफुल्लित हो गईं। यहाँ चौथे और छठे चरण की शब्द-मालाओं के विशिष्ट अर्थ हैं। 'जलसुत ता सुत' आदि का अर्थ है चन्द्रमा (जलसुत=कमल उसका पुत्र ब्रह्मा (विष्णु के नाभि कमल से उत्पन्न) उसका पुत्र कश्यप उसका पुत्र सिंहिकासुर उसका पुत्र =राहु उसका भक्ष्य=चन्द्रमा)। हिन्दू मत के अनुसार ग्रहण के समय राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है। इसी प्रकार 'मीनसुतासुत' आदि का अर्थ है शुक (मीनसुता=मत्स्यगन्धा उसका पुत्र=व्यास और उसका पुत्र=शुक)। शुक के दो अर्थ हैं तोता और व्यासपुत्र शुकदेव मुनि। 'जलज' का अर्थ है मोती। 'तिमिरिपुसुत' आदि का अर्थ है 'सिंह' (तिमि=अन्धकार, उसका शत्रु= सूर्य उसका पुत्र=कर्ण उसका भाई=अर्जुन उसका पिता=इन्द्र उसका वाहन=हाथी और उसका शत्रु सिंह है जो कमर का उपमान है)। 'गौन साधु' (उच्च शृंग) का अर्थ है वक्ष और अहिरिपु—मोर से तात्पर्य है तनी वाली बण्डी। तनियाँ टूटी हुई हैं अतः उन्हें टूटे पंख बताया गया है।

> प्रात समै आवत हरि राजत।
> रतन जटित कुण्डल सखि स्रवननि तिनकी किरन सूर-तन लाजत ।।
> सातौं रासि मेलि द्वादस मैं ता भूषननि अलंकृत साजत।
> जलनिधितात तिहि नाम कंठ के ताको पंक्ति मुकुट सिर राजत।
> पृथिवी दुही पिता सो लै कर मुख समीप मुरली धुनि बाजत।
> सूरदास प्रभु गुप्त प्रगट भक्तनि बस अभक्तनि तें भाजत ।।

(हे सखि देखो प्रातःकाल आते हुए कृष्ण कितने सुन्दर लग रहे हैं। कानों में रत्नजटित कुण्डल पहने हैं जिनकी आभा के सामने सूर्य की प्रभा भी लज्जित होती है। वह ऐसा आभूषण भी पहने हैं जिसमें सोना और हीरा लगा है। उसके मस्तक पर मोरमुकुट है और हाथ में वंशी है जिससे मधुर ध्वनि निकल रही है। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण भक्तों के तो वश में हैं और अभक्तों से दूर भागते

---

१ पद ६६

है) । यहाँ तीसरी पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार होगी सातवें राशि—तुला राशि उसका स्वामी शुक्र जिसका रंग श्वेत होने के कारण यह 'हीरे' का उपमान माना गया है । 'द्वादश' राशि—मीन और उसका स्वामी बृहस्पति है जिसका वर्ण स्वर्ण के समान पीत है । इस प्रकार अलंकार रत्न और स्वर्ण से रचित है । 'जलधिसुत तिहि नाम कण्ठ' में 'जलधिसुत' का अर्थ है समुद्र से उत्पन्न अर्थात् विष और उसके कारण नीले कण्ठ वाले हैं 'नीलकंठ' भगवान् शिव जिन्होंने समुद्र-मन्थन के समय उससे उत्पन्न विष का पान कर लिया था और उसे अपने गले में ही रोक लिया था । 'नीलकंठ' मोर का भी नाम है । अतः सारी शब्दावली का अर्थ मोर है । 'पृथ्वी दुही पिता' का अर्थ है 'वेणु' (इस नाम के राजा के पुत्र पृथु ने पृथ्वी को दुहा था) और 'वेणु' का अर्थ 'बंसी' भी है अतः संपूर्ण शब्दावली का अर्थ बंसी होगा ।

> पीताम्बर की सोभा सखी री मो पै कही न जाय ।
> सायरसुतपतिआयुध मानौं जलरिपुरिपु में देति दिखाइ ॥
> जा अरि पवन ताहि सुत स्वामी आभा कुण्डल कोटि दिखाई ।
> छायापतिजन बदन बिराजत बंधुक अधरन गये लजाई ॥
> नाकीनायकबाहन की गति मुरली मधुर बजाई ।
> सूरदास प्रभु हरसुतबाहन तासुत हरि सी सार बनाई ॥

(हे सखी ! मैं पीताम्बर की शोभा वर्णन करने में असमर्थ हूँ । वह मेघ में विद्युल्लेखा-सी लगती है । कुण्डल की कांति मानो सूर्यों की प्रभा के समान है । उसका मुख चन्द्रतुल्य है और अधर बंधूक को लज्जित करते हैं । उसकी गति गज की सी है और वह मधुर बंसी बजा रहा है । सूर कहते हैं कि कृष्ण ने मोरपंख का मुकुट बना रखा है) । यहाँ 'सायरसुतपतिआयुध' का अर्थ है बिजली क्योंकि सायरसुत का अर्थ है ऐरावत और उसका स्वामी है इन्द्र जिसका आयुध बिजली है । 'जलरिपुरिपु' का अर्थ है बादल (जलरिपु = अग्नि उसका शत्रु = मेघ) । 'जा अरि पवन ताहि सुत स्वामी' का अर्थ है 'सूर्य'। पवन अरि (बादल) का अर्थात् जल का शत्रु है और जल का पुत्र कमल है, और कमल का स्वामी सूर्य है । 'छायापतिजन' का अर्थ चन्द्र है। छाया का अर्थ है कांति और यह सूर्य की पत्नी मानी गई है पर यहाँ कवि ने उसे चन्द्र की पत्नी माना है । 'नाकीनायक' का अर्थ है स्वर्ग का स्वामी अर्थात् इन्द्र और उसका वाहन है ऐरावत । 'हरसुतवाहन तासुत' का अर्थ है मोरपंख । (हरसुत = कार्तिकेय

---

१ पर इन

उसका वाहन=मोर और उसके गुन=पंख)।

राधा का नखशिख-वर्णन :

कृष्ण के रूपसौंदर्य के वर्णन के अतिरिक्त कवि ने राधा के नखशिख के विस्तृत वर्णन में भी विशेष रुचि दिखाई है। उन्होंने अनेक कूटपद बनाये हैं जो अतिशयोक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं। इस विषय के कुछ मनोहर प्रसंग उल्लेखनीय हैं। राधा की माता उसके स्वैर विचरण के लिए उसे फटकारती है पर राधा उसे चतुराई से समझाकर प्रसन्न कर देती है। किन्तु राधा को अपने माता-पिता की यह मनोवृत्ति देखकर अत्यन्त दुःख होता है और वह अपनी मनस्ताप की इस अवस्था में अपने एकमात्र आनन्ददाता श्रीकृष्ण को याद करती है। कृष्ण के साथ उसका मानसिक तादात्म्य स्थापित होने पर तत्काल उसके हावभाव बदल जाते हैं। उसका हृदय गद्गद और शरीर रोमांचित हो जाता है। उसका वस्त्र भी ढीला होकर मुँह से खिसक पड़ता है। तब उसकी माता उसके अद्भुत सौंदर्य को देखकर चकित हो जाती है और डाँट-फटकार भूल जाती है। इस परिस्थिति का वर्णन कवि ने राधा की माता के मुख से निम्न कूटपद में इस प्रकार करवाया है —

राधे ससिमुख क्यों न दुरावति।
हौं जु कहति वृषभानुनंदिनी काहे तु जीव सतावति॥
जलसुत दुखी दुखी हैं मधुकर हैं पंछी दुख पावत।
सारँग दुखी होत बिनु सारँग तोहि दया नहिं आवति॥
सारँग रिपु की नैकु ओट करि क्यों सारँग सुख पावत।
सूरदास सारंग किहि कारन सारँग कुलहि लजावत॥

(राधे! तुम अपने चन्द्र (मुख) को छिपा क्यों नहीं लेती हो? हे वृषभानुनंदिनी! मैं तुमसे कहती हूँ तुम जीवों को क्यों सता रही हो। कमल दुखी हैं (क्योंकि वे तुम्हारे मुख चन्द्र को देखकर विकसित नहीं हो रहे हैं) भ्रमर दुखी हैं (क्योंकि वे कमल से बाहर निकलकर स्वच्छन्द विचरण नहीं कर सकते। वे इसलिए भी दुखी हैं कि उन्हें पुष्प-पराग नहीं मिल रहा है)। चकवा और चकवी भी दुखी हैं क्योंकि वे एक-दूसरे से मिल नहीं सकते। तुम्हें फिर भी दया नहीं आती। अपने इस मुख-चन्द्र पर थोड़ा-सा आवरण डाल लो जिससे सूर्य (अथवा वास्तविक चन्द्र) को सुख मिल सके। सूरदास कहता है कि माता पूछती है, हे कन्ये! तू सारंग-वंश (वृषभानु अथवा उपरिवर्णित जीवसमूह) को कलंकित

---

१ सा० ११

स्पर्श कर रही है)। यहाँ 'रविसुत' का अर्थ है वानरश्रेष्ठ सुग्रीव, 'जलसुत' का अर्थ है कमल और 'पंछी' का चक्रवाक-युग्म। 'सारंग' शब्द का विविध अर्थों में प्रयोग किया गया है यथा भ्रमर, सुमन, कामल, मृग अथवा चन्द्र, कामासक्त स्त्री और वृषभासु।

राधा की सखियों को राधा के प्रेम का आभास हो जाता है और वे उसकी सुन्दर भावनाओं के लिए उसकी प्रशंसा करती हैं। राधा उनके साथ वार्तालाप में आत्मविस्मृत हो जाती है और अपने भाग्य की सराहना करने लगती है। वह प्रेम में गद्गद और रोमांचित हो उठती है। वह अपने प्रेम को अभिव्यक्त करना चाहती है पर उसकी वाणी मूक हो जाती है। मनमोहन उसके नेत्रों के सम्मुख नृत्य करने लगता है और वह प्रेमासक्ति में अपने भावों का गोपन नहीं कर सकती। कवि इस अद्भुत भाव की आनन्दमयी व्यंजना करता है पर साथ ही अपने लौकिक नेत्रों से कृष्ण के उस परम चमत्कारी रूप की झलक के पाने में अपने को असमर्थ पाता है। उधर जब राधा अपने को पूर्ण रूप से अलंकृत करके संकेत-स्थान में अपने प्रियतम से मिलन की प्रतीक्षा करती है तो उसके शरीर पर अपूर्व सौंदर्य की छटा छा जाती है। राधा के मन की यह अनुपम अवस्था जो उसके अंगों से व्यक्त हो रही है कवि के निम्न कूटपद में सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है —

> बिराजति अंग अंग इति बात।
> अपने कर करि धरे बिधाता षट दस नव जलजात ॥
> द्वै पतग ससि बीस एक फनि चारि बिबिध रग धात।
> द्वै पिक बिम्ब बतीस बज्रकन एक जलज पर बात ॥
> इक सायक इक चाप चपल अति चितवत चित बिकात।
> द्वै मृनाल मातुर लगे कर द्वै कदली बिन पात ॥
> इक केहरि इक हस गुप्त रहै तिनहिं लख्यौ यह गात।
> सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कौं अति आतुर अकुलात ॥

(राधा की सखी कृष्ण से कहती है 'उसके प्रत्येक अङ्ग में इतनी चीजें सुशोभित हैं—विधाता ने अपने हाथ से छः पत्ती और नौ कमल बनाये हैं। दो सूर्य बीस चन्द्र एक सर्प और चार प्रकार के रंगों की धातुएँ भी उनमें विराजती हैं। एक कमल पर दो बिंब फल हैं और बत्तीस हीरे हैं। एक अत्यन्त कोमल बाण और धनुष भी हैं जिसको देखते ही चित्त मानो बिक जाता है। दो मृणाल दो

मालूरफल और दो नखविहीन कदली तरु भी है। इनके अतिरिक्त एक सिंह है और एक हंस है जो गुप्त है और उसके शरीर से बना हुआ है। सूर कहता है कि इस प्रकार सखी ने कृष्ण को बता दिया कि राधा उनसे मिलने के लिए अत्यंत आतुर और उत्कंठित है)। यहाँ छ: पक्षियों में खंजन-युग्म एक कोयल एक हंस एक कबूतर और एक शुक है। खंजन-युग्म दो नैन हैं, कोयल मधुरवाणी है, हंस चोटी है कबूतरकंठ है और शुक नासिका है। नौ कमलों में दो हाथ दो पैर, दो आँखें एक मुख एक नाभि और एक हृदय है। इन सभी की प्राय: कमल से उपमा दी जाती है। दो सूर्य रत्नखचित दो कुण्डल हैं बीस चाँद हाथ-पैरों के बीस नाखून हैं, एक सर्प कबरी है और चार रंगों की वस्तुएँ स्वर्ण मधुयष्टि, रक्तप्रवाल ताम्र हथेली और श्यामसुन्दर केश हैं। दोनों अधर दो बिम्बफल हैं। बत्तीस हीरे बत्तीस दाँत हैं। धनुष भृकुटी और बाण कटाक्ष हैं। दोनों भुजाएँ दो मृणाल हैं। कनक उरोज दो मालूरफल हैं। जंघा कदली है। कमर सिंह और हंस गति है।

रूपकातिशयोक्ति की सहायता से कवि ने एक और स्थान पर भी राधा के अङ्गों का वर्णन किया है —

> अद्भुत एक अनुपम बाग।
> जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग॥
> हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंजपराग।
> रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग॥
> फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृगमद काग।
> खंजन धनुष चंद्र ता ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
> अंग अंग प्रति और और छबि उपमा ताको करत न त्याग।
> सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानौ अधरनि के बड़भाग॥[1]

(राधा का शरीर एक अद्भुत अनुपम बाग है। उसमें दो कमलों (चरणों) पर हाथी (जंघा) क्रीडा करते हैं। उन पर सिंह (कमर) अनुराग करता है। सिंह पर सरोवर (नाभि) है और सरोवर पर गिरिवर (उरोज) हैं और उन पर कंजपराग (चुचुक) फूले हैं। उनके ऊपर सुन्दर कबूतर (ग्रीवा) है और उस पर अमृत फल (अधर) लगा है। फल पर पुष्प (ठोडी) पुष्प पर पत्ता (ऊपरी ओष्ठ) और उस पर शुक (नासा) पिक (वाणी) और कस्तूरी काक (माथे पर कस्तूरी का चिह्न) विद्यमान हैं। उन पर खंजन (आँखें) धनुष (भौंहें) और चंद्र

---

१ सूर ४५

(मुख) है। उनके ऊपर एक मणिधर सर्प (पुष्पसहित कबरी) है। इस प्रकार सभी अंगों की शोभा अद्भुत है। सूर कहता है कि राधा की सखी कृष्ण से राधा का अधरामृतपान कर अपने अधरों को कृतार्थ करने की प्रेरणा करती है)। यहाँ राधा के शरीर की तुलना एक बाग से की गई है जो विविध अंगों के रूप में नाना प्रकार की वस्तुओं से सुशोभित है।

आगामी पद में राधा के सौंदर्य का वर्णन एक भिन्न रीति से ही किया गया है —

पद्मिनि सारँग एक मँझारि।
आपुहि सारंग नाम कहावै सारँग बरनी बारि॥
ता मैं एक छबीली सारँग अध सारंग अनुहारि।
अध सारँग पर सारँग सकलई सारँग अधसारँग बिचारि॥
तामधि सारँगसुत सोभित है ठाढ़ी सारंग धारि।
सूरदास प्रभु तुमहूँ सारँग बनी छबीली नारि॥[1]

(राधा की सखी कृष्ण से कहती है, "राधा पद्मिनी नायिका है। वह सारंग (सुन्दरी) नाम से प्रसिद्ध है और उसके केश सारंग (भ्रमर) जैसे हैं। उन केशों के बीच एक सुन्दर सारंग (चंद्रमुख) है जो आधे सारंग (चंद्र) जैसा है। इस आधे चंद्र (मुख) ने पूरे चंद्र (वास्तविक चंद्र) की शोभा छीन ली है जिससे पूरा चंद्र उसका आधा प्रतीत होता है। उस अर्धचंद्र (मुख) में दो मृगशावक (नेत्र) शोभित हैं। इस प्रकार उसमें अद्भुत रूप है। हे प्रभु आप भी सुन्दर हैं और राधा भी छबीली है। उससे मिलिए)। यहाँ 'सारँग एक मँझारि' का अर्थ है 'राधा'। 'सारँग' का एक अर्थ है बादल जिसका पर्याय है 'धाराधर'। धाराधर का मध्य भाग है 'राध' जो राधा का संक्षिप्त रूप है। सारंग शब्द के ये अर्थ और हैं (१) रमणी (२) भ्रमर, (३) मुख (४) चंद्र (५) मृग (६) सौंदर्य और (७) प्रिय।

कवि ने कृष्ण के सौंदर्य से अभिभूत हुई आँखों की असमर्थता का अनेक पदों में रहस्यपूर्ण वर्णन किया है। यथा —

स्याम रंग नैना रचि री।
सारँगरिपु तै निकसि निलज भए अब परबस ह्वै नाचैरी॥[2]

(मेरे नेत्र कृष्ण के प्रेम में रमे हैं। भवघूंघट (सारंगरिपु) से निकलकर वे निर्लज्ज

---

१ पद ४४

२ पद ५१

हो गए हैं और प्रकट रूप से नाच रहे हैं) । ऐसा ही भाव अगले पद में है —

> लोचन लालची भए री ।
> सारँगरिपु के हुतल न रोके हरि लम्पट मिलए री ॥
> वाकर कुसुम बेलि में राखे चसक कपाट दए री ।
> मिलि प्रेम पुत पैआकरि निकसे चतुरि स्याम पै धौरि गए री ॥
> हैं आधीन पय ते न्यारे कुल लज्जा न नए री ।
> सूरदास प्रभु हरि सुन्दर रस अटके मानो कराह भए री ॥

(मेरे नेत्र बहुत लालची हो गए हैं । यद्यपि उन्हें घूँघट में बहुत रोक कर छिपाती हूँ पर वे कृष्ण के रूप में अनुरक्त हैं । मैं उन्हें अपनी पलकों के कपाटों में काजल के तासे में बन्द करके रखती हूँ फिर भी मेरे मन से छिप करके वे कृष्ण से दौड़कर मिलने के लिए निकल गये हैं । वे पूर्णतः कृष्ण के अधीन हैं और पखेन्द्रियों (अन्य साथियों) से पृथक हो गए हैं और अपने कुल की लज्जा छोड़ गये हैं ।)

आगे के पद में भी नैनों का सुन्दर वर्णन देखिए —

> लोचन लालच ते न टरे ।
> हरि सारँग सौं सारग मोपे दधिसुत काज धरे ॥
> ज्यौं मधुकर बस परे केतकी नहिं ह्यां ते निकरे ।
> ज्यौं लोभी लोभहिं नहिं छाँडत यह अति अर्थप करे ॥
> सनमुख रहत सहत दुख दारुन मृग ज्यौं नाहिं डरे ।
> वे जोरै यह जानत सब हित चित सदा करे ॥
> ज्यौं पतंग फिरि परत प्रेमबस जीवन सुरति भरे ।
> जैसे मीन अहार लोभ ते लोलन परे परे ॥
> ऐसेहि सुभग भए हरि छवि पर जीवत रहत फिरे ।
> सूर सुमट ज्यौं रन नहिं छाँडत जब लौं परनि फिरे ॥[1]

(राधा अपनी सखियों से कहती है आँखें लालच नहीं छोड़ती । वे कृष्ण के रस में ऐसे अनुरक्त हैं जैसे संगीत में मृग । वे सदा चाह (सुख) के लिए लालायित हैं । जैसे केतकी के वश में आया हुआ भ्रमर छुटकारा नहीं पा सकता जैसे लोभी लोभ को नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार मेरी आँखें भी कृष्ण के सौन्दर्यदर्शन की ललक को नहीं छोड़ सकती । जैसे मृग धोखे को जानते हुए भी व्याध के

१ पद २१
२ पद २७

सम्मुख बाणों को सहता हुआ खड़ा रहता है जैसे पतंगा बारबार प्रेमवश ज्वाला में गिरकर प्राण दे देता है जैसे मछली गोली के लिए काँटे में फँस जाती है उसी प्रकार मेरे नेत्र कृष्ण की रूपमाधुरी के लिए मुग्ध हैं और वे उसे उसी प्रकार नहीं छोड़ते जैसे एक सुयोद्धा रणभूमि को तब तक नहीं छोड़ता जब तक वह भूमि पर नहीं गिर पड़ता।)

सुरति (राधा और कृष्ण की रतिक्रीड़ा) :

राधा और कृष्ण का सबंध संयोग और वियोग दोनों ही प्रकार के शृङ्गार का मधुर चित्र उपस्थित करता है। इस युगलमूर्ति का वर्णन विविध भावों से युक्त पदों के रूप में किया गया है। उनके परस्पर प्रमालाप क्रीड़ा कलह मान उपालम्भ आदि विविध चेष्टाओं के द्वारा मानव-जीवन के मनोहर दृश्यों के मर्मस्पर्शी शब्दचित्र उपस्थित किए गए हैं।

निम्न कूटपद बहुत ही मर्मस्पर्शी है जिसमें राधा-कृष्ण के जीवन की एक मधुर परिस्थिति का चित्र है —

देखो सोभासिन्धु समात।
स्यामा स्याम सकल निसि रस बस जागे होत प्रभात॥
लै पाइमहत कर सनमुख दे निरखि निरखि मुसकात।
चारकमल दुभय देह बसबसात कन ॥
चकित चकोर चंचतिय रवि ससि किरनि तहाँ लुभात।
नवल नग बसु मध्य कबल दीजा बरनि न जात॥
चारि कोर पै पारस द्रिग म मानि अलोपम भात।
सुख की रासि जुगल भक्त ऊपर सूरदास बलि जात॥[1]

(देखो हम शोभा के समुद्र में डूब रहे हैं। राधा और कृष्ण ने सम्पूर्ण रात्रि सुरति में व्यतीत कर दी और अब प्रभात होने पर जागे हैं। वे हाथों में दर्पण लिये हुए हैं और अपने मुख देखकर मुस्करा रहे हैं। चार कमल दिखाई दे रहे हैं (दो राधा और कृष्ण के मुखमुख और दो उनके प्रतिबिंब)। चार नीलमणि और स्वर्ण के शरीर दीख रहे हैं (कृष्ण का नीलवर्ण नीलमणि जैसा है और राधा का गौरवर्ण स्वर्ण जैसा है)। आठ कर्णाभूषण हैं (दोनों के चारों कानों में चार आभूषण और चार उनके प्रतिबिंब) जिनकी आभा सूर्य और चाँद से भी बढ़कर है। आठ चंचल पक्षी हैं—(राधा और कृष्ण के चार नेत्र

[1] पद ५७

और चार उनके प्रतिबिंब)। आठ कमल हैं (राधाकृष्ण के दो मुख और दो चिबुक तथा उनके चार प्रतिबिंब) चार शुक हैं (दोनों की दो नासाएँ और उनके प्रतिबिंब) उन पर एक पारस (रत्नावलि) और विद्रुम (अधर) हैं जिन्हें मधु अथवा (कज्जल-रूपी) भ्रमर खा रहे हैं। सूरदास कहते हैं कि अनाथ की राशि इस युगलमुख पर मैं बलिहारी हूँ)। यहाँ 'पाहनयुत' का अर्थ दर्पण है 'बेद' का चार, 'जलजातक' का कमल 'कनक' का राधा की स्वर्णिम अंगयष्टि 'नीलमणि' का कृष्ण की अंगयष्टि 'जड़ाऊ' का रत्नजटित अलंकार, 'खग' का नैन 'कमल' का मुख और चिबुक 'कीर' का नासा 'पारस' का रत्नावलि 'विद्रुम' का अधर और 'अलिगन' का कज्जल अथवा रूपराशि।

आगामी पद में कृष्ण के साथ सुरतिक्रीड़ा में राधा के सकुचाने का वर्णन है —

> लजुकि तन उदधि सुता मुसुकानी।
> रविसारथी सहोदर-नायक अंबर लेत लजानी।
> सारँग चापि मूँदि कुवलेनी अलि मुख माँहि समानी।
> चरन चापि महि महि प्रकटायो देखत अति अकुलानी॥
> सूरदास तब कहा करै तिय लाजनि प्रथम उमानी।
> कंचुकि उघारि पसारि कठिन कुच स्याम अंक लपटानी॥[1]

(समुद्र की पुत्री अर्थात् राधा (जो लक्ष्मी का अवतार मानी जाती हैं) लज्जित हुई और मुस्कराई। जब कृष्ण ने उसका वस्त्र हटाना प्रारम्भ किया तो वह अति लज्जित हुई। तब उस मृगनयनी ने अपने कर-कमलों से आँखें मूँद लीं और अलि को मुख में ग्रास लिया। इस पर (विष्णु के अवतार) कृष्ण ने पृथ्वी को अपने पैरों से दबाकर उसमें से एक सर्प प्रकट कर दिया। उसे देखकर राधा भयभीत और आकुल हो उठी। सूरदास कहते हैं कि अपने प्रियतम के द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देने पर बेचारी अबला स्त्री क्या करे। तब उसने अपने कठिन कुचों से अपनी कंचुकी खिसकाई, और कृष्ण से लिपट गई)। यहाँ 'रवि-सारथी सहोदर-नायक' का अर्थ कृष्ण है (रविसारथी—अरुण उसका सहोदर—गरुड़ उसका स्वामी—विष्णु अर्थात् कृष्ण) शेष स्पष्ट है।

राधा और कृष्ण की सुरति के वर्णन के दो पद और उद्धृत किए जाते हैं —

---

१ पद ६१

राधा बसन स्याम तन दीन्हीं ।
सारँग बदन बिलास बिलोचन हरि सारँग जानि रत कीन्हीं ॥
सारँग बचन कहत सारँग सौं सारँगरिपु द राखति ओबी ।
सारँग पानि गहत रिपु सारँग कहा कहति लियौ छीनी ॥
सुधापान करि कै नीकी बिधि रही सेज फिरि मुद्रा दीन्हीं ।
सूर सुदेस आहि रति नागर भुज आकरषि काम कर लीन्हीं ॥

(कृष्ण ने राधा के शरीर के वस्त्र पहचान लिए । उस चद्रमुख ने कामासक्त नेत्रों से यह देखकर कि रात्रि है और भय की कोई संभावना नहीं है निर्भीक होकर रमण किया । राधा की एक सखी अन्य सखी से रात्रि की यह घटना कहती है 'जब कृष्ण ने अपने करकमलों से उसका घूँघट उतार दिया तो वह क्या कर सकती थी । उसने अच्छी तरह राधा के अधरामृत का पान किया और गाढ़ आलिंगन किया । तब उस रतिनागर ने उसे अपने निकट खींचकर अपने वाम बाहुपाश में आबद्ध कर लिया') । यहाँ भी 'सारंग' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है ।

रतना कुचन रतनिधि डोल ।
कनक बेलि तमाल अरुझी सुभुज बंध अखोलि ॥
भृंग जूथ सुधा किरनि मनु सघन आवत जात ।
सुरसरी पर तरनि तनया उमगि तट न समात ॥
कोकनद पर तरनि ताँडव मीन खंजन संग ।
कीर लिल बक बिडार मिलि जुग मनौ संगम रंग ॥
जलद तें तारा गिरत मनौं परत पैनिधि माहिं ।
भुज भुजग प्रसंग मुख हूँ कनकधर लपटाहिं ॥
कनकसंपुट कोकिला रव बिवस ह्वै दै दाम ।
बिकच कंज अमारँगिन पै लसि करत पैपान ॥
कामिनी थिर जलधरा बर कबहुँ ह्वै इति जाति ।
कबहुँ दिन उद्योत कबहुँ होत मध्य कुहुराति ॥
सिंह मध्य समार मनिमिल तरल करि कै तीर ।
कमल मनु बिधु माल बलते मधुप पीवत नीर ॥
हंस सारस सिखर पर चढ़ि करत नाना नाद ।
चकर मिल बद मिलक बिहरत मिलत अति आह्लाद ॥

१ पद ११

यथा —

देखि सखि चार चंद इक ठौर।
निरखति बैठि नितंबिनि पिय संग सारसुता की ओर॥
द्वै ससि स्याम नवल घन सुन्दर द्वै कीन्हें बिधि गोर।
तिनके मध्य चारि सुक राजत द्वै फल आठ चकोर॥
ससि ससि संग प्रवाल कुंदकलि उरझि रह्यौ मनमोर।
सूरदास प्रभु अति रति नागर बलि-बलि जुगलकिसोर॥

(हे सखी एक स्थान पर चार चन्द्रमा देखो। यह नितंबिनी सुन्दरी (राधा) प्रिय (कृष्ण) के साथ दर्पण (आरसी) देख रही है। उसमें दो तो श्यामल चंद्र नव जलद के समान सुन्दर (कृष्ण का मुख और दर्पण में उसका प्रतिबिंब) हैं और विधाता के द्वारा बनाए हुए दो गौर चंद्र (राधा का मुख और उसका प्रतिबिंब) हैं। इन चन्द्रों के मध्य चार शुक (दोनों की नासिकाएँ और उनके प्रतिबिंब) हैं दो मोती (राधा के नासाभरण में और उनका प्रतिबिंब) हैं और आठ चकोर (दोनों के चार नेत्र और उनके प्रतिबिंब) हैं। प्रत्येक चंद्र (मुख) में एक-एक विद्रुम (अधर) और कुंदकली (दंतावली) है जिसमें मेरा मन उलझ गया है। सूरदास कहते हैं कृष्ण रति-नागर हैं और इस युगल-मूर्ति पर मैं न्योछावर हूँ)।

देखे चारि कमल इकसाथ।
कमलहिं कमल चढ़े नाचति हैं कमल कमल ही मध्य समात॥
सारँग पै सारँग खेलत है सारँग ही सों हँसि हँसि जात।
सारँग स्याम और हू सारँग सारँग सों करें बात॥
भरि सारँग राखि सारँग की सारँग गहि सारँग को गात।
सो लै राखि सारँग सारँग को सारँग लै आयो या हात॥
सोइ सारँग चतुरानन सुरपति सोइ संभु मुनि ध्यात।
देखत सूरदास सारँग को सारँग ऊपर बलि बलि जात॥[२]

(एक सखी दूसरी से कहती है "मैंने एक साथ चार कमल (राधा के दो भुज और कृष्ण के दो हाथ) देखे हैं। एक कमल दूसरे को पकड़े है मानो एक दूसरे में प्रवेश कर रहा हो। (राधा अपने हाथ से कृष्ण का हाथ पकड़कर उसे हटा रही है)। एक चंद्र (राधा के मुख) पर दूसरा चंद्र (कृष्ण का मुख) झुका हुआ है और दोनों की स्थिति भी चंद्र जैसी है। श्याम कमल (कृष्ण का मुख) रक्त

---

१ पद ६६
२ पद २

कमल (राधा के मुख) से कमल (नेत्रों) के द्वारा बातें कर रहा है। इस युगल-मूर्ति को वस्त्र से आवृत ही रखो जब तक रात्रि चंद्रमा को छुटा न दे अर्थात् जब तक चंद्र अस्त न हो जाए। इस बीच मैं मैं हाथ में दीपक लेकर उसमें तेल डालूँगी। इस युग्म को पाना ब्रह्मा के लिए भी दुर्लभ है और शिव भी इसी का ध्यान करता है। सूर इसी सारंग (कृष्ण) का भक्त है और उसके चरणों पर बलिहारी है)। यहाँ 'सारंग' शब्द में श्लेष है जो अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

अन्य अनेक पदों में भी कृष्ण की जोड़ी (राधा) के विविध अंगों का वर्णन कमल और सारंग जैसे शब्दों की सहायता से किया गया है। युगलमूर्ति के मिलने का एक चित्र देखिए —

देखि सखि पाँच कमल द्वै संभु।
एक कमल व्रज ऊपर राजत निरखत नैन अचंभु॥
एक कमल प्यारी कर लीन्हें कमल सुकोमल अंग।
युगल कमलसुत कमल निहारत प्रीति न कबहूँ भंग॥
षट् दु कमल मुख सन्मुख चितवत बहुविधि रंग तरंग।
तिन में तीन सोमवंसी बस तीन तीन शुक सीपज संग॥
द्वै कमल सनकादिक दुर्लभ जिनतें निकसी गंग।
तेई कमल सूर नित चितवत भीत निरन्तर संग॥[1]

(कृष्ण ने अपना हाथ राधा के कपोलों पर रख रखा है और इसका वर्णन एक सखी दूसरी से करती है अरी सखी! देखो पाँच कमल और दो शिव एक स्थान पर हैं (राधा के दो कपोल शंभु हैं और कृष्ण के दो हाथ दो आँखें और मुख पाँच कमल हैं)। इन कमलों के ऊपर एक कमल (राधा का हाथ) है जिसे देखकर नैन अचंभित होते हैं। प्यारी (राधा) ने अपने एक कमल (हाथ) में कमल (कृष्ण का हाथ) ले रखा है और राधा का कोमल अंग भी कमल जैसा ही है। 'कमलसुत' (ब्रह्मा) इस युगल-कमल (राधा-कृष्ण) को देख रहा है और उसकी प्रीति कभी कम नहीं होती। छः कमल (राधा और कृष्ण के नैन और मुख) सामने देखते ही चित्त में आनन्द की अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं। तीन चन्द्रों (राधा का मुख और उसका प्रतिबिंब तथा कृष्ण का मुख) के पास में एक मणी है और तीन शुक (राधा की नासा और उसका प्रतिबिंब तथा कृष्ण की नासा) हैं। दो कमल (कृष्ण के चरण) सनकादिक मुनियों को दुर्लभ हैं

१ पद १

और जिससे गंगा निकली है उन्हीं कमलों को सूरदास सदा भक्तिपूर्वक देखता रहता है)।

आगामी पद में कृष्ण के कर का सहारा लिये हुए राधा की मूर्ति अंकित है —

हरि कर मोहिनी बेलि लसी।
तापर उरग ग्रसित तब सोभित पूरन अंस ससी॥
कौपलि कर भुजदंड रेख गुन अन्तर बीच कसी।
कनक कमल मधु पान मनौ कर गुन मिल उलटि खसी॥
तापर सुन्दर आँचर आँच्यौं अंकित दंत लसी।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलत जनु दाड़िम बिकसि हँसी॥[1]

(कृष्ण के कर पर एक मोहिनी लता (राधा) शोभित है। उसके ऊपर सर्प-रूपी (राधा की कबरी) राहु से ग्रसित पूर्णकला चन्द्र (कृष्ण का मुख) है। कृष्ण के हाथ स्वर्णकलश (राधा के उरोजों) को दबा रहे हैं जो (चोली की) डोरियों से कसे हुए हैं। मधुपान कर लेने (पूर्ण आनन्द लेने) के बाद कृष्ण के हाथ छूट गये हैं। राधा ने अपने इन नख-चर्चित अंगों को आँचल से ढक लिया है। सूरदास कहता है कि कृष्ण से मिलकर मुस्कराती हुई राधा के दाँत दाड़िम के दानों के समान विकसित हो रहे हैं)।

राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्रण में सूरदास ने नायिका राधा को सदा समुत्सुका और अनुरक्त प्रिया के रूप में चित्रित किया है। वह अपनी सखियों द्वारा अपने प्रिय कृष्ण को बुलवा लेने में भी अति चतुर है और उन सखियों से भी अपना प्रेमभाव छिपा लेती है। राधा अपनी क्रीड़ाओं का आभास अन्य सखियों को नहीं लेने देना चाहती पर जब वह अपनी दिनचर्या का वर्णन करती है तो सारा गुप्त रहस्य प्रकट हो ही जाता है। अपने एक अनुभव का वर्णन करते हुए राधा यह कहना न रोक सकी कि जब कृष्ण ने उसका वस्त्र उतारने का प्रयत्न किया तो उसने विरोध किया पर तब कृष्ण ने जोर से भूमि को दबाया और उसमें से शेषनाग के सहस्र फणों से एक विचित्र कान्ति निकल पड़ी। वह डर गयी और कृष्ण के गले से लिपट गयी —

स्याम रति प्रगट भई रस कीन्हौ।
कहत पुनि पुनि कहा धन अम्बर सखहु मैं रही लटुकि गहि आपु लीन्हौं।

---

[1] पद २१

> कियौ सुरत में कहा करौ सारंग सौं सारम्बार बरजि तब बरन कारी।
> सेष सहसौं फननि को ज्योति मनि भास तें कंठ लपटाय करी।
> रही उनकी टेक चली मेरी कहा धरनि गिरिराज भुज लसन धारी।
> सूर प्रभु के सखी सुनहु पुन रैनि के वे पुरुष मैं कहा कहौं नारी॥[1]

(एक बार कृष्ण ने रतिरास में यह आश्चर्य किया। उसने मुझसे बारम्बार कहा तुम अपने अंगो पर इतना कसकर वस्त्र क्यों बांधे हो ? मैं लज्जित हो गयी पर उसने मुझे पकड़ लिया। मैंने सारंग (कृष्ण) का विरोध किया तो सारंग (शंख)-धर कृष्ण ने पैर से पृथ्वी को दबाया। तब शेषनाग के सहस्र फणों से मणियों की ज्योति निकल पड़ी और मैं अत्यन्त भयातुर होकर कृष्ण के गले से लिपट गयी। उसने अपनी इच्छा पूर्ण की और मैं विवश थी क्योंकि वह तो अपनी भुजाओं पर सम्पूर्ण पृथ्वी और पर्वतों को भी धारण किए हुए है। सूर दास कहते हैं कि हे सखी! तुम रात्रि की यह घटना सुनो। आखिर वे पुरुष हैं और मैं नारी हूँ। भला बताओ तो मैं क्या करती!)

मान और मनुहार :

राधा के मन की चंचलता प्रभात में उसके कृष्ण-मिलन के आकर्षण को बढ़ा देती है। अनेक बार राधा कृष्ण से रुष्ट हो जाती है और अपने सौंदर्य तथा आकर्षण के बोध के कारण मानवती बन जाती है। ऐसे अवसरों में कृष्ण मनुहार करते हैं और राधा का मानभंग हो जाता है। जब उसका मान भंग हो जाता है तो वह स्वयं ही कृष्ण के प्रति निकट होने को उत्सुक हो उठती है और अदम्य प्रेम से अभिभूत हो जाती है। इससे नायक-नायिका में पुनः प्रेम की वृद्धि होती है। इन कोमल परिस्थितियों का सजीव चित्र उपस्थित करने के लिए सूरदास ने राधा की उस समय की क्रीडाओं और चेष्टाओं का विस्तृत वर्णन किया है जब उसकी भावुकता पराकाष्ठा पर थी। कृष्ण वास्तव में बहुस्त्रीपरायण नायक है और राधा को उसके इस अपराध को देखने का अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है। स्वभावतः स्त्री-सुलभ चापल्य से वह खिन्न हो जाती है। कृष्ण उसके प्रति अपनी अनन्य निष्ठा का विश्वास दिलाना चाहते हैं पर राधा उनका विश्वास नहीं करती। तब कृष्ण द्वारा मनुहार, प्रार्थना, विनय और भविष्य के लिए अपनी विश्वस्तता का वचनदान आदि भी राधा को मनाने में विफल रहता है। ऐसी स्थिति में कृष्ण अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। इस प्रसंग में सूरदास को कृष्ण की विरहाकुलता और मानसिक व्यथा

---

[1] पद ६४

के चित्रण का पर्याप्त अवसर मिला है। जब कृष्ण के निजी प्रयत्न विफल हो जाते हैं तो वह चतुर दूतियों की सहायता लेते हैं और सूर ने उभयपक्ष की सखियों के सतत अनुनय के प्रयत्नों के वर्णन में अद्भुत कौशल दिखाया है तथा राधा की हठ और कृष्ण की मनोव्यथा का मनोहर वर्णन किया है। अन्त में राधा-कृष्ण के मिलन के लिए किये हुए सखियों के प्रयत्न सफल होते हैं। वे कुंज में मिलते हैं। उसके बाद का वर्णन अत्यन्त रोचक है जिसमें कृष्ण की व्यवहार कुशलता और रसिकता का चित्रण अद्वितीय है। क्षणिक विरह के पश्चात् पुनः उत्कट दीर्घ मिलन से उत्पन्न भावों की तीव्रता का वर्णन कूटपदों की सहायता से ही सम्भव था। इन पदों में सूरदास ने मन की व्यग्रता और व्यामोह के विविध रूपों का चित्रण बड़ी सफलता से किया है। उदाहरण के लिए निम्न पद में परिस्थितियों की विविधता का वर्णन है। कृष्ण के प्रति राधा के प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में राधा अपनी सखियों से अपने सौंदर्य की अत्यन्त प्रशंसा सुनती है और उसके मन में गर्व की भावना उत्पन्न होती है। उसे यह भ्रम हो जाता है कि कृष्ण उससे अभिभूत हैं अतः वह कुछ उदासीनता का भाव प्रकट करती है। पर जब कृष्ण उससे मिलने आते हैं और वह उनकी चेष्टाओं को प्रोत्साहन नहीं देती तो वे वापस चले जाते हैं और राधा को अपने गर्व के लिए पछताना और व्याकुल होना पड़ता है। वह कृष्ण को बुलाने का निर्णय करती है और उसका गर्व विलीन हो जाता है —

> जिनि हठि करहु सारँग नैनी।
> सारँग ससि सारँग पर सारँग ता सारँग पर सारँग बैनी।
> सारँग रसन बसन पुन सारँग सारँग सुत बिन निरखि सिपैनी॥
> सारँग कही सु कौन बिचारी सारँग पति सारँग रवि सैनी॥
> सारद सवनहि में सु बसन यह अजौं न मानति भइ यह रैनी।
> सूरदास प्रभु तुवमन आवै छोकरहु तारिहु सुख दैनी॥[1]

हे मृगनयनी! ऐसा हठ न करो। तुम्हारे चरणकमलों पर नखचन्द्र है। तुम्हारी गति गज की सी है और तुम्हारी सिंह जैसी कटि पर नाभि-रूपी सरोवर है। उस सरोवर के ऊपर (तुम्हारी वाणी-रूपी) कोकिला बैठी है। तुम्हारी वाणी अमृत के तुल्य मधुर है। तुम्हारी दशनावली में विद्युत की द्युति है और तुम्हारे नयन से नेत्रों में तीव्र कटाक्ष हैं। तुम कृष्ण की बात पर विचार क्यों नहीं करती हो? कृष्ण ने तुम्हारे लिए कमलों की शैय्या बिछाई है और रात्रि में चन्द्र

---

1 पद १

को पश्चिम में लगभग छिपा दिया है (प्रात होने ही वाला है)। हे कामदेव को सुख देने वाली राधा कृष्ण तुम्हारी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। यहाँ दूसरी पंक्ति में 'ससि' का अर्थ है मन और अन्तिम पंक्ति में 'मन्मथरिपु तारिपु' का अर्थ है कामदेव (मन्मथरिपु—शंकर, उनका रिपु—कामदेव)।

राधा का यह विभ्रम भी कितना सुन्दर है जब कृष्ण के निर्मल उरस्थल पर राधा को अपना ही प्रतिबिम्ब होने पर भी वह उसे अन्य स्त्री समझकर दुखी होती है। इस अवसर पर राधा के रोष का सूरदास ने अद्भुत वर्णन किया है। कभी-कभी राधा कृष्ण के शरीर पर रति के चिह्न देखती है तो मुस्कराती है फिर उस पर कटाक्ष करती है भौंहें चढ़ाती है और अन्त में उन्हें धिक्कारती है। ऐसी परिस्थितियों में कृष्ण या तो सखियों की सहायता से या निजी प्रयत्नों से राधा के कोप को शान्त करने में सफल हो जाते हैं। राधा के मान और कृष्ण की मनुहार के भी कुछ उदाहरण देखिए —

> देखत ही कत मान दिढ़ायौ।
> भृगुसुतसुतानाथहितपितुप्रियप्रिय हिय बचन दिढ़ायौ॥
> तापसुतापतिपितुअरिमाथौ नाम सुचरन लगायौ।
> पुष्पसुताअरिरिपुनासअरिसुवन बचन बनायौ॥
> सुरभीतमअसुसुत की अनु माला तनक बढ़ायौ।
> सूर स्याम जब परयौ पाइं तर तब किन कंठ लगायौ॥

(सखी राधा से कहती है "तुमने उसे देखते ही अपना क्रोध इतना उग्र क्यों कर लिया? क्या तुमने अपने ब्रह्मज्ञान को दृढ़ बनाया अथवा अपने हृदय की कुटिलता अथवा विरक्ति का परिचय दिया। जब तुमने उससे अपना चरणस्पर्श किया लिया तो तुम्हारा कोप दुर्वासा से भी बढ़कर था और अब तुम मछली की तरह तड़प रही हो। जब वह तुम्हारे पैरों में गिरा था तो तुमने उसे कंठ से क्यों नहीं लगा लिया?" यहाँ 'भृगुसुतसुतानाथहितपितुप्रियप्रिय' के तीन अर्थ हो सकते हैं (१) ब्रह्मज्ञान (२) वैराग्य और (३) कुटिलता। (१) भृगुसुत—शुक्र उसका शत्रु—परशु, उसका नाथ—परशुराम उसका हित—शिव उसका पिता—ब्रह्मा उसकी प्रिया—सरस्वती उसका प्रिय—ब्रह्मज्ञान (२) भृगुसुत—भगण उसका शत्रु—बुद्ध (ज्योतिष के अनुसार) उसका स्वामी—सूर्य उसका मित्र—चन्द्र उसका पिता—अत्रि उसकी प्रिया—अनुसूया उसका प्रियपदार्थ—वैराग्य (३) 'भृगुसुतसुतानाथहित' तक तो दूसरे अर्थ के समान चंद्र फिर या

---

१ पद ११

की तिथि अर्थात् कृष्ण और 'सुरपति सुभाव' का अर्थ है (सुर्योदय की प्रकृति अर्थात्) मान। 'पूरसुत' का अर्थ है कर्ण अर्थात् कान। 'रवि'—सूर्य बारह मान गये हैं अतः उसका अर्थ है बारह और 'इन्दुबंध' का अर्थ है चन्द्रमा की कलाएँ। इस प्रकार समस्तपद का अर्थ है सोलह शृंगार। 'साठमष्ट' का अर्थ है लक्ष्मी क्योंकि साठ युगों में आठवाँ श्रीयुक्त है। 'गिरिजानाथ' का अर्थ है शिव और उसका शत्रु है काम जिसकी पत्नी है रति। 'मरालसोवनमाल' का अर्थ है मोतियों की माला (मरालभोजन—मोती)।

निम्न पद में राधा अपने प्रेमी कृष्ण के अनुचित कार्य के सम्बन्ध में अपनी सखी से कहती है। (कृष्ण ने अन्य स्त्री के साथ समोद किया। राधा इससे अप्रसन्न होकर अपनी सखी से और अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण से कहती है)।

> सजनी ताकों सब समुझावै।
> जाकौं लाज तमक ना तन में मन में लो न लजावै॥
> मुग्ध तीन पाछिल मुख ताकों प्रथम आपनो खोवै।
> सुधर समर आदि लो सोहै सुनत करत तन धोवै॥
> दानवप्रिया सेर चालीसों सुरसी रस घृत कीजौ।
> तजत न स्वाद आपने तमको जो विधि कीन्हें नीकौ॥
> येक उक्ति तहं चुमित समय के का समुझावत मोको।
> मिसरी सूर न भावत घर की चोरी को गुड़ मीठो॥

(हे सजनी! तुम्हें सब कुछ कैसे समझाऊँ किन्तु वह सब समझता है। जिसे तनिक भी लज्जा न हो उसके मन में किसी भी चीज के लिए संकोच नहीं होता। वह अन्य स्त्री का नाम सुनते ही प्रथम को खो देता है और उससे प्रेम करने लगता है। नीम के वृक्ष को घी-गुड़ से सींचो तब भी वह अपना कड़ुवापन नहीं छोड़ेगा। यह कैसोक्ति है जिसे तुम अच्छी तरह नहीं समझ सकती। सूर कहते हैं कि राधा कहती है "हे सखी जिसे चोरी के गुड़ की लत पड़ गई है उसे अपने घर की मिसरी भी अच्छी नहीं लगती। यहाँ 'मुग्ध तीन' आदि का अर्थ है तिया (स्त्री) (मुग्ध— तीन— १ मध्य २ तीस)। 'पाछिल मुख' का अर्थ है 'यार'। 'तीय' और यार के पूर्वापर मिलकर हुआ—तीया अर्थात् स्त्री। 'सुधर समर आदि ली' का अर्थ है 'पर-स्त्री'। (सुधर=पर्वत समर=रण इन दोनों के आदि अक्षर प+र से मिलकर बना पर) अतः परस्त्री का अर्थ हुआ पर स्त्री। 'दानव-प्रिया' का अर्थ है नीर (दानव=कुम्भकर्ण उसकी प्रिया=नीर)

और 'सेर कामीसों' का अर्थ है 'मन' (चालीस सेर का)। इन दोनों के मादि मक्षरों से मिलकर बना मीन। 'सुरभी रस' का अर्थ है दुग्ध मथवा घी। 'कुमिस समाज' का मर्थ है कूटपद।

विरहासक्ति :

सूरदास के सर्वाधिक कूटपद वियोग-वर्णन के हैं। कान्तासक्ति में विरह कालीन म्राकुलता की प्रबलता ही मासक्ति का सर्वोत्तम मापदंड होती है। विरह कालीन पश्चाताप में ही भक्त की मासक्ति की सच्ची मनोदशा का परिचय मिलता है। वियोग ही प्रेम की परिपूर्णता की कसौटी है। वास्तव म प्रम यदि एक बार भी विरह की परीक्षा में सफल हो जाता है तो उस विरह स वह प्रेम तीव्रतर हो जाता है। इस प्रकार उद्‌भूत भावनाम्रो की तीव्रता ही परमानन्द का स्रोत होती है। इसी कारण समस्त भक्ति-काव्य म भावो का विकास प्रदर्शन करने के लिए विरह के मापदड से ही म्रासक्ति की गहनता की परख की जाती है। चलुकता म्रातुरता उत्कण्ठा उत्साह म्रादि सचारी भावा का विरह-वर्णन क पदो में प्रमुख स्थान होता है। प्रबसे पद मे विरहिणी राधा का नखो से भूमि पर कृष्ण का चित्र बनाते हुए दिखाया गया है। वह कृष्ण क साथ म्रपने काल्प निक मिलन मे म्रात्म-विस्मृत हो जाती है। राधा की इस मानसिक म्रवस्था का चित्रण करने वाला कूटपद यह है —

> सोचति राधा लिखति नखन सौं बचन न कहत कठ जल त्रास।
> छिति पर कमल कमल पर कदली पंकज कियो प्रकास॥
> ता पर अलि सारग प्रति सारँग रिपु लै कीन्हौ बास।
> तह मरविंद पिता सुग मविरल बारिज बिबिरप भयौ प्रकास॥
> सारँग सुत त परत मघुउरि मनु सिव पुबति तपति बिनास।
> सूरदास प्रभु हरि बिरहारिपु बाहत मग दिखावत बास॥[१]

(राधा की सखी कृष्ण से कहती है राधा चिंतन करती हुई नखो से कुछ लिख रही है। बोल नही सकती। उसका कठ भर म्राता है। उसक चरण-कमल भूमि पर हैं और उन पर कदली-सम जघाएँ हैं और उनके ऊपर उरोज-रूपी दो सरोज हैं उन पर चूचुक रूपी भ्रमर हैं। कपोत की-सी ग्रीवा और उस पर कुन्द-सम मधर हैं। यमुना जैसी श्यामल कबरी है जिसके मध्य सूय-समान दो मलकार (कर्णाभरण) शोभित है। वही कपोल मथवा कमल (कपोल) भी विद्य मान है। उसके मनमोहक नैनो से म्रश्रुधारा बहकर उरोजो पर गिर रही है

---

१ पद ६५

इस प्रकार खण्डिता राधा अपने सौंदर्य को कोसती है और यौवन को धिक्कारती है। वह सोचती है कि प्रेम करना तो सरल है पर उससे मुक्त होना कठिन है। उसका शरीर ज्वालामुखी बन गया है और शीत के सभी उपचार दाहक हो गये हैं। फलतः निराश राधा को संसार में कोई मार्गदर्शक नहीं दीखता और उसका मन संतप्त हो जाता है —

सजनी मैं तन वृथा गँवायो।
मदनमोहन व्रजराज कुँवर सों नाहक नेह लगायो॥
शशिसुतवररिपु सहे तिलोमुख सब सब अंग नसायो।
शिवसुतवाहनरिपुभक्षसुतसुत सब तन ताप तचायो॥
घर आँगन दिसि विदिसि सरजा तट वै मूरति देखी।
सूरज प्रभु तें कियो चाहियत है निरदैव विसेखी॥[1]

(सजनी मैंने तो यह शरीर व्यर्थ गँवा दिया। व्यर्थ ही मैंने कृष्ण से स्नेह किया। मैंने कामदेव के बाणों को समर्पित करके सारा शारीरिक सुख खो दिया। चन्द्रमा ने मेरा सारा शरीर दग्ध कर दिया। मुझे तो घर में आँगन में यमुना तट पर और वन-वन सर्वत्र कृष्ण का ही रूप दीख पड़ता है। मैं तो अब उससे सर्वथा विरत होना चाहती हूँ)। यहाँ 'शशिसुतवररिपु' का अर्थ है कामदेव (शशिसुत—बुध बुधवर—शिव शिवरिपु—कामदेव) शिव सुतवाहन' का अर्थ है चन्द्रमा (शिवसुत— गणेश उसका वाहन—मूषक उसका रिपु—बिडाल उसका भक्ष्य—मृग उसका सुत—शशि शशिसुत—चन्द्रमा)।

प्रिय-मिलन के लिए राधा की आतुरता का एक और पद देखिए —

मिलवहु पारथमित्रहिं आनि।
जलजसुत के सुत को वधि कर भई मनसा हानि॥
शशिसुतासुतअवलि ऊपर हय आयुध तानि।
गिरिसुतापतितिलक करपत हनत सायक तानि॥
पिनाकीसुत वासु वाहनभक्षकुमक दिय बानि।
ताताभृगरिपुधरन मलयज हितहुताशन जानि॥
चरमसुत के अरि सुभाऊ हित जात अरि सिर पानि।
सूरदास विचित्र विरहिन दुख जन मन मानि॥[2]

(राधा सखी से कहती है पार्थ के मित्र कृष्ण को लाकर मुझसे मिला दो।

---

१ सा क ४८
२ वह ४८

मैंने कृष्ण से कलह कर अपने ही मन की हानि की है। मैंने शरीर पर मोतियों की माला (हर का आयुध) वज्र बन गया है और (शिव का तिलक) चन्द्रमा किरणरूपी बाण छोड़कर मुझे मारे डाल रहा है। शीतल वायु मुझे विष की ज्वाल प्रतीत हो रही है। वस्त्र मेरे शरीर में सूजनी उत्पन्न कर रहे हैं और चन्दन का लेप अग्निबाण-सा लगता है। मैंने मानवश अपना ही सुख नष्ट कर लिया और अब अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप कर रही हूँ)। यहाँ 'जलजसुत के सुत की रुचि' का अर्थ है कलह (जलजसुत—ब्रह्मा उनका सुत—नारद उनकी रुचि—कलह करा देना)। 'दधिसुतसुतअवली' का अर्थ है मौक्तिक माल (दधिसुत—सीप उसका सुत—मोती उसकी अवली—मौक्तिक माल)। 'गिरिसुतापति तिलक' का अर्थ है चन्द्रमा (गिरिसुता—पार्वती उनका पति—शिव उसका तिलक—चन्द्रमा)। 'शिवासीसुत वाहन' का अर्थ है वायु (शिवासीसुत—गणेश उनका वाहन—मूषक उसका भक्षक—सर्प उसका भक्ष—वायु)। 'आभा-भूषरिपु' का अर्थ है सूजनी जो वस्त्र को पीड़ाप्रद होती है। 'धर्मसुत के अरि सुभाव' का अर्थ है मान (धर्मसुत—युधिष्ठिर, उनका अरि—दुर्योधन उसका स्वभाव—मान)। 'मारैस सारैसकरहि मिलावहु' से प्रारम्भ होने वाले पद में भी यही भाव है।

विरह की क्षीणावस्था में राधा चन्द्रमा को भी नहीं छोड़ती और उसे अग्नि के समान जलाने के कारण फटकारती है। इस भाव के अनेक पद हैं जिनमें से एक यह है —

हरको तिलक हरिबिनु दहत।
कहियत हैं उडुराज अमृतमय तजि सुभाउ मोहिं दाहनि गहत।
कहत बसित सबै जु पश्चिमदिसि राहु ग्रसित नहिं मोहिं महत।
छपी न छीन होति सुनि सजनी भूमिभवनरिपु कहाँ बसत।।
सीतल सिंधु जनम जा केरौ तातें तेज होइ यह नहिं चहत।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु प्रान तजति पै नाहिं सहत।।

(कृष्ण के बिना मुझे (हर का तिलक) चन्द्रमा जला रहा है। लोग कहते हैं कि यह तारापति अमृतमय है पर मेरी समझ में तो इसने अपना स्वभाव छोड़कर जलाना प्रारम्भ कर दिया है। उसका रथ पश्चिम में कहीं अटक गया है अतः वह मुझे वैसे ही ग्रस रहा है जैसे राहु उसे ग्रसता है। रात्रि भी नहीं छिपती।

१ पद ५२
२ पद ४

राहु रहता कहाँ है ? चन्द्रमा उत्पन्न तो शीतल समुद्र से हुआ है पर पता नहीं सूर्य का तेज उसने कहाँ से ग्रहण कर लिया है । सूर कहते हैं कि राधा कहती है—हे कृष्ण ! तुम्हारे बिना मेरे प्राण छूट रहे हैं क्योंकि मैं इस चन्द्रमा को सहन नहीं कर सकती । यहाँ 'भूमिभखनरिपु' का अर्थ है राहु ।

ऐसे ही भाव वाला एक और पद देखिए —

हरिसुतपावक प्रगट भयौ री ।
मारुतसुतबन्धुपितुप्रोहित तत्छिन चलन छाँड़ि गयौरी ॥
हरसुतवाहनअसनसनेही सो लागत अँग अनल भयौरी ।
मृगमद स्वाद मोहि नहिं भावत दधिसुत भानु समान भयौरी ॥
वारिजसुतपति कोप कियौ तजि मेटि सकार ककार ठयौरी ।
सूरदास बिनु सिंधुसुतापति कोपि समर कर चाप लयौरी ॥[1]

(काम की अग्नि अब प्रकट हो गई है और मेरे प्राण मुझे छोड़ ही गये हैं । चंदन का अंगराग मुझे अग्नि की तरह जला रहा है और शीतल समीर भी मुझे अनुकूल नहीं प्रतीत होती । चन्द्रमा तो सूर्य के तुल्य हो गया है । विधाता मुझसे रुष्ट हो गया है इसलिए उसने 'पावस' के 'स' को मिटाकर उसके स्थान पर 'क' लिख दिया है अर्थात् 'पावक' बना दिया है । राधा कहती है कि कृष्ण की अनुपस्थिति में कामदेव ने क्रोधित होकर मुझ पर अपना बाण तान लिया है)। यहाँ 'हरिसुत' का अर्थ है कामदेव। (हरिसुत—प्रद्युम्न—कामदेव)। 'मारुतसुतबन्धुपितुप्रोहित' का अर्थ है जीव अर्थात् प्राण। मारुतसुत—भीम उसका बन्धु—अर्जुन उसका पिता—इन्द्र उसका पुरोहित—बृहस्पति जिसका पर्याय है जीव। यहाँ जीव का अर्थ है बृहस्पति तथा प्राण। 'हरसुतवाहनअसनसनेही' का अर्थ है चन्दन (हरसुत—गणेश उसका वाहन—मूषक उसका भक्षक—सर्प उसकी प्रिय वस्तु चन्दन।) मृगमद (कस्तूरी) का स्वाद शीतल समीर बताया गया है। 'वारिजसुतपति' का अर्थ है ब्रह्मा और 'सिंधुसुतापति' का अर्थ है कृष्ण (सिंधुसुता—लक्ष्मी उसका पति—विष्णु अर्थात् कृष्ण)।

निम्न पद में प्रोषितप्रिया राधा का वर्णन है —

सखी री कमलनयन परदेस ।
रिपु के राज भए समाचन तात भए बिदेस ॥
हरहितरिपुवाहन के मीत पठए न देत सदेस ।
बारीमास बेर कर पल्लव आँस बरन पहुँ धरी ।
एक सं साठि बरस है दिनको सो हरि हम भी केरो ॥

---

1 पद ८६

कमली स्याम बहुत पतुमासा सारंगरिपु के स्वाद ।
ईं हूँ नाम मिलत मोहि दुरजन तातें बिरह बिषाद ॥
सुर गुरु अरि बाहन अरि तापति ता अरि एतन तापत ।
कमलद पदम पति तासु मनुबहिन सूर अबहुँ नहिं आवत ॥

(हे सखी ! कमलनयन कृष्ण परदेश में हैं। उनके चित्त में इच्छा उत्पन्न हुई कि वह विदेश चला गया। न वह कोई पत्र भेजता है न संदेश। तीसों दिन भ्रमर कमल को घेरे रहता है कमल के काम के लिए नहीं अपितु स्वार्थवश। उसने हमसे तो मन ही छिपा लिया है। जब माता मुझे दही मथने को कहती है तो मुझे उसके शब्द दमान क से लगते हैं। 'माता' और 'दही' दोनों ही शब्द बुरे हैं क्योंकि वे विरह का दुःख उत्पन्न करते हैं। काम मुझ भी जला रहा है और मुझे नींद आ रही है)। यहाँ 'रिपु के राज' का अर्थ है चित्र। रितुराज—वसन्त उसका प्रथम मास है चैत्र जिसका उच्चारण 'चित्र' से मिलता है। 'हरिहरिपुवाहन क भोजन' का अर्थ है पत्र (हरिरिपु—चन्द्र उसका रिपु—राहु उसका वाहन—मेघ उसका भोजन—पत्र—पत्र (चिट्ठी)। 'पांचेनाथ'[1] का अर्थ है तीस दिन (पाती—२ नाथ—११ वेद—४ वरपसकल—१ सब मिलकर हुए ३)। 'एक सौ साठि करन' का अर्थ है मन (एक सौ साठ पाव का एक मन होता है)। यहाँ मन से तात्पर्य है मनुष्य का मन। मन जिसके चरणकमल में रत है वह है कृष्ण। 'सारंगरिपु क स्वादें' का अर्थ है दही (सारंग—कबूतर, उसका शत्रु—बिल्ली उसका स्वाद—दही)। 'सुरगुरुअरिवाहन' का अर्थ है काम। सुरगुरु—बृहस्पति उसका अरि—शुक्र उसका वाहन—मयूर उसका शत्रु—सर्प उसका स्वामी—शिव उसका शत्रु—काम)। 'कनकपत्तनपति—' का अर्थ है निद्रा (कनकपत्तन—लंका उसका पति—रावण उसका अनुज—कुंभकर्ण उसका हित (प्रिय)—निद्रा)।

कृष्ण ने गोपियों के असीम और अचल अनुराग की कठोर परीक्षा ली थी। जब वे इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई तो कृष्ण ने उन्हें अपने शारीरिक संयोग से तृप्त होने का आशीर्वाद दिया। यद्यपि यह अनुराग इन्द्रियजन्य था पर सर्वथा कामज नहीं जैसा कि विरहिणी गोपिकाओं के वचनों से विदित होता है। सूर ने कृष्ण को अवतार मानकर ही इस परिस्थिति का चित्रण किया है। भक्ति की पराकाष्ठा भक्त द्वारा अनुभूत वियोगजन्य दुःख की घड़ियों में ही होती है और पुन संयोग की दशा में वह आनन्द की चरम सीमा का अनुभव करता है। भाव-

१ वर १ १

नायों के इसी स्वाभाविक रूप का ध्यान रखकर सूरदास ने अपने अपूर्व काव्य ग्रंथ सूरसागर मे कृष्ण के प्रति गोपिकाओं के निस्वार्थ अनन्य और प्रगाढ़ प्रेम को ही प्रमुख वर्ण्य विषय बनाया है।

काव्य के उपादानों का विवेचन

कृष्ण के सुखी जीवन की आनन्दमयी लीलाओं के चित्रण के साथ-साथ सूरदास ने अपने कूटपदों मे अलंकार, नायिका भेद रस भाव आदि शास्त्र विषयों के भी विलक्षण उदाहरण उपस्थित किये हैं। यद्यपि उच्चकोटि के काव्य के उपादान सूरसागर मे भी भरे पड़े हैं पर साहित्यलहरी तो साहित्य-शास्त्र के विषयों ही का प्रतिपादक ग्रंथ है। सूरसागर में तो अलंकारादि का प्रयोग वर्ण्य विषय के स्वाभाविक वर्णन मे प्रासंगिक है और उसके लिए जान-बूझकर किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया गया है। राधा की कान्ति उसका अनुपम सौन्दर्य रति विराग विरक्ति, और प्रिय की मनुहारें आदि सूरसागर के वर्ण्य-विषय हैं जिनमे नायिकाओं के विविध भेदों और उनकी अवस्थाओं का चित्रण आजाना स्वाभाविक था। फिर भी कवि ने किसी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग कदाचित् ही किया है। इसके विपरीत साहित्यलहरी का मुख्य वर्ण्य-विषय तो काव्य के ही विविध उपादान है। पर आराध्य देव के प्रति अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर देने वाले अनन्य भक्त के सम्मुख उक्त विषयों के उदाहरणों के लिए भी राधा और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य चरित्र वर्ण्य-विषय नहीं हो सकते थे। सूरदास के काव्य का मुख्य विषय भी भक्ति और ईश्वर प्रेम ही है अतः राधा और कृष्ण ही उसके नायक और नायिका हैं। पर साहित्यलहरी मे कृष्ण-जीवन के कुछ अन्य आख्यानों का भी समावेश हो गया है। जैसे ७१वें पद मे कालियनाग मर्दन का आख्यान है और ७४वें तथा ७५वें मे भीम और अर्जुन के कृत्यों का वर्णन है जिनमे क्रमशः भयानक और वीर रस की उद्भावना की गई है। ७६ से १ तक के ७ पदों मे भय जुगुप्सा अद्भुत वात्सल्य और गुरु अथवा देव रति के चित्रण हैं। इन पदों के वर्ण्य-विषय हैं —कालनाग वत्सहरण और गोपहरण यशोदा का लाड़-प्यार, गोवर्धनपूजा और जन्मपत्रिका वाचन।

काव्यशास्त्र विषयक प्रत्येक पद की रचना सूरदास की ही एक विशिष्टता है क्योंकि प्रत्येक पद मे उसने एक विशेष अलंकार का नामोल्लेख किया है और उसमे किसी नायिका-भेद अथवा अन्य किसी रीतिशास्त्रीय विषय का प्रतिपादन किया है। पर विशेषता यह है कि प्रत्येक पद मे लक्षण के साथ स्वयं उदाहरण भी है। साहित्यलहरी के प्रारम्भ के ११ पद नायिका भेद विषयक हैं। इनमे से कुछ मे तो नायिका के विशिष्ट भेद का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है

गए हैं— नवोढा और विश्रब्धनवोढा।[1] ये भेदोपभेद ब्रजभाषा साहित्य में भी सुप्रसिद्ध हैं पर साहित्यदर्पण में दिए हुए मुग्धा के पाँच भेद ब्रजभाषा साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। साहित्यदर्पण में मध्या के पाँच उपभेद किए गए हैं[3] पर रसमंजरी में मध्या का वर्गीकरण नहीं किया गया है और ब्रजभाषा के कवि और आचार्य भी इसी मत के अनुयायी हैं। प्रगल्भा के भी साहित्य-दर्पण में छः भेद किये गये हैं[4] जबकि रसमंजरी में उसके केवल दो ही भेद हैं—रतिप्रीता और आनन्दसम्मोहा[5] और ब्रजभाषा के सभी कवियों ने भी ये ही दो भेद माने हैं। धीरा अधीरा ज्येष्ठा कनिष्ठा आदि अन्य भेद दोनों ग्रंथों में समान हैं।

विश्वनाथ और भानुदत्त दोनों ही ने परकीया के केवल दो भेद माने हैं परोढा और कन्यका (अथवा अनूढा)।[6] परन्तु विश्वनाथ ने परोढा का केवल एक और उपभेद माना है कुलटा जबकि भानुदत्त ने उसके छः भेद माने हैं गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटा[7] अनुशयाना और मुदिता और ब्रजभाषा के कवियों ने भी इसी का अनुसरण किया है।[8] विदग्धा के भी दो उपभेद माने गये हैं वाग्विदग्धा और क्रिया-विदग्धा। सामान्या के भेद दोनों ही ग्रन्थों में समान हैं।[9]

अवस्था के अनुसार नायिकाओं के सामान्यतः आठ भेद किये गये हैं — स्वाधीनपतिका खण्डिता अभिसारिका कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितपतिका वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता।[1] इस वर्गीकरण में विश्वनाथ और

---

१ [illegible] नवोढा।
 [illegible] विश्रब्धनवोढा। र० म० पृ० ८
२ साहित्यदर्पण में मुग्धा के पाँच भेद ये हैं— १ प्रथमावतीर्णयौवना २ प्रथमावतीर्णमदनविकारा ३ रतौ वामा ४ मानमृदु ५ समधिकलज्जावती।
 सा० द० ३—७
३ (१) विचित्रसुरता (२) प्ररूढस्मरा (३) प्ररूढयौवना (४) ईषत्प्रगल्भवचना और (५) मध्यमव्रीडिता। सा० द० पृ० ७२
४ [illegible]
 [illegible]। सा० द० ३—७३
५ [illegible] आनन्दसम्मोहा। र० मं० पृ०
६ सा० द० ३—८१
७ सा० द० ३—८
८ र० म० पृ० २४
 [illegible]। सा० द० ३—८६
 सा० द० ३—८५

भानुदत्त दोनों एक मत हैं पर भानुदत्त ने एक अन्य दृष्टिकोण से भी नायिकाओं का वर्गीकरण किया है और उनके तीन भेद बताये हैं अन्यसंभोगदुःखिता वक्रोक्तिगर्विता और मानवती। वक्रोक्तिगर्विता के भी दो भेद किये गये हैं प्रेमगर्विता और रूपगर्विता तथा मानवती के तीन भेद किये हैं —लघु, गुरु और मध्यम।

हिन्दी में सूरदास से पूर्व नायिका भेद का केवल एक ग्रन्थ था। कृपाराम की हिततरंगिणी और उसका आधार भानुदत्त की रसमंजरी ही थी। सूरदास की साहित्यलहरी भी रसमंजरी ही पर आधारित प्रतीत होती है। यद्यपि सूर का विवेचन बहुत ही संक्षिप्त है पर उसमें मुख्य वर्गीकरण स्पष्ट रूप से कर दिया गया है। यथा नायिका के पहले दो भेद हैं स्वकीया और परकीया। तीसरे भेद सामान्या को छोड़ दिया गया है। इसका कारण खोजना कठिन नहीं है। सूरदास का नायिका भेद शुद्ध शृंगार की दृष्टि से नहीं है अपितु अपने आराध्य राधा-कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति की अभिव्यंजना के लिए अन्तःप्रेरित है। अतएव सामान्या जैसी नायिका के लिए सूर के काव्य में कोई स्थान नहीं था। उसका वर्णन तो समाज के निम्न वर्ग की पतितावस्था के चित्रण में ही हो सकता है। जहाँ तक मधुराभक्ति का सम्बन्ध है उसमें सामान्या नायिका भक्त की श्रद्धा का भाजन नहीं हो सकती। अतः यह सर्वथा उचित ही है कि पवित्र भक्ति-काव्य में केवल व्यावहारिक जीवन में पाई जाने वाली लौकिक कामवासना को कोई स्थान नहीं है।

सूरदास ने मुग्धा के दो भेद किये हैं ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना। उसके बाद उन्होंने मध्या और प्रौढ़ा के भेद किये हैं धीरा अधीरा ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार साहित्यलहरी में स्वकीया के सभी भेद आ गये हैं। परकीया में सूर ने सर्वप्रथम अनूढ़ा का उल्लेख किया है और उसके पाँच भेद माने हैं अर्थात् रसमंजरी के छः भेदों में से एक भेद कुलटा को उसी प्रकार छोड़ दिया है जैसे सामान्या को। विदग्धा के सूरदास ने दो भेद माने हैं। इस प्रकार इस संक्षिप्त विवेचन में सूरदास ने भानुदत्त के वर्गीकरण का ही अनुसरण किया है केवल परकीया के दो भेदों—ऊढ़ा और कुलटा को त्याग दिया है। इससे विदित होता है कि इस विषय के विवेचन में सूर का उद्देश्य अन्य आचार्यों के समान नहीं था अपितु वह भक्ति भावना के साथ नारी के महान् आदर्शों का चित्रण करना था। इस नायिका भेद के उदाहरणों में सूर ने उच्चकोटि का

---

२ ० १ १

काव्य-कौशल दिखाया है। उदाहरण के लिए निम्न पद नायिका का सुन्दर वर्णन है —

देखत हू वृषभानु दुलारी।
नन्दनंदन आवत ब्रजवीथिन भीरसंग लै भारी॥
शिव आनन तिथि चंद बिंदु दै कर निज कुचन मिलाए।
भूषन स्वरूप किया तें सुंदर सूर स्याम समुझाए॥[1]

(दो सखियाँ आपस में बातें कर रही हैं और एक दूसरी से कह रही है कि एक बार राधा ने ब्रज की गलियों में भारी भीड़ में से कृष्ण को आते हुए देखा। बात करने का अवसर न पा सकने के कारण उसने संकेत द्वारा अपने मन का भाव व्यक्त कर दिया। उसने शुक्लपक्ष की पंचमी के चंद्रमा को मिलाकर उस पर बिंदु लगा दिया और फिर अपने दोनों कुचों पर हाथ रख कर मिलाये। इस प्रकार उसने व्यक्त कर दिया कि वह रात्रि की पाँचवी घड़ी में उनसे मिलेगी और हृदय पर हाथ रखकर राधा ने यह भी व्यक्त कर दिया कि उसके हृदय में केवल कृष्ण ही व्याप्त हैं। राधा का अभिप्राय जानकर कृष्ण ने भी इसी प्रकार से संकेत द्वारा उत्तर दिया)। इस पद में 'शिवआनन' का अर्थ है पाँच क्योंकि शिव पंचानन हैं। इस प्रकार पाँच से पंचमी तिथि का बोध सरलता से हो सकता है।

खंडिता नायिका का भी एक सुन्दर उदाहरण देखिए —

चाहत गंध बैरी बीर।
आपनो हित चहत अनहित होत छोड़त तीर॥
मृगमेद बिचार का बिनु इभवाहन पास।
सूर प्रस्तुत कर प्रशंसा करत खंडित नास॥[2]

भाव यह है कि गंध के बैरी (भ्रमर) मधुर गंध से मुग्ध होकर अत्यन्त बलवान और दृढ़ बैरी हो गये हैं। वे केवल अपना ही हित चाहते हैं और किसी वस्तु से अपना हित पूरा होते ही उसे छोड़ देते हैं। जब ताल का जल सूख जाता है तो वहाँ कमल न रहने पर वे उड़ जाते हैं और हाथी के पास चले जाते हैं। यहाँ भ्रमर के व्याज से खंडिता नायिका अपने धृष्ट नायक की निन्दा कर रही है। इस पद में 'मृगमद' का अर्थ है ताल जिसका दूसरा अर्थ है जलाशय। 'इभवाहन' का अर्थ है हाथी।

---

१ सा ल १२
२. सा ल १

वैष्णव धर्म के पुष्टिमार्ग मे स्वकीया भक्ति को ही महत्त्व दिया गया है अतः नायिकाओ के अन्य भेदो की अपेक्षा स्वकीया का ही अधिक विस्तृत वर्णन सूरदास ने किया है। मनोदशा के आधार पर सूरदास ने नायिकाओं के तीन भेद किये हैं—अन्य-संभोग-दु खिता गर्विता और मानवती। गर्विता के पुन दो उप-भेद किये हैं प्रेमगर्विता और रूपगर्विता। अवस्थाओ के आधार पर सूर ने नायिका के दस भेद किये हैं प्रोषितभर्तृका खडिता विप्रलब्धा उत्कठिता वासकसज्जा स्वाधीनपतिका अभिसारिका पतिगामिनी आगतपतिका और कलहान्तरिता।

अन्य-समोप-दु खिता का उदाहरण यह है—

> निसा अन्त पति सुतसुभाव सुनि आजु कहाँ ते आई।
> पुन पुन के पास गई किन सूरज सुता न्हाई॥
> हरिवाहनजनीहितन तरस कहँ मुरली सुतर सेवाई।
> सारंगसुत लोचन तें बिपुरत सारंगबेलि रस बाई।
> भानुभानुसुत सीसुमाल मम सब हित तरस कमाई।
> सूरज अर अलाम्ब दुखित कर तर लैंबोक्ता आई॥

(नायिका सखी से कहती है हे सखी! कहो कहाँ से आई हो? तुम कृष्ण के पास गई थी या यमुना नहाने। तुम्हारे उरोज का वसन कहाँ उतर गया? तुम्हारी आँखो का कज्जल बिखरा गया है और पानरस इधर-उधर बह रहा है। तुम्हारे वचन सूर्य और शनि के समान मेरे विनाश के सूचक है। नायिका सखी से कहती है कि हे सखी! तुम सरोवर मे नहाने नहीं गई अपितु दूसरे का सुख नष्ट करने गई थी)। यहाँ 'निसा अन्त' का अर्थ है दिन उसका पति है सूर्य उसका पुत्र है कर्ण और उसका स्वभाव है दानी। 'दानी' का फारसी पर्याय है 'सखी' और 'सखी' का हिन्दी अर्थ है नायिका की सहेली। 'पुन पुन' शब्द का अर्थ है नवधनश्याम अर्थात् कृष्ण। 'सूरजसुता' का अर्थ है यमुना। 'हरिवाहनजनीहितन' का अर्थ है उरोज (हरि—बन्दर, उसका निवास वृक्ष उसकी माता—पृथ्वी उसका हितैषी—बादल—पयोधर—उरोज)। 'सारंगसुत' का अर्थ है अजन और सर्प बेलि का पान। 'भानुसुत' का अर्थ है शनि।

विप्रलब्धा का उदाहरण देखिए —

> बैठी आजु कुज धोर।
> तरस है वृषभान नन्दिनि ललित नन्दकिसोर॥

भानुसुतहितसमुदित लागत उठत दुख फेर।
ह्वै गए सुर सुत सुरत बिरह असुत फेर॥

(राधा की एक सखी दूसरी सखी से कहती है 'राधा कुंजों की ओर बैठी कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही है। वायु उसे सता रही है और फूल काँटे जैसे लगते हैं। प्रिय के विरह के कारण वह उन्हें बुरा बता रही है)। यहाँ 'भानुसुतहित सम पित' का अर्थ है वायु। (भानुसुत—कर्ण उसका मित्र—दुर्योधन उसका शत्रु—भीम उसका पिता—वायु। सुर का एक पर्याय है 'सुमन' जिसका अर्थ फूल भी है।

नायिका भेद के अतिरिक्त सूरदास ने साहित्यलहरी में निम्नलिखित अलंकारों का भी विवेचन किया है—पूर्णोपमा लुप्तोपमा अनन्वय उपमेयोपमा प्रतीप रूपक परिणाम उल्लेख स्मरण छेकापह्नुति युगापह्नुति सूक्ष्म सम्भावना अथवा उत्प्रेक्षा रूपकातिशयोक्ति अक्रमातिशयोक्ति तुल्ययोगिता दीपक आवृत्ति दीपक पर्यायोक्ति दृष्टान्त निदर्शना व्यतिरेक सहोक्ति विनोक्ति समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, अप्रस्तुतप्रशंसा रत्नावली पर्याय व्याघात व्याजस्तुति आक्षेप विरोधाभास विभावना विशेषोक्ति असम्भव असंगति विषम सम विचित्र अधिक अल्प अन्योन्य विशेष कारणमाला एकावली मालादीपक सार, यथासंख्य परिसंख्या संदेह समुच्चय कारकदीपक समाधि प्रत्यनीक काव्यार्थापत्ति काव्यलिंग अर्थान्तरन्यास प्रौढोक्ति मिथ्याध्यवसित ललित प्रहर्षण विषादन उल्लास अनुज्ञा लेश मुद्रा तद्गुण पूर्वरूप अतद्गुण अनुगुण मीलित उन्मीलित सामान्य विशेष गूढोत्तर, चित्र सूक्ष्म पिहित व्याजोक्ति, गूढोक्ति विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति वक्रोक्ति छेकोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक अत्युक्ति उदात्त प्रतिषेध निरुक्ति विधि हेतु, प्रत्यक्ष प्रतीत अनुमान शब्द अर्थापत्ति रसवत्, प्रेयस ऊर्जस्विन् समाहित संसृष्टि संकर और अहंमिका।

अलंकारों के इस विवेचन में सूरदास ने चन्द्रालोक का ही सर्वत्र आश्रय लिया है। उसने प्राचीन आचार्यों का कोई उल्लेख नहीं किया केवल अलंकारों का लिया है। उसने चन्द्रालोक में दिए हुए उपमा के भेदों प्रतीप ललित रूपक आदि को छोड़ दिया है। इसी प्रकार रूपक के वैशाखिक सादृश्य और साम्य आदि भेदों का उल्लेख नहीं किया है। अपह्नुति के भेदों में भ्रान्त्यापह्नुति और

[1] अंक ४ ७८-७९

पर्यस्तापह्नुति छोड़ दिए हैं। सूरदास ने उत्प्रेक्षा का नाम 'सम्भावना' दिया है जो उसके अर्थ का स्पष्ट व्यंजक है। चन्द्रालोक में अतिशयोक्ति के अनेक भेद दिए हैं जिनमें सूर ने चार छोड़ दिये हैं और केवल दो का विवेचन किया है।

प्रतिवस्तूपमा सरदार के संस्करण में तो मिलता है पर भारतेन्दु के संस्करण में नहीं। सम्भवतः यह सम्पादक की भूल से छूट गया है। चन्द्रालोक के बाद्य अलंकार साहित्यलहरी में नहीं हैं जिनके स्थान पर सूरदास ने बाद्य और अलंकार जोड़कर संख्या पूरी कर दी है। अलंकारों के अतिरिक्त साहित्यलहरी में नायिका-भेद के प्रकरण में शृंगार के दोनों रूपों—संयोग और विप्रलम्भ—का भी उल्लेख है। उसके बाद हास्य, करुण आदि रसों का भी विवेचन है। व्यभिचारी भावों में साहित्यलहरी में निम्नलिखित का सोदाहरण विवेचन किया गया है —दैन्य, सात्विक, निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, चिन्ता, सन्देह, वितर्क, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, उद्वेग, चपलता, जड़ता, हर्ष, विषाद, निद्रा, अमर्ष, औत्सुक्य, अपस्मार, विबोध, उग्रता, मति और मरण। सुप्रसिद्ध तैंतीस संचारियों में सुप्त, अवहित्थ, व्याधि, उन्माद और त्रास छोड़ दिये गये हैं और सात्विक तथा सन्देह जोड़ दिये गए हैं।

साहित्यलहरी की रचना का उद्देश्य

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्यलहरी में भक्ति की अपेक्षा साहित्यशास्त्रीय विषयों के प्रतिपादन का अधिक ध्यान रखा गया है जबकि सूर के अन्य ग्रन्थ भक्ति-प्रधान हैं। साहित्यलहरी में कूटपदों के दो प्रयोजन हैं (१) विविध रीतिशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन और (२) कूटशैली की अद्भुत रचना का प्रदर्शन। अतः यह आक्षेप कि साहित्यलहरी रस-सिद्ध कवियों में सूर के लिए यश-वृद्धि करने वाली नहीं है ठीक नहीं है। प्रथम तो सूरसागर और साहित्यलहरी के कूटपदों का वर्ण्य-विषय एक ही कृष्णलीला-गायन है। दूसरे, काव्यरचना शैली और शब्द प्रयोग में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में कल्पना की उड़ान और शब्दचयन एक से ही हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही दृष्टियों से सूरसागर तथा साहित्यलहरी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। साहित्यलहरी के कूट पद तो सूरसागर के सर्वोत्तम पदों की अच्छी तरह बराबरी करते हैं। तीसरे, सूरदास ने साहित्यलहरी में अपने समय से पहले से प्रचलित काव्यपरम्पराओं का ही पालन किया है। जयदेव और विद्यापति ने कृष्णलीला का गायन रस परिपाक की ही दृष्टि से किया था। जयदेव ने शृंगार रस के अन्तर्गत कृष्ण की विविध केलियों का

सर्वथा भिन्न है और उसका अपना एक विशेष रूप है जिसका स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है। अर्थ को गोपित रखने का प्रयत्न सम्भवतः कवि ने जान-बूझकर किया है जिसमें उसका उद्देश्य भक्तिकाव्य के अन्तर्गत शृंगार काव्य के चमत्कार का भी प्रदर्शन था।

अध्याय ६

काव्यकला

काव्यकला की दृष्टि से सूरदास के कूटपदों का कूटकाव्य में विशेषकर हिन्दी के कूटकाव्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कूट अपने प्रारंभिक रूप में तीव्र भावधारा से प्रेरित कवि-हृदय के स्वतः उद्गार थे जिनकी भाषा सामान्य पाठक के लिए सहज बोधगम्य न थी। परवर्तीकाल में रहस्य-गोपन की भावना ही कूटशैली के अभिप्रायतः अपनाये जाने का साधन बनी और उसका प्रयोग सम्प्रदाय-विशेष के रहस्यमय उपदेशों को थोड़े से लोगों तक ही सीमित रखने का एक उचित माध्यम बन गया। इस प्रकार सम्प्रदाय के प्रतीकों के सब रूप और प्रयोजन की यह विधि विशेषतः सुसंस्कृत बुद्धि का सामान्य कर्म बन गई यहाँ तक कि कुछ समय पश्चात् कूट-रचना और शब्दाडम्बर का प्रयोग केवल पाण्डित्य और काव्यकौशल के प्रदर्शन के लिए ही किया जाने लगा। श्लेष यमक और प्रतीकों के भार से लदी ये चमत्कारात्मक रचनाएँ काव्य का एक स्वतन्त्र रूप बन गईं और आचार्य तथा आलोचक उनके निहित चमत्कार के आधार पर ही उनकी उत्कृष्टता की परीक्षा करने लगे। अतः साहित्य-शास्त्र की प्रारंभिक अवस्था में जब काव्य में अलंकारों के प्रयोग को महत्त्वपूर्ण माना जाता था तब कूट रचनाओं का भी एक विशिष्ट स्थान था। परन्तु कालान्तर में ध्वनि सम्प्रदाय के प्रबल होने पर कूट-रचना में जब तक कोई सुन्दर अभिनव व्यंजना न हो उसे सारहीन शब्दचित्र का एक भद्दा रूप ही माना जाने लगा और उसकी गणना अधमकाव्य में की जाने लगी। इसीलिए इस कोटि की अभिराम रचनाएँ कवि-हृदय को तब तक आकृष्ट न कर सकीं जब तक विद्यापति और सूरदास की वाणी ने उनमें सरसता और ध्वनि का समावेश नहीं कर दिया क्योंकि ध्वनि ही परवर्ती युग में काव्य की आत्मा मानी जाने लगी थी। अतः सूरदास जैसे महाकवियों की कूट-रचनाएँ काव्य के साधारण रूप में बहुत ऊपर उठीं और उनके काव्यत्व को काव्याचार्यों ने भी स्वीकार किया।

काव्यकला का जितना सम्बन्ध भाषा और शैली से है उतना ही उनके विषय की विविध अभिव्यक्ति से भी है। न तो प्रत्येक कवि के लिए अत्यन्त मर्मगर्भित विषय का चयन ही सरल है और न मध्यम श्रेणी के कवि के लिए प्रत्येक विषय की हृदयग्राही व्यंजना ही सम्भव है। किन्तु सूर की काव्यकला और उसके विस्तार

का पूर्ण ज्ञान था अतः उसमें अपनी कूट-रचना में ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जिससे वर्ण्य-विषय के पूर्ण उद्देश्य और भावव्यंजना को सर्वोत्तम शैली में अभिव्यक्त करने में वह समर्थ हो सका। इस प्रकार अर्थ की क्लिष्टता और अभिव्यक्ति की वक्रता होते हुए भी सूरदास के कूटपदों में उत्तम काव्य के अनेक गुण विद्यमान हैं और उत्तम काव्य के बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों का सुन्दर समन्वय है। भावव्यंजना का गुण और वर्णन की कला दोनों ही उनमें समान रूप से पाये जाते हैं और सबसे अधिक आकर्षक उनकी प्रतिपादन-शैली है। पिछले अध्याय में वर्ण्य-विषय का विस्तृत विवेचन हो चुका है। इस अध्याय में काव्यकला की दृष्टि से सूर के कूटपदों की विशेषता को समझने का प्रयास किया गया है।

सूरदास के कूटपदों में प्रदर्शित काव्यकला की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं — राधाकृष्ण का चरित्र-चित्रण, भावों और रसों की अभिव्यंजना, सौन्दर्य-भावना, कल्पना-शक्ति, विशिष्ट प्रतिपादन शैली और व्यंजना-कौशल।

राधा और कृष्ण का चरित्र-चित्रण —जैसा कि पहले कहा गया है सूरदास के कूटपद मुक्तक काव्य हैं महाकाव्य नहीं। अतः उनमें कृष्ण और राधा के जीवन के विभिन्न अवस्थाओं का व्यवस्थित उल्लेख नहीं है। यही कारण है कि उनमें राधा और कृष्ण के चरित्र का पूर्ण चित्र पाठकों के सम्मुख नहीं आ पाता। इन पदों में राधा और कृष्ण के आनन्दमय जीवन की विविध घटनाओं का चित्रण है जिनमें कवि के अपने हृदय के भावों की अभिव्यंजना है। अतः वास्तव में राधा और कृष्ण तथा उनकी सखियों के चरित्र का चित्रण कवि की आन्तरिक भावना की अभिव्यक्ति का साधनमात्र है।

कृष्ण — क्योंकि सूर के प्रायः समस्त पद राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओं से ही सम्बन्ध रखते हैं अतः ये ही दोनों—राधा और कृष्ण—सूरकाव्य के प्रमुख चरित्र हैं। अनन्य भक्ति-भावना से प्रेरित होकर सूर ने इन प्रभु कृष्ण के कीर्तिगान में ही अपने पदों की रचना की है। सूरदास के पदों में आनन्दकंद भगवान् कृष्ण अपने लीलामय रूप में प्रकट हुए हैं और उनके विभिन्न रूप और क्रिया-कलाप ही सूरकाव्य का प्रमुख स्रोत है। सूर के संगीत में कृष्ण ही समस्त लीलाओं के केन्द्र हैं। एक लीला से दूसरी लीला में वह बड़ी सरलता किन्तु तटस्थ भाव से पहुँच जाते हैं। कृष्णभक्ति का सार भक्त की विशिष्ट भक्ति पर आश्रित है अतः भक्त को उनका जो भी रूप इष्टतम है उसी में भगवान् को

१ कूट १११

प्राप्त हो जाता है।[1] फलतः कृष्ण का रूप भी भक्त की भावना और क्षमता के अनुकूल बदलता रहता है। नन्द और यशोदा की सभी भावनाएँ वात्सल्यभाव से ओतप्रोत हैं, गोप बालकों की भावनाओं में मैत्री और सख्य की प्रधानता है तो गोपिकाओं में जिनमें राधा का स्थान प्रमुख है माधुर्य भाव प्रमुख है। इन विविध दृष्टिकोणों के अनुसार कृष्ण के चरित्र के भी विविध रूप हो गए हैं। विनय के पदों में उनका चित्रण दीनों के रक्षक, पतितपावन, दयासागर, कृपानिधान, भक्तवत्सल आदि रूपों में किया गया है। यहाँ वे अद्भुत तथा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न अपने सर्वशक्तिमान रूप में चित्रित किए गए हैं।[2] क्योंकि कूटपदों में इस प्रकार के पद बहुत कम हैं अतः उनमें कृष्ण के इस रूप का पर्याप्त चित्रण नहीं हो पाया है।

सखा के रूप में कृष्ण का चित्रण स्निग्धहृदय, उदात्त सखा और एक आकर्षक तथा स्नेही स्वभाव वाले सहयोगी के रूप में किया गया है। कूटपदों में ऐसे पद भी बहुत कम हैं। वात्सल्यभाव के आलम्बन के रूप में कृष्ण के सुन्दर व्यक्तित्व में असीम सौन्दर्य, बालसुलभ सुकुमारता और क्रीड़ा-रत बालक की चपलता है।[3] कूटशैली में इस विषय के पद भी बहुत थोड़े हैं अतः उनमें कृष्ण के इस बाल स्वरूप का चित्रण भी बहुत कम हो पाया है। कृष्ण के जीवन के इस रूप के चित्रण में जो भी थोड़े से पद हैं उनमें कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य, उनकी आनन्दमयी बाल-क्रीडाओं और प्रसन्न मुद्राओं का वर्णन है। नन्द, यशोदा और उनके साथी कृष्ण के सुन्दर रूप से अत्यन्त आकर्षित हैं और वे उन्हें अपने बीच पाकर अपना अहोभाग्य समझते हैं। अपने जन्म-समय से ही कृष्ण ने इन सबके हृदय और आत्मा को वशीभूत करना प्रारम्भ कर दिया था जिन्हें उनका सामीप्य-लाभ मिल जाता था।[4]

अपने उदात्त व्यवहार और आनन्दमय स्वभाव के कारण कृष्ण ने अपने सखा गोपों और गोपबालाओं के हृदय में अनुपम आनन्द और हर्ष का संचार कर दिया था।[5] उनकी प्रत्येक लीला और व्यवहार में न केवल उनके माता-पिता अपितु ब्रज के सभी नरनारी लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करते थे।[6] अनुभव-

---

१ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गीता ४-११
२ सू० सा० पद ?
३ सू० सा० पद ?
४ पद १४
५ पद १६
६ पद १२ १३ १५

रूप में चित्रण करते हुए भी सूरदास यह कभी नहीं भूले कि कृष्ण अविनाशी हैं और साधारण मर्त्यों की सीमा से परे हैं। उदाहरणार्थ दानलीला के प्रसंग में कृष्ण जब ग्वालिनी का हाथ में लेते हैं तो शिव ब्रह्मादिक देवता व्यस्त होकर उपस्थित होते हैं और सूरदास अद्भुत रस की सृष्टि कर पाठक का ध्यान कृष्ण के देवरूप की ओर आकृष्ट करने में सफल होते हैं। इन सब पदों में सूरदास का मुख्य उद्देश्य अपने इष्टदेव कृष्ण की उन सब लौकिक लीलाओं का चित्रण है जिनके लिए उन्होंने अवतार धारण किया था और इसी कारण प्रत्यक्षतः सूर को कृष्ण के सुन्दर रूप का विस्तृत वर्णन करना पड़ा है। विविध उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के द्वारा सूर ने कृष्ण के सौन्दर्य का सजीव चित्र उपस्थित किया है।

किशोरावस्था में कृष्ण वंशीवादन में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। उनकी वंशी की मधुर ध्वनि सभी गोपिकाओं को मुग्ध कर देती है और ब्रजबालाएँ अपने घर छोड़कर मन्त्रमुग्ध-सी उसे सुनने को निकल पड़ती हैं।[३] कृष्ण की बाल-लीलाओं का विस्तृत वर्णन करने में कवि सर्वाधिक सफल रहा है। उसका निरीक्षण बहुत ही सूक्ष्म और वर्णन सर्वांगपूर्ण है। परन्तु कूटपदों में कृष्ण का सर्वोत्तम रूप वहीं प्रकट हुआ है जहाँ वह गोपिकाओं के मधुर प्रेम का पात्र बना है। इसी रूप में वह राधा और सखियों का प्रेमभाजन है। इस रूप में कृष्ण को एक ऐसे विलासी युवक के रूप में चित्रित किया गया है जो सभी प्रकार की और सभी कोटियों की रति-क्रीड़ाओं में रत है। सर्वगुणसम्पन्न कृष्ण से बढ़कर सुसंस्कृत उदात्त नायक की कल्पना नहीं की जा सकती।[४] यशोदा का वही सुन्दर बालक अब गोपिकाओं का प्रगल्भ प्रेमी युवक बन जाता है। उसका अनुपम सौंदर्य उसका वाक्-चातुर्य मोहक आकृति और प्रसन्न प्रकृति राधा के हृदय को सहज ही वशीभूत कर लेती है। राधा के सम्बन्ध में 'प्रथम दृष्टि में ही प्रेम का उदय' सर्वथा चरितार्थ हो जाता है क्योंकि वह कृष्ण के मोहक रूप को देखते ही अत्यन्त अनुरक्त हो जाती है। क्रमशः प्रेम का यह बीज बद्धमूल होता जाता है और दोनों की पारस्परिक रति पुष्टतर होती जाती है। राधा निःसन्देह एक सरल बाला है पर कृष्ण के प्रेम और चातुर्य के प्रभाव से

---

१. पद १६
२. पद १६
३. पद १७
४. पद ११, २६।

मुग्ध होने पर उसके हृदय में कृष्ण से गुप्त रूप में मिलने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती है। दोनों प्रायः एकान्त में मिलते हैं और विविध क्रीड़ाएँ करते हैं।[1] वे परस्पर परिहास भी करते हैं। दानलीला में कृष्ण राधा के अंग-अंग का दान माँगकर चतुराई से उसके रूप का वर्णन करते हैं।[2] वास्तव में श्यामा और श्याम एक ही हैं। उन्हें लज्जा और संकोच की कोई आवश्यकता नहीं। उनके इस जीवन का सूरदास ने इतना सजीव चित्रण किया है जिससे प्रकृति प्रेमी कृष्ण के प्रणय-क्रीड़ा में भी पूर्ण अनुभवी होने का आभास मिलता है। नायक प्रणय की कला में निपुण है और नायिका प्रेम की ही स्वरूप है।[3] जब कभी कृष्ण से मिलने के लिए राधा की उत्कण्ठा तीव्र होती है तो कृष्ण भी उसके भावों का यथेष्ट आदर करने में नहीं चूकते और इस प्रकार दोनों मिलन का परम सुख मानते हैं।[4] यद्यपि उनके हृदय मिले हुए हैं फिर भी कृष्ण राधा को विरहव्याकुला बनाकर उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं और इस प्रकार सच्चे नायक का अभिनय करते हैं। जब राधा अत्यन्त व्याकुल होती है और विरह-पीड़ा को अधिक सहन करने में असमर्थ[5] हो जाती है तो वह कृष्ण से अनुनय करती है और कृष्ण तत्काल एकान्त में मिलने का स्थान निश्चित कर देते हैं।[6] यही नहीं वह स्वयं भी मिलन के लिए उतना अथवा उससे अधिक ही आतुर रहते हैं फिर भी अपने प्रत्येक अपराध के लिए वह राधा के रोष को शान्त करने के लिए एक साधारण प्रेमी का-सा व्यवहार करते हैं।[7] इस प्रकार कृष्ण राधा के साथ प्रेम करते समय एक प्रगल्भ और दक्षिण नायक के रूप में उपस्थित होते हैं पर अन्य गोपियों के प्रति उनका वैसा भाव नहीं है। यद्यपि वे भी निःसन्देह उन पर अनुरक्त हैं तथापि वह उनके साथ वाक्-कौशल धृष्टता चपलता आदि का व्यवहार करते हैं किन्तु उनके प्रति आत्मसमर्पण नहीं करते। वास्तव में कृष्ण के चरित्र का यह रूप बहुत ही आकर्षक है जब वह अपनी भावनाओं को नाटकीय रूप से व्यक्त करते हैं। ऐसे ही प्रसंगों में उन्हें सूरपदों में एक अनुभवी प्रगल्भ नायक के रूप में चित्रित किया गया है। अनेक आख्यानों

---

१ पद ७०
२ पद ३७, ३८
३ पद ३१
४ पद ३४
५ पद ४१, ४२
६ पद ११
७ पद ८२, ८३

में वाणी की कुटिलता विवेचनीय है जिसमें व्यक्त कृष्ण के उदात्त प्रेम और सजीव व्यवहार में मानव की पराकाष्ठा है[1]। कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र के दो रूप हैं —मानवी और दैवी। सूरदास ने कृष्ण में दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय है। कृष्ण के परंपरागत सामान्य मानव रूप में आकर्षक तत्त्व बहुत कम हैं। इसलिए कवि का वास्तविक कौशल देवत्व को मानवरूप में प्रस्तुत कर देने में ही है। सूर ने वास्तव में कृष्ण के लोकोत्तर दैवी रूप को ही भूतल पर विचरण करने वाले सामान्य मानव के रूप में चित्रित किया है। यह साधारण का असाधारण से सामान्य का परम से मानव कृष्ण का देवत्व से समन्वय है। इस रूप में सूर उन सभी अन्य कवियों से बढ़कर हैं जिन्होंने कृष्ण का चरित्र-चित्रण प्राय सामान्य मनुष्य के रूप में ही किया है। वे कृष्ण में देवत्व की प्रतिष्ठा नहीं कर पाए हैं। इसी से उनका काव्य धर्मसंकुल और निम्नकोटि का है। सूर की सफलता इसी में है कि उनके कृष्ण के चरित्र-चित्रण में अनंत अविनाशी और सर्वव्यापी ब्रह्म को एक ऐसी लीलामयी मूर्ति के रूप में चित्रित किया है जिसने शुष्क मानव-जीवन में प्रेम और आनन्द का ऐसा स्रोत बहा दिया है जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। इससे सूर के काव्य में विशिष्ट चमत्कार आ गया है और कृष्ण के दो विभिन्न रूपों के युगपत् वर्णन में विरोधाभास उत्पन्न करने में भी सफलता मिली है। सामान्य मानव के रूप में चित्रित करते हुए भी सूरदास कृष्ण में दैवी शक्ति का संकेत कर देते हैं और यही वस्तुतः सूरकाव्य की विशेषता है जिससे उनके पदों में इतना अधिक विरोधाभास उपस्थित किया जा सका है।

सूरदास ने अपनी भक्तिभावना के वशीभूत हो कृष्ण के उस रूप का भी चित्रण किया है जो पुष्टिमार्ग में मान्य है। तथापि सूर द्वारा चित्रित कृष्ण वस्तुतः एक सर्वगुणसम्पन्न और प्रेमी उत्तम नायक है। विशेषकर सूरकाव्य में कृष्ण मानव और मानवोचित भावों से पूर्ण हैं फिर भी देवत्व से रहित नहीं हैं जिसके कारण वह मानव-समाज के नैतिक आदर्शों से बहुत ऊपर हैं। कृष्ण को मानवेतर बनाये रखने के विशिष्ट उद्देश्य से ही सूरदास ने कूटशैली को अपनाया है। अतः सूर की भावना में कृष्ण का चित्र सुन्दर, कोमल, सुकुमार, मधुर, प्रसन्न, क्रियाशील और आनन्द की अनुपम मूर्ति है।

राधा—सूर के पदों में राधा कृष्ण के प्रणय का केन्द्र और सर्वस्व नायिका है।

---

१ पद ७०
सा० क० ४४

उसकी प्रतिष्ठा कृष्ण के व्यक्तित्व की पूर्ति के आवश्यक अंश के रूप में की गई है। दार्शनिक दृष्टि से राधा कृष्ण की वास्तविक शक्ति मानी गयी है। दूसरे शब्दों में वह ब्रह्म की शरीरधारिणी माया है। वह प्रकृति का प्रतीक है। प्रथम मिलन में ही कृष्ण ने स्वयं संकेत किया है कि वह साक्षात् ब्रह्म है और राधा उसका पूरक अंश प्रकृति है जो उससे मिलने के लिए भूलोक में अवतरित हुई है।

राधा की भक्ति से कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होता है इसी विश्वास से सूरदास राधा से प्रार्थना करता है कि वह उसे कृष्णभक्ति का वरदान दे। अतः यह स्पष्ट है कि राधा कृष्ण के वैभव मंडल की एक आनन्दमयी कला है और जिस पर उसका अनुग्रह होता है उसे वह कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करने का भी वरदान दे सकती है। इस रूप में राधा का चित्र वास्तव में सूरदास की अपनी मौलिक कल्पना है क्योंकि वल्लभ की दार्शनिक पद्धति में राधा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। केवल विट्ठलनाथ ने ही राधा की सत्ता को स्वीकार किया है। इससे यह विदित होता है कि सूरदास पर जयदेव विद्यापति और चण्डीदास की परम्परा का प्रभाव पड़ा होगा और आश्चर्य नहीं कि सूरदास के इन पदों से ही विट्ठलनाथ भी राधा की सत्ता मानने को बाध्य हुए हों। भक्ति की दृष्टि से राधा भगवान् के प्रिय भक्त का आदर्श है जिसने अपनी अनन्य भक्ति के बल से अपने भक्ति-भाजन इष्टदेव को प्राप्त कर लिया और उसके साथ तादात्म्य का परमसुख प्राप्त किया।

काव्यात्मक चित्रण की दृष्टि से सूर ने राधा को कृष्ण की प्रियतमा के रूप में चित्रित किया है। कूटपदों में इस भाव के संकेत बहुत स्पष्ट और सजीव हैं। राधा का चित्रण एक कान्तिमती प्राप्त-यौवना सुन्दरी के रूप में हुआ है जिसके अंगों में अनुपम सौन्दर्य और लावण्य है।[२] प्रारम्भिक मिलन के अवसरों पर राधा एक मुग्धा किन्तु चाचाल बाला है जिसके हृदय में अपने बालपन के साथी कृष्ण के प्रति असीम आकर्षण है।[३] कृष्ण भी उसके प्रति कम आकृष्ट

१ ब्रजहि बसे आपुहि बिसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायौ।
द्वै तनु जीव एक हम दोऊ सुख कारन उपजायौ॥ सू० सा० १०-२८
और सब प्रकारि मन हर्ष बढ़ै।
मेट ब्राह्मन वाणि स्वाम को मनहि आनन्द भर।
प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूल गई। सू० सा० १०-२७
२ पद ५४ ५५, ५८
३ पद ११

नहीं है और दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट आते हैं। उनके प्रारम्भिक सम्पर्क में अनुरक्ति कम थी किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि किशोरावस्था के अनुकूल लज्जा से भरी हुई (मिश्रण की) आतुरता उसमें अवश्य है। समय पाकर वह आकर्षण अनुराग में परिणत हो जाता है और ऐसे अटूट प्रेम का रूप धारण कर लेता है जो दोनों प्रेमियों के हृदय में घर कर लेता है। इस अवस्था में कृष्ण और राधा में बालपन नहीं है। वे प्रेमी और प्रेमिका हैं। युवक कृष्ण और युवती राधा को दैवी रूप देकर कृष्ण की लीला में अलौकिक तत्त्व का समावेश कर देना ही सूरदास के चरित्र-चित्रण का प्रमुख रहस्य है।

सूर ने इस प्रेमी युगल-मूर्ति की सुखद झाँकियों के अगणित चित्र उपस्थित किये हैं जो बड़े ही मनोरम हैं। अपने अप्रतिम कौशल से उसने राधा और कृष्ण के मानसिक दृष्टिकोणों और उनके सामाजिक व्यवहार दोनों में भेद का स्पष्ट चित्र उपस्थित किया है।

राधा के अनुराग की उत्तरोत्तर वृद्धि आकर्षण से लेकर आत्मसमर्पण तक की सभी अवस्थाओं में क्रमशः चित्रित की गई है।[१] सूरदास ने राधा को मानसिक संघर्ष की परिस्थिति में चित्रित किया है। दैनिक जीवन के कृत्यों में उसकी रुचि नहीं रही है फिर भी उसमें संयम-जनित पीड़ा है और माता-पिता का भय भी है।[२] शनैः शनैः उसकी सरलता चतुरता में परिणत होती जाती है और कृष्ण के साहचर्य से उसके स्वभाव में भी परिवर्तन होता है। वह हास-परिहास में कृष्ण को परास्त कर देती है। दानलीला के प्रसंग में उस की प्रगल्भता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। वह प्रेम में खो जाती है और अन्य अनेक गोपिकाओं के समान वह भी धर्म और समाज के बन्धनों की चिन्ता नहीं करती। कृष्ण उसे सच्ची भावनाओं के प्रतीक के रूप में ग्रहण करते हैं और उसकी विरह-व्यथा से सहानुभूति प्रकट करते हैं। वह गुप्त रूप से राधा से मिलते रहते हैं और उसे अपने साहचर्य का सुख देते रहते हैं। कृष्ण भी

---

१ प्रथम सनेह दुहुन मन जान्यौ।
सूरदास प्रभु रस बस कीन्ही राधा दोऊ मिलि बस ।। सू सा १०-१४

२ नारदभक्तिसूत्र में भक्ति के विविध सोपान इस प्रकार बताये गए हैं :
गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति।

३ सा स १

युवावस्था की क्रीड़ाओं और प्रणयकेलियों के एक साथ चित्रण में सूरदास ने वस्तुतः अत्यन्त कौशल दिखलाया है। उसकी कला मनमुग्ध कर देने वाली है। यौवन के उदय के साथ-साथ प्रेम का वास्तविक विकास होता है। कृष्ण के प्रणय के प्रकाश से राधा का सौन्दर्य समुज्ज्वल हो उठता है और उसके नेत्रों में अलौकिक आकर्षण दृष्टिगोचर होने लगता है।[1] उसकी भौंहें धनुष के समान कटाक्षबाणों का सन्धान करने लगती हैं। इस प्रकार सूरदास ने राधा और कृष्ण का एक प्रेमी युगल के रूप में चित्रण किया है और उनके मिलन तथा विरह के नाना रूप प्रेम की विविध स्थितियों का अंकन करते हैं।

राधा का चरित्र दो प्रकार से चित्रित किया गया है राधा के रुष्ट होने और उसका अनुनय करने के समय दूतियों के माध्यम से और युगलमूर्ति का प्रेम सर्वविदित हो जाने पर सखियों के माध्यम से। मिलन-विषयक पदों में सामान्यतः नायक और नायिका दोनों का वर्णन है।[2] ऐसे पद बहुत कम हैं जिनमें अकेली राधा का ही वर्णन है। वह 'सहज रूप की राशि'[3] है और शृंगार प्रसाधन के बिना भी सर्वालंकार भूषित सुन्दरियों से भी श्रेष्ठ है। आभूषण उसके सहजसौन्दर्य की अभिवृद्धि के साधनमात्र हैं मानो स्वर्णलता सहज आमोद और अमृत से समन्वित हो[4]। उसके अंगों का सौन्दर्य वस्तुतः अप्रतिम है और उसके नेत्रों का लावण्य तो और भी अद्‌भुत और उल्लेखनीय है।[5] केलि के समय का उसका रूप-लावण्य तो अनेक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का आधार बना है।[6]

राधा का चित्रण तीन विभिन्न रूपों में किया गया है —चतुर, गंभीर और अतृप्त परकीया नायिका के रूप में, गर्विता आत्मरता और मदान्धा रुष्ट स्वकीया के रूप में और गंभीर विरहतप्ता नायिका के रूप में। राधा का बाह्य रूप जितना मोहक है उतना ही उसका आन्तरिक रूप कृष्ण प्रेम का प्रतीक है जो उसके अंग-अंग में व्याप्त है। वह वस्तुतः कृष्ण प्रेम की साक्षात् प्रतिमा है। कृष्ण के इसी सम्बन्ध के कारण वह आरम्भ से ही प्रेमकला में निष्णात बनी और उसके प्रेम में ज्यों-ज्यों गहनता आती गई त्यों-त्यों उसकी चतुरता में भी वृद्धि होती गई।

---

१ पद २१ २९ ३१
२ पद २६ से ६१ तक
३ पद ३५
४ पद ४
५ पद ४१ ४९ ५१
६ पद ३४

मुग्ध प्रेम के रहस्यों को समझ जाने के अनन्तर राधा की तीव्र बुद्धि गाढ़ अनुरक्ति और मर्मज्ञता सभी ने कृष्ण के प्रति उसके प्रेम को गोपित रखने का प्रयत्न किया। यहाँ तक की अपनी अंतरंग सखियों और माता तक से अपने प्रणय प्रसंग के गुप्त रखने में राधा अत्यन्त कुशल हो गई। सामाजिक बन्धनों के कारण एक युवती को जो आत्म-संयम रखना पड़ता है निःसन्देह वह राधा और कृष्ण के मिलन में भी बाधक बनता है और यही राधा के अनुताप का कारण भी है फिर भी जब कभी मिलन का अवसर आता है तो राधा का प्रणयोद्रेक से प्रभावित उच्छृंखल मन अनुशासन के बंधन तोड़ देता है और वह समस्त मर्यादाओं का उल्लंघन कर कृष्ण के साथ केलिरत हो जाती है।[1] सूरदास ने उसका चित्रण इस प्रकार किया है जिससे वह कृष्ण को वशीभूत करने में सभी रूपों में समर्थ है—चाहे उसका रूप विनीत हो अथवा लज्जाकुल, चाहे प्रसन्न हो अथवा कुपित। फिर भी उसकी कृष्ण-मिलन की तृष्णा सदा सजीव रहती है क्योंकि रहस्य-गोपन प्रेमी-युगल की प्रमुख समस्या बन जाती है। प्रेम में ज्यों-ज्यों बाधाएँ आती हैं त्यों-त्यों उसकी गहराई बढ़ती जाती है।[2] कृष्ण का बहुनायिका-प्रेम इस प्रणय-भाव को अधिक उत्तेजित करता है और बहुधा प्रणय-विकास की एकरूपता में बाधक भी हो जाता है। इसी के फलस्वरूप सूर को राधा की विविध मानसिक अवस्थाओं के चित्रण का सुअवसर मिला। स्वकीया राधा को सूर ने इस रूप में चित्रित किया है मानो वह कृष्ण की विवाहिता पत्नी हो और उस पर उसका पूर्ण आधिपत्य हो। ऐसी स्थितियों में राधा के चरित्र में सर्वत्र प्रेम की गरिमा और उदात्तता की झलक मिलती है। राधा के लिए कृष्ण ही सर्वस्व है और उसका प्रेम एकनिष्ठ और अनन्य है। राधा का चित्र प्रस्तुत करने में सूर ने उसका कृष्ण के हृदय और आत्मा पर पूर्ण आधिपत्य दिखलाया है। कृष्ण सर्वथा उसके वशीभूत हैं। मिलन के समय राधा आनन्द सुख आमोद कुतूहल और गाढ़ प्रेम की साक्षात् मूर्ति है पर वियोग की स्थिति में उसके चरित्र के विविध रूप हैं। उसकी चतुरता आमोदप्रियता और चपलता लुप्त हो जाती है और प्रणयकातरता युवतिजनोचित गम्भीरता और उदासी उनका स्थान ले लेती हैं।[4]

---

१ पद ४ ७८ ६७

२ ना० स० १

३ पद १ से १२ तक

४ पद १ ४९ ४३ ६२

इस प्रसंग मे कुछ साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से राधा के चरित्र का समीक्षात्मक विवेचन भी विषयान्तर नही होगा । जहाँ कहीं सूर ने राधा कृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है वहाँ सर्वत्र उसने कल्पना की मुक्त उड़ानें भरी हैं । यों तो जयदेव विद्यापति और चंडीदास की रचनाओं में भी राधा का चित्रण मिलता है पर कृष्ण की प्रेयसी के रूप में उसे सर्वप्रथम मान्यता निम्बार्क सम्प्रदाय ने ही दी ।[1] सूरदास के पूर्ववर्ती कवियों में सर्वप्रथम जयदेव ने ही अपने गीत गोविन्द में राधा के शृंगारी रूप का चित्र उपस्थित किया था । गीतगोविन्द की राधा एक प्रणयिनी युवती और उत्कंठिता नायिका है । वह अनेक गोपियों में से एक है और उसे पता है कि कृष्ण केलिप्रिय है और अनेक युवतियों के साथ क्रीड़ा-विहार करता है ।[2] वह स्वयं भी उतनी ही केलिप्रिया है और कृष्ण के सौन्दर्य से आकृष्ट होने में पर्याप्त प्रगल्भा है ।[3] उसके हृदय में अन्य युवतियों के प्रति कोई ईर्ष्या-द्वेष नही और वह अपनी लक्ष्यसिद्धि—कृष्णप्रेम की प्राप्ति—के लिए भला-बुरा सब कुछ सहने में पूर्ण समर्थ है । उसकी स्वाभाविक लज्जा सहसा विलुप्त हो जाती है और प्रणय का चामर काम के लिए उल्लसित हो उठता है । उसका प्रेम अगाध और अपरिमेय है और उसकी चपलता उसके रूप-लावण्य को द्विगुणित कर देती है ।[4] यह है जयदेव की राधा का स्वरूप । विद्यापति की राधा एक किशोरी नायिका है । उसका यौवन मुकुलित हो रहा है । शैशव और यौवन की वय-सन्धि के रूप में राधा विद्यापति की एक अद्भुत कल्पना है जिसमें राधा के नैन फैलकर कानों तक पहुँच जाते हैं ।[5] कृष्ण से मिलन के समय राधा एक मुग्धा बाला है जिसे अभी अपने यौवन का आभास भी नही हुआ है । उनका मिलन भी विचित्र है और उनके संयोग तथा वियोग के वर्णन में तरुण युगल के अनेक सुन्दर चित्र अंकित किए गए हैं । विद्यापति

---

१ अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥ दशश्लोकी स्तोत्र ।

२ (अ) गोपकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलम्भितलोभम् । गी० गो० २, ४-५
(आ) अनेकनारीपरिरम्भसम्भ्रमस्फुरन्मनोहारिविलासलालसम् । गी० गो० १ १-१२

३ चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम् ।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम् ॥ गी० गो० २ १-२

४ स्मरसमरोचितविरचितवेशा । गलितकुसुमदरविलुलितकेशा ॥
अपि चपला मधुरिपुणा । विलसति युवतिरधिकगुणा ॥ गी० गो० ७ १४

५ सैसव जौवन दुहु मिलि गेल । स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल ।
वचनक चातुरि लहु लहु हास । धरनिये चाँद कयल परकास ॥ वि० प०

माधुर्य इन तीन विभिन्न रूपों में हुई है। कुछ आलोचकों का मत है कि उनके विनय के पदों में शान्तरस की प्रधानता है।[1] परन्तु वास्तव में इस रूप में प्रतीत होने वाला मुख्यतः वह भक्तिभाव ही है जो सूरकाव्य में सर्वत्र व्याप्त है। इन पदों में शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद प्रत्यक्षत दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु प्रगाढ भगवद्विषया रति ही प्रत्यक्ष लक्षित होती है। रति के इस पक्ष को भी सूर की काव्यकला ने गरिमा प्रदान कर दी है। अत इस प्रकार के विविध प्रेम का भक्तिरस में अन्तर्भाव करना ही अधिक उपयुक्त होगा। उज्ज्वलनीलमणि के रचयिता ने इसे 'उज्ज्वल रस' की संज्ञा दी है।[2] और सम्भवत डा हजारीप्रसाद द्विवेदी भी उपर्युक्त आधार पर इस नाम के पक्ष में हैं।[3] इस रस का आश्रय नि सन्देह भक्त होता है और प्रस्तुत प्रसग में वह स्वय सूर हैं और उसका आलम्बन है करुणानिधान दयालु हृदय तथा परोपकारी भगवान् श्रीकृष्ण। विविध कामनाओं से उत्पन्न संसार के नाना दुख विश्व की क्षणभगुरता और उसकी प्रत्येक वस्तु की असारता इस रस के उद्दीपन हैं और भक्त की करुणा दशा आत्मग्लानि और अन्त करण में विवेक का उदय व्यभिचारी भाव हैं। इन विभावानुभाव और व्यभिचारी भावों के पूर्ण संयोग से भक्ति-रस का परिपाक होता है और उन आत्मसमर्पण शरणागति विशुद्ध दैन्यभाव और भगवान् की अनुकम्पा की आकाक्षा तथा अनन्य एव अटूट भक्ति की कामना आदि प्रशस्त भावों का समुचित मिश्रण होता है।

इन पदों में सूर एक ओर तो अत्यन्त सामान्य भक्त के रूप में अपनी इन्द्रियों को उनके सहज व्यापार से विरत करने की चेष्टा करता है और अपनी आत्मा को सांसारिक जीवन के आकर्षण से पृथक रहने तथा सांसारिक दुखों और विषय-वासनाओं से सर्वथा मुक्त होने की प्रेरणा करता है और दूसरी ओर वह भगवान् की अनुकम्पा और दयालुता पर आश्रित रहता है और उसके साथ पूर्ण तादात्म्य की इच्छा करता है।

कृष्ण की बाल क्रीडाओं का चित्रण करने वाले पदों में वात्सल्य रस की व्यजना है। पुत्र शिष्य तथा अन्य स्नेह-पात्रों के प्रति होने वाली रति का नाम वात्सल्य है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार वात्सल्य भाव भाव है जो रति का ही एक रूप है पृथक रस नहीं है यद्यपि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में वात्सल्य को

---

१ सूर साहित्य की भूमिका पृ १११

२ स त्रिविधः सर्वोत्तमः रतिः शुचिरुज्ज्वलः । उज्ज्वलनीलमणि पृ १ १

३ हिन्दी-साहित्य की भूमिका पृ १

वत्सल रस माना है।[1] अपनी स्फुरणा और चमत्कारिता के कारण वह एक स्वतन्त्र वात्सल्य रस के रूप में परिणत हो गया है[2] और सूर के हाथों में पड़कर भक्ति के समान ही रस की कोटि में परिगणित हो गया है।

हिन्दी-साहित्य में विशेषकर वल्लभ के अनुयायियों में कृष्ण का बाल-रूप भक्ति का आलम्बन है और उसमें भी क्रीडाओं का प्रमुख स्थान है। कृष्ण की बाल-क्रीडाओं का वर्णन करने वाले पदों में भक्ति को उसके अन्य रूपों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। इसीलिए सूरदास तथा अन्य पुष्टिमार्गी कवियों की रचनाओं में वात्सल्य की इतनी प्रमुखता रही है। कृष्ण की आनन्दमयी बाल-लीलाओं का वर्णन करने में कवि का मुख्य उद्देश्य अपने वात्सल्य भाजन श्रीकृष्ण के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करना है। बाल-लीला के प्रसंग में नंद और यशोदा विशेष रूप से आश्रय हैं। यशोदा के दो रूप हैं—नारी और माता—और कृष्ण के प्रति उसका स्नेह सच्चा वात्सल्य है। बालकृष्ण ही एकमात्र आलम्बन हैं उनकी निश्छल और सरल लीलाएँ और चेष्टाएँ उद्दीपन हैं और माता का हर्ष और आनन्द अनुभाव हैं। इस प्रकार इन सबके संयोग से वात्सल्य रस की निष्पत्ति होती है। शृंगार के समान वात्सल्य के भी दो रूप हैं—संयोग और विप्रलम्भ। यद्यपि सूर दोनों ही रूपों के चित्रण में सिद्धहस्त हैं तथापि उनके कूटपदों में संयोग का चित्रण ही प्रधान है। इस रस की अभिव्यक्ति में कवि ने स्वभावोक्ति अलंकार की विशेष सहायता ली है। कवि बालमनोविज्ञान का पारखी है और कृष्ण के लीला-वर्णन के प्रसंग में उसने स्थान स्थान पर अद्भुत रस की भी उद्भावना की है। निःसन्देह अद्भुत रस वहाँ प्रधान रस का अंग है अतः गौण है। चाहे जो भी हो इस अद्भुत रस का विषय भी कृष्ण का असामान्य सौन्दर्य है जिसका वर्णन अनेक रूपों में हुआ है। बालकृष्ण के मोहक अंगों के इस अद्भुत वर्णन में प्रायः पुनरुक्ति हुई है फिर भी उसे दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे वस्तुतः वात्सल्य रस की अभिवृद्धि ही हुई है। इन प्रसंगों में कवि ने अपनी विनोदप्रियता का परिचय दिया है और रहस्यमिश्रित आश्चर्य तथा कुतूहल उत्पन्न करने में कौशल का भी परिचय दिया है।

भक्ति और वात्सल्य—इन दोनों ही के पदों में कला की अपेक्षा भावपक्ष प्रमुख है। उनमें भावों की अभिव्यक्ति नितान्त स्वाभाविक है और अभिव्यंजना की स्वतः प्रवृत्ति के कारण अलंकारों के व्यर्थ समावेश के लिए कोई स्थान नहीं

---

१ वत्सलोऽपि दशमो रस। सा० द० पृ० १८८

२ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। सा० द० पृ० १८८

के पदों में दूतियों के कर्म का भी पर्याप्त वर्णन है। वे दोनों ओर से चतुर दूती का कार्य करती हैं और अपने कार्य के सम्पादन में पूर्ण कौशल का परिचय देती हैं। अन्त में प्रणय सफल होता है। राधा के हर्ष की सीमा नहीं है और वह कह उठती है — हे सखी अपने आनन्द का क्या वर्णन करूँ, कृष्ण तो अब प्रतिदिन मेरे मन्दिर में पधारते हैं।[1] संक्षेप में विद्यापति की राधा प्रारम्भ में किशोरीमात्र है फिर एक नितान्त मुग्धा बाला फिर विलासप्रिया युवती और अपने प्रौढ रूप में सर्वात्मभाव से कृष्ण के प्रेम में तल्लीन नायिका। उसके सौभाग्य की परिणति असीम आनन्द में है और विनोदपूर्ण क्रीडाएँ तो उसके जीवन का अभिन्न अंग बन जाती हैं।

चंडीदास की राधा विद्यापति और जयदेव की राधा से सर्वथा भिन्न है। उसका स्वभाव अधिक कोमल और प्रकृति अत्यन्त भावुक है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह आदि से अन्त तक खिन्नमन और चिन्तातुर है और उसके नेत्रों से सतत अश्रु प्रवाह होता रहता है। उसके प्राण सदा कृष्ण में लीन रहते हैं और कृष्ण के प्रति उसका अतृप्त प्रेम है। वह वियोग की कल्पनामात्र से व्याकुल हो उठती है। कृष्ण का सतत साहचर्य ही उसके जीवन की एकमात्र कामना है पर प्रेमोन्माद से वह व्यथित नहीं होती।[2] चंडीदास ने राधा को सदा परकीया नायिका के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और इस प्रकार अत्यन्त सुकुमार परिस्थिति में उसकी सूक्ष्म मन स्थिति एवं स्नेही हृदय की कोमल भावनाओं का चित्रण कराया है। मन और प्रयोजन के सादृश्य की दृष्टि से राधा का चित्र अद्वितीय है। वह लोकलिप्सा से मद मस्त प्रेमिका नहीं है किन्तु वह पहले भक्त है और फिर प्रेयसी।[4] जयदेव चंडीदास और विद्यापति की राधा से सूर की राधा बहुत भिन्न है। वह न तो जयदेव की राधा के समान पूर्ण निर्विवाद-यौवना और नितान्त कामासक्ता है और न विद्यापति की राधा के समान अब सुविकसिता प्रेयसी। वह चंडीदास की राधा के समान पूर्ण परकीया

कि कहब रे सखि आनन्द ओर। चिर दिने माधव मन्दिर मोर ॥
पाप सुधाकर जत दुख देल। हरिमुख देखइते सब दुख गेल ॥ वि प
(अ) विद्यापति की राधा कवि विनोद का समपिंड है। जयदेव की राधा की अपेक्षा उसमें शरीर का भाग अधिक है हृदय का कम। (दा० सेन)
(आ) विद्यापति की राधा में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है। उसमें गम्भीरता का अभाव स्पष्ट ही है। (रवि बाबू)
२ तुम मोर पति तुम मोर गति मन नहिं आन भाय।
४ बन्धु मैं कौतुक जानि प्राण मन व दुख चौकिल मत्र ॥
मरन अधिक विरह जनसी निमिखे निमिखे हारा। चंडीदास।

भी नहीं है। सूर की राधा न तो सामान्य गोपीमात्र है और न उनसे बहुत भिन्न ही। वह कृष्ण की पत्नी है अत: स्वकीया नायिका है। उसका व्यक्तित्व स्पष्ट और पूर्णत: प्रभावोत्पादक है। चण्डीदास की राधा की अपेक्षा वह अधिक कठोर है क्योंकि कृष्ण के अनुनय को वह सरलता से स्वीकार नहीं करती। उसे प्रसन्न करना कृष्ण के लिए कुछ कठिन है। उसमें स्वाभिमान अधिक है अत: वियोगातुर कृष्ण का अनुनय भी उसे सरलता से वशीभूत नहीं कर सकता। कृष्ण के मूर्च्छित होने का समाचार पाकर भी वह विचलित नहीं होती। उसका गर्व होने पर भी उसे विश्वास है कि कृष्ण पूर्णतया एकमात्र उसी के हैं। प्रेमाधिक्य से उसके गर्व का बाँध तभी टूटता है जब उसे पता चलता है कि कृष्ण उसके भवन से जा रहे हैं। तब वह अपने मनोभावों के वेग को रोक नहीं सकती और प्रसाधन करने के लिए थोड़ी देर रुकती है और प्रियतम कृष्ण को सखी द्वारा सन्देश भिजवा देती है कि वह तुरन्त ही उसका अनुगमन करती हुई आ रही है। इन आख्यानों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए सूरदास ने राधा और कृष्ण के प्रेम के क्रमिक विकास ब्रज की मनोरम भूमि और उससे सम्बद्ध सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया है। सूरदास के हाथों में पड़कर राधा और कृष्ण का प्रेम गृहस्थ-जीवन का एक रूपक बन जाता है। प्रेम का यह रूप अन्य कवियों की रचनाओं में सर्वथा अविद्यमान है। सूर ने राधा को पातिव्रत्य के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार प्रेम के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और तज्जन्य उत्कण्ठा ने दैवी पवित्रता का रूप धारण कर लिया है। सूरदास के काव्य में सौन्दर्य अलौकिक भोगविलास का विषय नहीं है जैसा कि प्राय: शृंगारी काव्य में बहुलता से पाया जाता है। सूर ने रतिक्रीडा के सभी रूपों और अंगों का वर्णन किया है तथापि सदाचारहीन शृंगार से वह बहुत ऊपर है और उसके पाठक के मन में भी राधा और कृष्ण के प्रति अविचल भक्तिभाव बना रहता है। अत: सूर की काव्यकला पर उसके निर्मल और शान्त हृदय अटूट भक्ति और मन तथा आत्मा की पवित्रता की गहरी छाप है और इन्हीं भावनाओं से अपने नायक-नायिका को समेष्टित कर उसने उनको कामुकता के उस धरातल से बहुत ऊँचा उठा दिया है जो देखने में आकर्षक और सुन्दर प्रतीत होता है।

भाव और रस ध्वनि

सूर के काव्य में विभिन्न रसों की निष्पत्ति विविध रीति से हुई है। तथापि सूरपदों का प्रमुख रस शृंगार ही है जिसकी अभिव्यक्ति विनय वात्सल्य और

माधुर्य इन तीन विभिन्न रूपों में हुई है। कुछ आलोचकों का मत है कि उनके विनय के पदों में शान्तरस की प्रधानता है। परन्तु वास्तव में इस रूप में प्रतीत होने वाला मुख्यतः वह भक्तिभाव ही है जो सूरकाव्य में सर्वत्र व्याप्त है। इन पदों में शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद अत्यधिक दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु प्रगाढ़ भगवद्विषयक रति ही प्रत्यक्ष लक्षित होती है। रति के इस पक्ष को भी सूर की भावुकता ने गरिमा प्रदान कर दी है। अतः इस प्रकार के विविध प्रेम का भक्तिरस में अन्तर्भाव करना ही अधिक उपयुक्त होगा। उज्ज्वलनीलमणि के रचयिता ने इसे 'उज्ज्वल रस' की संज्ञा दी है।[1] और सम्भवतः डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी उपर्युक्त आधार पर इस नाम के पक्ष में है।[2] इस रस का आश्रय निःसन्देह भक्त होता है और प्रस्तुत प्रसंग में वह स्वयं सूर है और उसका आलम्बन है करुणानिधान दयालु हृदय तथा परोपकारी भगवान् श्रीकृष्ण। विविध कामनाओं से उत्पन्न संसार के नाना दुःख विश्व की क्षणभंगुरता और उसकी प्रत्येक वस्तु की असारता इस रस के उद्दीपन हैं और भक्त की करुण दशा आत्मग्लानि और अन्तःकरण में विवेक का उदय व्यभिचारी भाव है। इन विभावानुभाव और व्यभिचारी भावों के पूर्ण संयोग से भक्ति-रस का परिपाक होता है और तब आत्मसमर्पण शरणागति विशुद्ध दैन्यभाव और भगवान् की अनुकम्पा की आकांक्षा तथा अनन्य एवं अटूट भक्ति की कामना आदि प्रशस्त भावों का समुचित मिश्रण होता है।

इन पदों में सूर एक ओर तो अत्यन्त सामान्य भक्त के रूप में अपनी इन्द्रियों को उनके सहज व्यापार से विरत करने की चेष्टा करता है और अपनी आत्मा को सांसारिक जीवन के आकर्षण से पृथक् रहने तथा सांसारिक दुःखों और विषय-वासनाओं से सर्वथा मुक्त होने की प्रेरणा करता है और दूसरी ओर वह भगवान् की अनुकम्पा और दयालुता पर आश्रित रहता है और उनके साथ पूर्ण तादात्म्य की इच्छा करता है।

कृष्ण की बाल-लीलाओं का चित्रण करने वाले पदों में वात्सल्य रस की व्यंजना है। पुत्र शिष्य तथा अन्य स्नेह-पात्रों के प्रति होने वाली रति का नाम वात्सल्य है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार वात्सल्य भावमात्र है जो रति का ही एक रूप है पृथक् रस नहीं है यद्यपि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में वात्सल्य को

---

१ सूर साहित्य की भूमिका, पृ० १४१
२ न निर्वेदः शमो रतिः द्योतनो मतः । उज्ज्वलनीलमणि पृ० २०१
३ हिन्दी-साहित्य की भूमिका पृ० ८२

द्दाम रस माना है।[१] अपनी स्फुटता और चमत्कारिता के कारण वह एक स्वतंत्र वात्सल्य रस के रूप में परिणत हो गया है[२] और सूर के हाथों में पड़कर भक्ति के समान ही रस की कोटि में परिगणित हो गया है।

हिन्दी-साहित्य में विशेषकर वल्लभ के अनुयायियों में कृष्ण का बाल-रूप भक्ति का आलम्बन है और उसमें भी क्रीडाओं का प्रमुख स्थान है। कृष्ण की बाल-क्रीडाओं का वर्णन करने वाले पदों में भक्ति को उसके अन्य रूपों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। इसीलिए सूरदास तथा अन्य पुष्टिमार्गी कवियों की रचनाओं में वात्सल्य की इतनी प्रमुखता रही है। कृष्ण की आनन्दमयी बाल-लीलाओं का वर्णन करने में कवि का मुख्य उद्देश्य अपने वात्सल्य भावन श्रीकृष्ण के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करना है। बाल-लीला के प्रसंग में नंद और यशोदा विशेष रूप से आश्रय हैं। यशोदा के दो रूप हैं—नारी और माता—और कृष्ण के प्रति उसका स्नेह सच्चा वात्सल्य है। बालकृष्ण ही एकमात्र आलम्बन हैं उनकी निश्छल और सरल लीलाएँ और चेष्टाएँ उद्दीपन हैं और माता का हर्ष और आनन्द अनुभाव हैं। इस प्रकार इन सबके संयोग से वात्सल्य रस की निष्पत्ति होती है। शृंगार के समान वात्सल्य के भी दो रूप हैं—संयोग और विप्रलम्भ। यद्यपि सूर दोनों ही रूपों के चित्रण में सिद्धहस्त हैं तथापि उनके कूटपदों में संयोग का चित्रण ही प्रधान है। इस रस की अभिव्यक्ति में कवि ने स्वभावोक्ति अलंकार की विशेष सहायता ली है। कवि बालमनोविज्ञान का पारखी है और कृष्ण के लीला-वर्णन के प्रसंग में उसने स्थान स्थान पर अद्भुत रस की भी उद्भावना की है। निःसन्देह अद्भुत रस यहाँ प्रधान रस का अंग है अतः गौण है। चाहे जो भी हो इस अद्भुत रस का विषय भी कृष्ण का असामान्य सौन्दर्य है जिसका वर्णन अनेक रूपों में हुआ है। बालकृष्ण के मोहक रूपों के इस अद्भुत वर्णन में प्रायः पुनरुक्ति हुई है फिर भी उसे दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे वस्तुतः वात्सल्य रस की अभिवृद्धि ही हुई है। इन प्रसंगों में कवि ने अपनी विनोदप्रियता का परिचय दिया है और रहस्यमिश्रित आश्चर्य तथा कुतूहल उत्पन्न करने में कौशल का भी परिचय दिया है।

भक्ति और वात्सल्य—इन दोनों ही के पदों में कला की अपेक्षा भावपक्ष प्रमुख है। उनमें भावों की अभिव्यक्ति नितान्त स्वाभाविक है और अभिव्यंजना की स्वतः प्रकृति के कारण चमत्कारों के व्यर्थ समावेश के लिए कोई स्थान नहीं

१ वत्सलोऽपि दशमो रस । सा द ३ १ २

२ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। सा द ३ १८०

है फिर भी जहाँ कवि की भावनाओं का उत्कर्ष पराकाष्ठा पर होता है और सामान्य अलंकार उसकी अभिव्यंजना में असफल हो जाते हैं तो सूरदास रूपकातिशयोक्ति की सहायता से रहस्यमयी व्यंजना का आश्रय लेते हैं। वस्तुओं के वर्णन में वह प्रायः उपमानों का संकेत करते जाते हैं और इसमें उनका कौशल है। यथा—'नारी एक दसौं दिसि बिचरति'[1] में माया को एक नारी के रूप में चित्रित किया गया है और 'माधो जू मेरी इक गाइ'[2] में तृष्णा को गाय का रूप दिया गया है। इसी प्रकार कृष्ण के अंगों के वर्णन में कवि ने कमल, सूर्य, चन्द्र, खंजन आदि लोकप्रसिद्ध उपमानों का उपयोग किया है।[3] उनकी विलक्षण प्रतिभा और तीव्र अभिव्यंजना से उनके पदों में रूपकातिशयोक्ति के अद्भुत तत्त्व का समावेश हो गया है और भावों की उदात्त परम्परा से अभिव्यक्ति में विलक्षणता भी स्वभावतः आ गयी है। इन पदों में कूटशैली की जटिलता का भी यही कारण है। कुछ स्थानों पर कवि ने कबीर आदि कुछ अन्य कवियों की भाँति अपने भावों की गहनता को व्यक्त करने के उद्देश्य से साकारीकरण की पद्धति को भी अपनाया है। यथा—

चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
निसिदिन राम राम की बरषा भय रुज नहिं दुख सोग॥
जहाँ सनक से मीन हंस सिव मुनि जन रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर गुंजत निगम सुबास॥
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँडि कुबुधि बिहंगम इहाँ कहा रहि कीजै॥[4]

(हे चकवी (आत्मा) आओ भगवान् के चरणरूपी उस सरोवर पर चलें जहाँ प्रेम का वियोग कभी नहीं रहता। जहाँ सदा राम-राम के जप की वर्षा होती रहती है और जहाँ किसी प्रकार का भय रोग दुःख अथवा शोक नहीं रहता। जहाँ सनक सनन्दन आदि महर्षि रूपी मत्स्य हैं भगवान् शिव रूपी हंस हैं और ऋषि-मुनि आदि के रूप में सूर्य का प्रकाश है। जहाँ (भक्तों के हृदय रूपी) कमल सदा खिले रहते हैं (चिर आनन्द में मग्न रहते हैं) और उन्हें सांसारिक प्रलोभन रूपी चन्द्रमा का कभी भय नहीं रहता और जहाँ वेद रूपी सुगन्ध सदा विद्यमान रहती है। उस सरोवर में मुक्ति रूपी मोती और सुकृत रूपी अमृतरस

१ पद १६८
२ वही
३ पद १ १३
४ सूरसागर १ ३३

भी मिलेगा। हे मूर्ख चकवी उस सुन्दर सरोवर को छोड़कर और यहाँ रहकर तुझे क्या लाभ होगा ?)

इस पद मे परलोक की हल्की-सी झलक है। इसके साथ कबीर के इस पद की तुलना की जा सकती है —

हंसा प्यारे सरवर तजि कहँ जाय।
जेहि सरवर बिच मोती चुनते बहुविध केलि कराय॥
सूख ताल पुरइनि जल छाँड़े कमल गयौ कुम्हिलाय।
कहु कबीर जो अबकी बिछुरे बहुरि मिलै कब आय॥

(हे प्रिय हंस (जीवात्मा) तुम इस सरोवर को छोड़कर अन्यत्र कहाँ और क्यों जा रहे हो ? जिस सरोवर मे कभी तुम मोती चुनते थे और विविध केलि करते थे वह अब सूख गया है। जल कमल को छोड़ गया है और फलतः वे अब मुरझा गए हैं। कबीर कहता है यदि तुम इस बार सदाशिवम इस सरोवर से बिछुड़ जाओगे तो पता नहीं फिर कब मिल सकोगे)। यहाँ कवि ने नश्वर-जगत् और भगवान् के अविनाशी चरणों का वैषम्य दिखलाया है। इन दोनों पदों मे विषय-साम्य होते हुए भी अभिव्यञ्जना मे स्पष्टतः बहुत भेद है। सूर ने रूपक की सहायता से अपने रहस्यमय जगत् को अधिक सजीव भावपूर्ण और मानवमय बना दिया है।

शृंगार

प्रेम सम्बन्धी पदों मे प्रमुख रस शृंगार है। इन पदों म शृंगार के दोनों भेदों—संयोग और विप्रलम्भ—की पूर्ण अभिव्यक्ति है और शृंगार रस का उसके सभी रूपों मे विस्तार से विवेचन किया गया है। यह प्रेम निःसन्देह मानवी है। संयोग और विप्रलम्भ के विविध पक्षों का जितना सूक्ष्म विवेचन सूरदास मे किया है उतना उनसे पूर्ववर्ती किसी अन्य कवि ने नहीं किया। सूर की विशेषता यह है कि उसने प्रेमाख्यान को दैवी भूमिका मे उपस्थित किया है जिससे उसम अद्भुत सौंदर्य उत्पन्न हो गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के साथ राधा तथा अन्य गोपियों की प्रेमलीलाओं की ओजपूर्ण भावाभिव्यञ्जना मे सूर की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि भी विशेषरूप से उल्लेखनीय है क्योंकि यह स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष के प्रणय वर्णन म जितना मोहक आकर्षण हो सकता है उतना प्रेम के अन्य किसी रूप मे सम्भव नहीं है। राधा तथा अन्य गोपियों के भावों को तीन प्रकारों मे विभक्त

१ कबीर

किया जा सकता है —(१) पूर्वानुराग जिसमें गोपबालाओं के हृदय में उत्कंठा का भाव जागृत होता है और वे प्रेम के मार्ग पर अग्रसर होती हैं। यह पूर्वानुराग केवल दानलीला तक मिलता है। (२) पूर्ण प्रणय जिसमें संयोग और अल्पकाल विरह दोनों में प्रेम की पराकाष्ठा का आकर्षक चित्रण है। (३) दीर्घ विरह जिसका अन्त मिलन में होता है और जिसमें दुःख के विविध रूपों और दशाओं का सजीव चित्रण है।

यहाँ हम इनका विस्तृत विवेचन करेंगे। प्रथम अर्थात् पूर्वानुराग का उदय नायक-नायिका के प्रथम दर्शन में ही हो जाता है। कृष्ण का मोहक रूप गोपियों के हृदय को ऐसा प्रभावित करता है कि प्रथम दर्शन में ही वे कृष्ण के प्रति आसक्त हो जाती हैं। कृष्ण के साथ काम की अभिलाषामात्र से ही उन्हें आनन्द की प्रतीति होने लगती है और वे भावोद्रेक की वास्तविक दशा को प्राप्त हो जाती हैं। यही दशा राधा की है जो तत्काल ही अपने प्रियतम कृष्ण के लिए प्रेमविह्वल हो जाती है। उसके हृदय में उत्कंठा अधीरता आदि अनुभावों का वेग उमड़ पड़ता है जिससे उसका कृष्ण-प्रेम प्रकट हो जाता है। संयोगावस्था में राधा और कृष्ण की सुरति की विविध क्रीड़ाओं और विनोदों का सूर ने सुन्दर वर्णन किया है और दोनों के रूप-सौंदर्य के अनेक शब्द-चित्र अंकित किए हैं। मान, शृंगार और सुरति के वर्णन अत्यन्त मनोमोहक हैं और कवि द्वारा प्रेमी-युगल के मनोविश्लेषण के सुन्दर निदर्शन हैं। वियोग के वर्णन में सूरदास की प्रतिभा अपनी पराकाष्ठा पर है। वास्तव में वियोग का वर्णन संयोग की अपेक्षा अधिक कठिन है क्योंकि उसमें मानव-हृदय के सर्वोत्तम रस—शृंगार के समस्त विविध भावों और अनुभावों के नाना रूपों और स्थितियों में कवि की अन्तर्दृष्टि परम अपेक्षित है। इसीलिए विप्रलम्भ को ही रति का वास्तविक पोषक और निकष माना जाता है।[1] सूरदास ने अपने कूटपदों में राधा और कृष्ण की विरह-व्यथाओं, उनकी विविध मनोदशाओं और उनके हृदय की विभिन्न भावनाओं का चित्रण किया है और साथ ही अनेक उद्दीपनों का भी बहुत ही सजीव और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। इन पदों में राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं के विस्तृत वर्णन हैं जिनमें कवि की प्रेम-विषयक सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और निरीक्षण का परिचय मिलता है। वियोग-वर्णन में सूर ने अनेक मनोदशाओं और अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा आदि संचारियों का भी वर्णन किया है।

---

१ न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते । उ नी मं पृ ६०७

सूर ने इस प्रेमी-युगल की रति-क्रीडाओं का वर्णन करते समय राधा को विविध परिस्थितियों में चित्रित कर नायिका भेद का भी सांगोपांग वर्णन किया है। यह वस्तुत शृंगार रस का एक प्रमुख तत्त्व है। साहित्यलहरी में तो इस विषय का बहुत विस्तृत विवेचन है ही पर सूरसागर के कूटपदों में भी एतद्विषयक पदों की संख्या नगण्य नहीं है। राधा और कृष्ण के प्रेम के क्रमिक विकास और उनकी प्रेमलीलाओं की विविध अवस्थाओं तथा मान कलह संयोग परिहास आदि का विभिन्न रूपों में चित्रण किया गया है। क्योंकि वैष्णव सम्प्रदाय के पुष्टिमार्ग में परिणीता नायिका का विशेष महत्त्व है अत राधा को मुग्धावस्था से लेकर प्रौढावस्था तक की सभी परिस्थितियों में चित्रित किया गया है। यद्यपि परकीया का साहचर्य प्रशस्य नहीं माना गया है तथापि सूर के पदों में गोपियों के साथ कृष्ण के रतिभाव तथा अन्य प्रेमलीलाओं का भी समावेश है जिनमें परकीया प्रेम का संकेत है। इसके अतिरिक्त गर्विता मानवती प्रोषितभर्तृका आदि अन्य नायिकाओं का भी सूर ने उल्लेख किया है।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी अप्रासंगिक न होगा कि मध्यकालीन कवियों में अपने इष्टदेव की उपासना और भक्ति के वर्णन के साथ साथ उनकी प्रेमलीलाओं का वर्णन करने की भी एक प्रथा-सी बन गई थी। इसीलिए उनकी रचनाओं में नायिकाओं की विविध परिस्थितियों का चित्रण भी स्वाभाविक और समुचित था।

इन पदों में रतिभाव की पूर्ण व्यंजना होने पर भी अश्लीलता नहीं आने पायी है क्योंकि कवि ने बड़ी सफलता के साथ उसे भक्ति से परिच्छन्न कर दिया है। अश्लीलता का इस प्रकार निराकरण सूर की सबसे बड़ी सफलता है। सूर की रचना में जिनकी दृष्टि केवल नायिका भेद पर ही है उन्हें सूर एक कामुक कवि ही प्रतीत होगा। किन्तु सूर वास्तव में एक महान् भक्त थे और सांसारिक विषयवासनाओं से मुक्त थे। अत यदि किसी अप्रौढ समालोचक को उनके प्रेम में विरोध प्रतीत होता हो तो यह उसकी भूल है। सूर के राधा और कृष्ण सामान्य नायक-नायिका नहीं हैं अपितु लोकोत्तर मानव हैं। अतएव उनकी प्रेमलीला में ऐहिक प्रेम की निकृष्ट भावना नहीं है। जैसा कि सर जार्ज ग्रियर्सन ने कहा है 'सूरदास को पढ़ते हुए किसी भक्त हिन्दू के हृदय में उच्छृंखल भाव का उदय होना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार सोलोमन के गीत पढ़ते समय किसी ईसाई के हृदय में।

अद्भुत

इन पदों में उक्त रसों के अतिरिक्त अद्भुत रस भी है। वस्तुत उपर्युक्त सभी रसों में अद्भुत का भी सम्मिश्रण है। कुछ आचार्यों का मत है कि चमत्कार ही काव्य रस का सार है[1] क्योंकि अद्भुत के साथ चमत्कार का नित्य सम्बन्ध है अत प्रत्येक काव्य-रचना में अद्भुत की ही प्रधानता रहती है। सूर के कूट पदों की तो यह आत्मा ही है। सूर ने इस रस का नियोजन कृष्ण के मोहक रूप और सौन्दर्य के वर्णन में किया है[2] और कहीं-कहीं राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओं के कुछ अनुपम प्रसंगों[3] में भी।

सौन्दर्यानुभूति और कल्पनाशक्ति

सूर में मानव-हृदय की आन्तरिक भावनाओं को परखने की ही शक्ति न थी अपितु उसकी कल्पनाशक्ति भी अनुपम थी और उसका सूक्ष्म निरीक्षण तथा मानव रूप एव बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य का ज्ञान भी पराकोटि का था। मानवी रूप के सौन्दर्य के विषय में उसकी आदर्श धारणा विविध परिस्थितियों और अवस्थाओं में राधा और कृष्ण के रूप लावण्य और माधुर्य के असंख्य चित्रों में निहित है। इन चित्रों में सूर ने शरीर के प्रत्येक अंग का सविस्तर वर्णन किया है और बहुधा एक ही प्रसंग की कई पदों में पुनरावृत्ति भी की है पर प्रत्येक बार नये और भिन्न रूप की ही उद्भावना की है। प्रत्येक रूप इतना सजीव और स्पष्ट है कि वह पाठक के नेत्रों के सम्मुख मानो प्रत्यक्ष और सत्य सा आभासित होता है। रूप-सौन्दर्य का चित्रण या तो उपमा उत्प्रेक्षा रूपक आदि अलकारों के द्वारा किया गया है या चमत्कारी और मोहक प्रभाव के द्वारा।

असम्बद्ध चित्रों का अंकन और अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर आरोप कवि की कल्पना के प्रदर्शन का अच्छा अवसर उत्पन्न करता है क्योंकि शारीरिक लावण्य स्वभाव और वैयक्तिक क्रियाकलापों की नाटकीय और भावपूर्ण पृष्ठभूमि में मानवीय अंगों के सौन्दर्य का समुचित विवेचन करने के लिए कवि को अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का वर्णन करना पड़ता है जिसे काव्यशास्त्र में अलंकार कहा गया है। अप्रस्तुत का विधान ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा कवि को अपनी

[1] रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस ॥ सा० द० [illegible] [illegible]

[2] सू० सा० स्क० १ [illegible] [illegible]

[3] सू० सा० स्क० १० [illegible] [illegible]

सरोवर के समान है, कमर सिंह जैसी क्षीण है, चरण रक्त वर्ण और कमल के समान कोमल हैं और नख चन्द्र तथा सूर्य के समान द्युतिमान एवं गति ऐरावत की सी है।

शरीर पर कृष्ण पीताम्बर धारण किए हैं जो विद्युल्लेखा के समान है। चरणों में स्वर्ण नूपुर करते नूपुर हंसों के तुल्य हैं। कटि में करधनी है तो कानों में मकराकृति कुंडल। सिर पर मोरमुकुट है तो वक्षस्थल पर मौक्तिक-माल। ललाट पर रक्त तिलक है तो अधरों पर मुरली धरी है। सबसे अधिक आकर्षक खड़े होने की त्रिभंगी मुद्रा है जो गोपिकाओं को मोहित करती है। कवि ने इस परिस्थिति की उत्प्रेक्षा इस प्रकार की है "मानो सौन्दर्य एक कमल पर क्रीड़ा करता हुआ चल रहा है। इन सभी वर्णनों में कवि का ध्यान वास्तविक रूप की ओर उतना नहीं है जितना उसे मोहक बनाने की ओर है। फलतः गोपियों की रति के आलम्बन के रूप में कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करने में कवि की सफलता अत्यन्त मार्मिक है।

नारी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन सामान्यतः गोपियों के और विशेषतः राधा के सौन्दर्य-वर्णन के द्वारा किया गया है। कूटपदों में गोपियों के विषय में बहुत कम उक्तियाँ हैं। केवल रासलीला के प्रसंग में उनके अंगों का वर्णन उपमानों के द्वारा किया गया है। वास्तव में राधा के सौन्दर्य को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। वह एक अपूर्व तथा अद्वितीय सुन्दरी है। यौवन के समागम के साथ युवती का लावण्य बढ़ जाता है अतः सूर ने इसी अवस्था में राधा के सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन किया है। यों तो उसके प्रत्येक अंग में अनुपम लावण्य है तथापि उसके विशाल और हृदयवेधी नेत्रों का सौन्दर्य तो नितान्त मादक है। नेत्रों का वर्णन अनेक पदों में किया गया है। विविध अंगों के वर्णन में सूर ने कवि-परम्परागत उपमानों और उत्प्रेक्षाओं का आश्रय लिया है। शरीर का वर्णन सुन्दर लता के रूप में किया गया है जिसकी आभा विद्युत् अथवा स्वर्ण के समान है। नख बीस चन्द्रमाओं के तुल्य हैं, चरण युगल कमल जैसे हैं, जंघाएँ कदली तरु, स्वर्ण स्तम्भ अथवा गज-शुंड जैसी हैं, कटि सिंह की सी है, नाभि सरोवर जैसी है, उरोज श्रीफल, स्वर्ण कलश, ताल फल, मातुलिंग अथवा गिरिशृंग के से हैं, चुचुक भ्रमर जैसे हैं, भुजाएँ सर्प अथवा कमलनाल जैसी हैं, हाथ कमल के तुल्य, ग्रीवा कपोत की सी, चिबुक पुष्प जैसा, अधर विद्रुम, बंधूक अथवा बिम्ब जैसे, वाणी कोकिल की सी, दांत दाडिम बीज, कुन्द अथवा गजमणि जैसे और नासिका शुक की सी है। आँखें मत्स्य, चकोर, खंजन, मृगशावक अथवा भ्रमर जैसी हैं। भृकुटि धनुष जैसी है, कटाक्ष बाण

के अन्य कवियों ने राधा और कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का इतना विस्तृत वर्णन किया है। इस विषय में सूर ने रतिलीला में रत कृष्ण और राधा के अनेक रूपों और दशाओं का वर्णन किया है जिनमें उनके संयोग-वर्णन में एक उत्कृष्ट नाटकीय तत्त्व का विकास हो गया है। इस विषय में सूर ने मानवी मनोविज्ञान के अपने अगाध ज्ञान का भी परिचय दिया है जिससे स्थायी और संचारी के वर्णन में सहायता मिली है। संयोग और विप्रलम्भ—दोनों ही प्रकार के शृंगार में उत्कंठा चिन्ता हर्ष विषाद खेद आश्चर्य आदि संचारियों का भी ऐसा सजीव वर्णन किया गया है मानो वे कवि की निजी अनुभूतियाँ हों।

प्रकृति

सूर की रचनाओं में बाह्य प्रकृति का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है जो तुलना के सभी मापदण्डों से आकर्षक कहा जा सकता है पर कूटपदों में उसके प्रत्यक्ष वर्णन का अभाव है। इन पदों में प्रकृति का उपयोग मानव के नाना रूपों और भावनाओं के सम्यक् निरूपण में पृष्ठभूमि के रूप में ही किया गया है अतः उसका वर्णन या तो मानवीय हृदयों के परितोष के लिए उद्दीपन के रूप में किया गया है या मनुष्य के सहानुभूतिपूर्ण सहचर के रूप में जो उसके सभी कार्यों और बाधा में उसके साथ रहता है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक पदार्थ और दृश्य अलंकारों के लिए भी पर्याप्त सामग्री उपस्थित करते हैं। केवल एक ही कूटपद ऐसा है जिसमें आलंकारिक शैली में प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया गया है। यथा —

आए माई चहुँ दिसि ते घनघोर।
मानौ मत्त मदन की हाथी बलकरि बंधनतोर।
बाजत पवन महावत हूँ ते मुरकत अंकुस मोरै।
बकपंगति मानौं उड़त है अवनि सरोवर बोरें॥[1]

(हे सखी चारों दिशाओं से घोर बादल आ रहे हैं—मानो कामदेव के मस्त हाथी ने बलपूर्वक बन्धन तोड़ दिया है और वह स्वच्छन्द विचरण कर रहा है। पवन रूपी महावत यद्यपि उन्हें विद्युत् रूपी अंकुश द्वारा मोड़ रहा है तब भी वे भागे जा रहे हैं। बगुला की पंक्ति मानो अवनि रूपी सरोवर को पार करने का यत्न कर रही है)। यहाँ बादलों की तुलना कामदेव के मत्त हाथियों से की गयी है और पवन की महावत से।

---

१ सू० सा० पद २१

उद्दीपन के रूप म प्रकृति निष्क्रिय है और समुचित वातावरण उपस्थित करने के अनन्तर मौन हो जाती है। यथा —

बैठी धाय कुंजन ओर।
तरत हैं वृषभानु नन्दिनि ललित नन्द किसोर॥
भानुसुतहितसमुपित जामत डरत कुसुम करे।
ह्व गए सुर सुम सुरज बिरहु अस्तुति केर॥[1]

(राधा कृष्ण के प्रति आत्म-समर्पण कर चुकी है और कुंजो की ओर ताकती हुई उनकी प्रतीक्षा कर रही है। समीर उसके लिए कष्टप्रद है और कुसुम काँटो जैसे लगते हैं। सूर कहता है कि विरह के कारण राधा उनकी निन्दा कर रही है)। यहाँ पवन तथा पुष्प आदि उद्दीपन हैं जो राधा के विरह को द्विगुणित कर रहे हैं। इसी प्रकार आगामी पद मे पवन चन्दन कस्तूरी चन्द्र आदि भी उद्दीपन के रूप मे वर्णित हैं —

हरिसुत पावक प्रगट भयो री।
मारुतसुतभ्रातापितुप्रोहित ता प्रतिपालन छाँड़ि गयो री॥
हरसुतवाहन आरिपु भोजन सो मायत अंग दहन भयो री।
मृगमद स्वाद मोद नहिं भावत दधिसुत भान समान भयो री॥
वारिधसुतपति कोप कियो तजि भैमि उदार तकार लयो री।
सूरदास प्रभु तिहुपुता बिनु कोपि समर कर चाप लयो री॥[2]

(हे सखी कामदेव अब अग्नि के रूप मे प्रकट हुआ है और उसने जीवो की रक्षा करने के अपने स्वभाव को अब छोड़ दिया है। चन्दन और पवन भी अब अग्नि के समान लगते हैं और कस्तूरी का स्वाद भी सुखदायी नही है। चन्द्रमा सूर्य के समान दाहक हो गया है और विष्णु भगवान् भी क्रुद्ध हो गए हैं और उन्होने अपने दयानिधि विरद को त्याग दिया है और उसके स्थान पर 'गुननिधि' नाम धारण किया है। सूरदास कहते हैं कि अपनी प्रिया लक्ष्मी की अनुपस्थिति मे विष्णु ने कुपित होकर धनुष उठा लिया है)।

सहानुभूति के दर्शाने वाले सहचर के रूप म प्रकृति क्रियाशील है और मानव की चिर परिचित-सी मालूम पड़ती है। वह उसके सुख-दु ख तथा अन्य सभी मानवीय भावो विशेषकर पीड़ित हृदय के भावो म सहयोग देती हुई दिखाई देती है। निम्नलिखित पद म सूर चकोर भ्रमर, कोकिल आदि अनेक प्राकृतिक

---

१ सा स ह
२ वही

वनस्पतिजगत् के हैं तो पृथ्वी पर्वत सुमेरु हिमालय अग्नि आदि पृथ्वी के और मृग सिंह गज गौ वृषभ मर्कट, सर्प मयूर, काक खंजन भ्रमर, कोकिल कपोत चकोर, चातक हंस शुक मधुप मत्स्य शलभ आदि पशुजगत् के। इन प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग प्रस्तुत का वर्णन करने के लिए अप्रस्तुत के रूप में किया गया है।

शैली और वर्णन-कौशल

चामत्कारिक शैली और वर्णन-कौशल की दृष्टि से कूटपदों का विशिष्ट महत्त्व है। इस दृष्टि से ये पद कवि की प्रतिभा शब्दों के उपर्युक्त चयन शब्द समृद्धि और शैली की सरसता प्रमाणित करते हैं। रचना की विचित्रता की दृष्टि से इन पदों में सभी प्रकार के कूटों और शैली के विविध काव्य रूपों के उदाहरण मिल जाते हैं जो सूरदास के काव्य-कौशल और उत्कृष्ट मौलिकता के द्योतक हैं और उन्हें हिन्दी कवियों के नक्षत्रमंडल में प्रथम श्रेणी में स्थान देते हैं। इन पदों में पाठक को चमत्कृत करने वाली एक विचित्रता यह है कि रचना की सुन्दर अनुरूपता मुख्य रस के अनुकूल है जिससे यह सिद्ध होता है कि सूरदास ने शब्द और अर्थ की एकरूपता के सिद्धान्त की सम्यक् रक्षा की है। कुछ कूटपदों में अवश्य ही स्पष्टता और कोमलता का अभाव है और इसीलिए उनमें माधुर्य की भी कमी है। तथापि यदि पाठक एक बार उनकी रचना की बाह्य जटिलता को बेधकर उनके अन्तराल में प्रवेश कर पाता है तो वह अत्यन्त मधुर और सजीव भावों और विचारों का उसी प्रकार आस्वादन कर सकता है जिस प्रकार कोई नारियल फल का आस्वादन करता है। उनके चामत्कारिक वर्णनों में प्रचुर सौन्दर्य है।

काव्य के उपादान—अलंकार

सूर ने अपने काव्य में अनेक उपादानों और उक्ति-कौशल का प्रयोग किया है जिनमें अलंकारों का विशेष महत्त्व है। इन अलंकारों का प्रयोग दो रूपों में हुआ है —१ सौन्दर्यानुभूति की वृद्धि के लिए और २ रचना में कूटता लाने के लिए। सौंदर्य-भाव की वृद्धि के लिए सूर ने प्रायः अर्थालंकारों का प्रयोग किया है और उनमें भी अधिकतर सादृश्यमूलक—उपमा उत्प्रेक्षा रूपक अति शयोक्ति आदि का। विरोध पर आश्रित अलंकारों में विभावना और वक्रोक्ति प्रमुख हैं और स्मृति पर आश्रित अलंकारों में स्मरण और संदेह। मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की प्रचुरता के कारण स्वभावोक्ति का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। कूटता

लाने के लिए यमक श्लेष रूपक रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास और अप्रस्तुत-प्रशंसा का अधिक प्रयोग हुआ है। कुछ स्थलों पर अन्योक्ति और समासोक्ति का भी उपयोग किया गया है। सूरदास को उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक अधिक प्रिय हैं। राधा और कृष्ण के रूप सौंदर्य के वर्णन में इनके उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। यहाँ कूटता उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त अलंकारों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जायेंगे।

सूर ने कूटों का प्रयोग तीन प्रयोजनों से किया है—(१) अर्थ को स्पष्टता और सरलता से व्यक्त करते हुए चमत्कार के तत्त्व का समावेश करने के लिए (२) रहस्यमय रीति से सौन्दर्यवर्णन की शैली के लिए और (३) संयोग तथा वियोग में व्यथापूर्ण दशाओं की तीव्रता को उद्दीप्त करने के लिए। जहाँ कवि को किसी विशिष्ट अर्थ की व्यंजना अभिप्रेत है और साथ ही वह कुतूहल भी उत्पन्न करना चाहता है तो यमक का प्रयोग करता है। राधा कृष्ण के रूप के रहस्यमय सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए ऐसी कूटशैली का प्रयोग किया गया है। यथा —

सारँग सम कर नीक नीक सम सारँग सरस बखानै।
सारँग बस भय भय बस सारँग सारँग विसमै मानै॥
सारँग हेरत चर सारँग तै सारँग सुत छिन आवै।
कुन्तीसुतसुभाव चित समुझत सारँग जाई मिलावै॥
यह अद्भुत कहिबे न जोग कछु देखत ही बनि आवै।
सूरदास सिख सखी समुझि करि पियहि पिये मिलावै॥[1]

(लोग उसके नेत्रों के सौन्दर्य की तुलना मृग के नेत्रों से करते हैं और मृग की तुलना उसके नेत्रों से। मृग तो भयातुर होकर संगीत को छोड़ देता है और नेत्र प्रेमवश होकर भय को छोड़ देते हैं। इस प्रकार इस अद्भुत साम्य को देखकर मृग चकित है। कृष्ण की खोज में आँखें कमल (हृदय) से चलकर कज्जल तक पहुँच गई हैं। सखी अपनी सखी के स्वभाव को जानती है अतः उसने उसे उसके प्रियतम से मिला दिया है। इस अद्भुत घटना का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता अपितु यह तो केवल देखने की वस्तु है। सूर कहता है "इसे मध्या-नायिका और अनन्वय अलंकार समझो")। साहित्यलहरी में यह पद अनन्वय अलंकार और मध्या-नायिका का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ 'सारँग' शब्द के विभिन्न अर्थों पर आश्रित यमक के द्वारा कूटत्व का विधान है।

सा ल ४

'सारंग' के विभिन्न अर्थ ये हैं (१) मृग (२) अनुराग (३) राग (४) कृष्ण (५) कमल (६) दीप (सारंगसुत—दीपक का पुत्र—कज्जल) और (७) समुद्र। सूरदास को यह शब्द बहुत प्रिय है क्योंकि उसने इसका प्रयोग अनेक पदों में किया है।[1] एक और उदाहरण लीजिए —

> संग सोहति वृषभानु दुलारी।
> सारँग नैन बैनवर सारँग सारँग बदन कहै छवि छोरी॥
> सारँग अधर सुधर कर सारँग सारँग जानि सारँगमति भोरी।
> सारँग बसन पीठि पर सारँग सारँग पति सारँग कहि थोरी॥
> सारँग पुलिन रजनि रुचि सारँग सारँग संग सुभग भुजजोरी।
> विहरति सघन कुंज सखि निरखति सूर स्याम घन दामिनि जोरी॥[2]

(वृषभानुसुता राधा कृष्ण के साथ शोभित है। उसकी आँखें मृग की सी हैं वाणी कोकिल की सी और मुख की शोभा चन्द्र जैसी है। उसके अधर और कर कमल से स्पर्धा करते हैं। चन्द्र (मुख) के पीछे पीठ पर एक सर्पिणी (कबरी) विराजमान है। उसकी गति गज की सी है और कटि सिंह की सी है। यमुना के तट पर चन्द्रज्योत्स्ना से उज्ज्वल रात्रि में यह युगल मूर्ति शोभित है। सूर कहता है कि सघन कुंजों के मध्य राधा और कृष्ण इस प्रकार विहार कर रहे हैं जैसे आकाश में बादल के साथ बिजली)। यहाँ भी 'सारंग' के नौ अर्थ हैं (१) मृग (२) कोकिल (३) चन्द्र (४) कमल (५) सर्प (६) गज (७) सिंह (८) यमुना और (९) रात्रि। इस पद के साथ विद्यापति की इन पंक्तियों की तुलना की जा सकती है —

> सारँग नयन बयन पुनि सारँग सारँग तसु समधाने।
> सारँग ऊपर उगल दस सारँग सारँग केलि करथि मधुपाने॥

(उसके नेत्र कमल जैसे वाणी कोकिल की सी और कटाक्ष बाण जैसे हैं। सारंग (करकमल) पर सारंग (चन्द्रोपमनख) विद्यमान हैं। वह मधुपान के आनन्द में लीन है)।

चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो में भी सारंग शब्द का ऐसा ही प्रयोग हुआ है—'सारंग रवि सारँग हने सारँग करनि करष्पि। (सुन्दरी ने अपने कटाक्ष बाण कान तक खींचकर मारे)।

---

1. साहित्यलहरी के पद सं० २ [illegible] और ३३ तथा सूरसागर के पद सं० १ [illegible] ४ [illegible] ५ ११ ३४ ३४ [illegible] १ ६१ १११ १०८ १५ और १५२ देखिए।
2. सू० सा० पद २

मुरलि-वर्णन के प्रसंग में भी सूर ने यमक का प्रयोग किया है जैसे पूर्वोद्धृत 'देखे चारि कमल इक साथ' पद में। कृष्ण-विरह में व्याकुल राधा के भावों के वर्णन में भी सूर ने यमक का प्रयोग किया है। यथा—

> सारँग सारँग धरहि मिलावहु।
> सारँग बिनय करति सारँग सौं सारँग दुख बिसरावहु॥
> सारँग समै दहति अति सारँग सारँग तिनहिं दिखावहु।
> सारँगपति सारँग धर जैहै सारँग जाइ मिलावहु॥
> सारँग चरन सुभग कर सारँग सारँग नाम बुलावहु।
> सूरदास सारँग उपकारिनि सारँग मरत जियावहु॥

(राधा अपनी सखी से कहती है—हे सुन्दर हृदयवाली सखी मुझे कृष्ण से मिलाओ। मैं तुम्हारी विनय करती हूँ और तुम्हें विष्णु की सौगंध दिलाती हूँ कि तुम अवश्य मेरी प्रेमव्यथा दूर करने में मेरी सहायता करोगी। मेरा हृदय रात्रि में बहुत तपता है। उसे कृष्ण को दिखलाओ। दीपक का प्रकाश अपने स्थान पर ही रहेगा अर्थात् तुम्हारा उपकार कदापि निष्फल न होगा। ऐसा करके जाओ और मेरे प्रिय कृष्ण को मनाओ। सूर कहता है कि राधा अपनी सखी से अनुनय करती है कि हे उपकारिणी सखी मैं मर रही हूँ मुझे पुनर्जीवित करो)। यहाँ सारंग शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं —(१) मुहृदय (सारँग अर्थात् मयूर, इसका पर्याय बर्हि है फिर बर्हि का अर्थ लिया 'बर्हिण' अर्थात् सुहृदय) (२) पर्वत (मन धारनेवाला का अर्थ हुआ गिरिधर अर्थात् कृष्ण) (३) बहुत (सारंग अर्थात् आकाश और इसका पर्याय है अनंत पुनः अनंत का अर्थ है बहुत)। (४) विष्णु (५) प्रेम-व्यथा (सारंग अर्थात् सूर्य जिसका पर्याय है तपन और तपन का एक अर्थ है व्यथा)। (६) रात्रि (७) कमल (हृदय) (८) कृष्ण (९) प्रकाश (सारँगपति—दीपक का स्वामी) (१०) दीपक (११) प्रेम (१२) सखी (१३) व्यथित (सारंग अर्थात् मृग और इसका पर्याय है कुरंग तथा कुरंग का अन्य अर्थ है बुरे रंग का अर्थात् व्यथित)।

श्लेषयुक्त सूर का एक उदाहरण यह है —

> कत को सुमन सौं लपटात।
> समुझि मधुकर बरनि काहि बोहि तोरी बात॥
> हैमजूरी है न कालिंब रहे दिन बरसात।
> पुगुलनी तेल जाइ करके केसरी की मात॥

---

१ ह० ला० पद ३

सेवती संतापदाता तुम सबै विन होत।
केतकी के अंग संगी रंग बरनत जोत॥
हौं भई इस हाइ समुझत विरह पीर पहार।
सूर के प्रभु करत मुद्रा कौन विविध विचार॥[1]

(नायिका नायक से कहती है— 'हे भ्रमर! मैं तुम्हारी यह बात नहीं समझ सकी। तुम इस सुमन से (मुझ से) क्यों लिपट रहे हो। मैं वह सोनजुही नहीं हूँ जिससे लिपटकर तुम रात्रि बिताओगे। अपने शरीर पर केसर का लेप करो। और कुमुदिनी (पुष्प अथवा बुरे कामों में मोद पाने वाली अर्थात् कामासक्त स्त्री) के पास जाओ। सेवती (पुष्प विशेष अथवा सेवारत स्त्री) तुम्हें सदा व्यथित करेगी। केतकी (पुष्प विशेष और विविध स्त्रियों) के संग से तुम्हारी कांति बदल गई है। हाय मैं विरह की व्यथा जानती हूँ अतः दुखमय हो गई हूँ।' सूर कहता है कि यह सुनकर कृष्ण ने विविध विचारधाराओं में अनेक मुद्राएँ धारण कीं)। यहाँ स्पष्ट नायिका नायक की भ्रमरी वृत्ति के लिए उसे फटकार रही है। तुम इस प्रफुल्ल कुसुम पर क्यों आ रहे हो। इस सुमन पर रहना तुम्हें रुचिकर नहीं होगा। पता नहीं तुम क्या करोगे? 'सुमन' मधुकर, हेमजुही सेवती केतकी आदि सभी शब्दों में श्लेष है। 'सुमन' का अर्थ पुष्प भी है और कोमलांगी राधा भी। मधुकर का अर्थ भ्रमर है जिसका प्रयोग यहाँ कृष्ण के लिए हुआ है जो प्रकृति से चंचल है। हेमजुही का अर्थ सोनजुही भी है और सभंग श्लेष की सहायता से सो=वह म नहीं जु=जो ही=हृदय ऐसा विग्रह करने पर यह भी अर्थ है कि मैं वह नहीं हूँ जो तुम्हारे हृदय में है। 'कुमुदिनी' के भी दो अर्थ हैं कुमोद पुष्प और बुरे कामों में मुदित होने वाली अर्थात् कामासक्त स्त्री। 'सेवती' के अर्थ हैं पुष्प-विशेष और सेवारत नायिका। 'केसरी' के अर्थ हैं केसर-लिप्त और सिंह। केतकी के अर्थ हैं पुष्प-विशेष और कितनी ही नायिकाएँ।

विरोधाभास पर आश्रित कूट का उदाहरण यह है —

चकोरहिं भावत है रजनीस।
कमल पठावत अलि कुमुद कौं अरुनचिया यह देस॥
गिरि मथवा संजोग देखियत सुख दुखद इक संग।
कर्म बिन वृन्दावन कोकिल सुख पावहिं सब अंग।

---

१ सा० ल० ७१

कनकलता बाँधति केहरि कौं रत तरवर तकुवार ॥
हाकत सूर असन के मतर गुन रस बिष बरसाइ।

(चन्द्रमा चकोर को त्रास दे रहा है और कमल भ्रमर भूप को उड़ा रहा है। ब्रज की भूमि ऐसी विचित्र है। यहाँ इन्द्र पर्वतों के साथ देखा जा सकता है और मृग सुमन के साथ। इस वृन्दावन में शुक और कोकिल का एक युग्म है और एक सञ्जानत स्वर्णलता एक सिंह को बाँधने का प्रयत्न कर रही है। सूर कहता है कि प्रेमिका अपना प्रेम प्रवाहित कर रही है और प्रेमी को अपने वशों से बन्द रही है। यह उलटवाँसी जैसा कूट है जिसमें राधा और कृष्ण के संयोग का वर्णन है)। यहाँ 'चकोरी' का अर्थ है राधा के नेत्र और 'राकेश' का अर्थ है कृष्ण का चन्द्र-मुख। इसी प्रकार 'कमल' का अर्थ है कृष्ण के हाथ और 'अभिभूप' का अर्थ है राधा के केश जिन्हें कृष्ण अपने हाथों से सहला रहे हैं। 'गिरि' का अर्थ है राधा के कुच और 'मदना' का अर्थ है कृष्ण के हाथ। 'भूप' राधा का शरीर है और सुमन कृष्ण हैं। 'कोकिल' राधा की कोमल मधयष्टि है और 'केहरी' कृष्ण की।

सौन्दर्य के निरीक्षण में जहाँ कवि की कल्पना भावोद्रेक से आगे बढ़ जाती है वहाँ वह प्रायः रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग करता है। उसमें जटिल तथा क्लिष्ट शब्दावली का विधान करता है। इस अलंकार का सूर ने प्रचुर प्रयोग किया है। इसका प्रयोग प्रायः विभिन्न परिस्थितियों में राधा के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में हुआ है। जब कृष्ण-प्रेम में मस्त होकर राधा उनसे मिलने के लिए भटकती है तो उसकी सखियाँ कृष्ण के पास पहुँचती हैं और राधा के रूप-सौन्दर्य का वर्णन कूटपदों में करती हैं।[2] इसी प्रकार जब राधा की माता अचानक उसके शरीर पर प्रणय के चिह्न देख लेती है तो वह राधा को अपने अंग गोपित रखने के लिए समझाती है। इस स्थिति का वर्णन सूर ने अनेक पदों में रूपकातिशयोक्ति द्वारा किया है।[3] पूर्वोद्धृत पद 'अद्भुत एक अनूपम बाग' रूपकातिशयोक्ति का बहुत उत्तम उदाहरण है जिसमें प्रसिद्ध उपमानों द्वारा राधा के अंगों का वर्णन किया गया है।[4] इस पद की तुलना चंदबरदाई के पूर्वोद्धृत छप्पय से की जा सकती है 'कुंजर उप्पर सिंह सिंह उप्पर दोय पब्बय आदि।'[5]

---

१ सू० सा० पद १९
२ सू० सा० पद ४
३ सू० सा० पद ११
४ पृष्ठ १५१
५ पृष्ठ ८०

विद्यापति की इन पंक्तियों से भी इसकी तुलना की जा सकती है —

कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई॥

"स्वर्णकदलि (जंघा) पर सिंह (कटि) है और सिंह पर मेरु (कुच) है। मेरु पर नालरहित दो कमल (नेत्र) खिले हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग द्वारा वर्णन में सूर अपने पूर्ववर्ती सभी कवियों से श्रेष्ठ हैं। उन्होंने संपूर्ण अंगों का वर्णन अनेक पदों में किया है किन्तु प्रत्येक पद में नया चमत्कार है। यहाँ एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है —

राधे मैं छवि उलटि भई।
सारस ऊपर सुभर कदली तापर सिंह ठई॥
ता ऊपर द्वै हाटक बरनी मोहन कुंभ मई।
तापर कमल कमल बिच विद्रुम तापर कीर लई॥
ता ऊपर द्वै मीन बसत हैं सकरसि साथ रही।
सूरदास प्रभु देखि अचंभो कहत न परति कही॥[1]

(हे राधा तुम्हारा यह रूप सर्वथा विपरीत है। सारस (चरणकमल) पर सुंदर कदली तरु (जंघाएँ) हैं और कदली पर सिंह (कटि) विराजमान है। सिंह के ऊपर सुंदर स्वर्णकलश (कुच) हैं और उनके ऊपर कमल (मुख) है। कमल में विद्रुम (अधर) हैं और विद्रुम के ऊपर शुक (नासा) विद्यमान है। शुक के ऊपर दो चपल मत्स्य (नेत्र) हैं जिनका स्मरणमात्र हमारी सब कामनाओं की पूर्ति कर देता है। सूर कहता है कि इस आश्चर्य का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता)।

निम्न दृष्टपद विरह की व्यथापूर्ण परिस्थिति का चित्रण करने के लिए रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग का सुन्दर उदाहरण है —

हरि कित भए ब्रज के चोर।
तुम्हरे मधुप वियोग राधे पवन के झकझोर॥
इक कमल पर धरे मधरिपु इक कमल पर ससिरिपु और।
है कमल इक कमल ऊपर लगी इकटक कोर॥
इक सखी मिलि हरति पूछति खैंचि करकी कोर।
तजि मुसाहनु भजत नाहीं निरखि उनकी ओर॥

---

[1] सू. सा. पद ८

बिरह रागिनि गुरुन करि-करि नैन बहु जल तीर।
तीन त्रिबली मनहुँ सरिता मिली सागर बीर॥
षटकंज अबरनि जात भ्रमर मन्मथरिपु की ओर।
सूर अबलनि भरति क्यावो मिलौ नंद किसोर॥[1]

(उद्धव कृष्ण से कहते हैं — हे कृष्ण ! तुम ब्रज के ओर क्यों न गये ? हे भ्रमर ! तुम्हारे वियोग में राधा काम-पाश में पड़ गयी है। उसका एक हाथ कमर पर रखा है और दूसरा कमरी पर। अपने कमल-मुख पर स्थित दो कमलनयनों से वह अपलक ताक रही है और इस प्रकार प्रभात होने तक सारी रात जागती रहती है। जब कोई सखी मुस्कराकर उसका हाथ पकड़कर खींचती है और पूछती है 'तुम अपनी यह चिन्तित दशा छोड़कर अन्य कामों—भोजन, पान आदि—में क्यों नहीं प्रवृत्त होती हो' तो तुम्हारे साथ किए हुए आनन्दप्रद कृत्यों का स्मरण करके वह नेत्रों से अश्रु प्रवाह करती है। तब तीन धाराओं में एक नदी बह चलती है—दो धाराएँ उरोजों पर और एक उन दोनों के बीच में से सीधी समुद्र (नाभि) पर्यंत तक चली जाती हैं। उसके उरोज अत्यन्त उत्तेजित हो उठते हैं और उसका श्वास कण्ठ तक आ जाता है। हे नन्दनन्द ! शीघ्र उस अबला-गोपिका से मिलो और उस मरती हुई को बचाओ)। यहाँ 'एक कमल' का अर्थ है एक हाथ 'कमरिपु' अर्थात् सिंह का अर्थ है कटि। पुनः 'एक कमल' का अर्थ है दूसरा हाथ और ससिरिपु का अर्थ है राहु जो काले और घुँघराले बालों का प्रतीक है। 'दो कमल' का अर्थ है दो नेत्र और 'एक कमल' का अर्थ है मुख। 'गुणाम्बु' का अर्थ है गुणवि अर्थात् स्तुति 'भाषत' का अर्थ है कहना अथवा बोलना और 'विरस' का अर्थ है आनन्दपूर्ण। 'त्रिबली' का अर्थ है अश्रुओं की तीन धाराएँ और सागर का अर्थ है नाभि। 'षटकंज' का अर्थ है छः कमलों अथवा मुखों वाला अर्थात् कार्तिकेय जिसका दूसरा नाम है शक्तिधर। 'शक्तिधर' का अर्थ प्राणवायु भी है। 'मन्मथरिपु' का अर्थ है उत्तेजक। (मन्मथ—मिथन (मिथना) अर्थात् भोग और उसका शत्रु)।

पूर्वोल्लिखित पद 'सोवति राधा लिखति मदन सौं' आदि में राधा को अपने नख से भूमि पर कृष्ण का चित्र बनाती हुई बताया गया है और यहाँ कवि ने रूपकातिशयोक्ति के द्वारा कूटशैली में राधा के रूप का वर्णन किया

---

१ सू. सा. पद १२
२ स. सा० पद ७२

है। निम्नोद्धृत पद में राधा के अलंकरण का वर्णन रूपक और उत्प्रेक्षा की सहायता से अत्यंत मधुर रूप में किया गया है।

रही ह्वै घूघट पट की ओट।
मनौं कियौ फिरि मान मवासौ मनमथ बिकट कोट।
नहुसुतकील कपाट सुलच्छन दै दृगद्वार अगोट।
भीतर भाग कृष्ण भूपति को राखि अधर मधु मोट॥
अंजन आड़ तिलक आभूषन सचि आयुध बड़छोट।
भृकुटी सूर गही कर सारंग निपट कटाच्छनि चोट॥[1]

(हे राधा! तुमने अपना मुख घूँघट में छिपा रखा है मानो कामदेव ने शरण लेने के लिए तुम्हारे क्रोध के रूप में एक विकट दुर्ग बनाया हो। अपने नखाग्रों से तुम अपना उत्तरीय पकड़े हो मानो वह इस दुर्ग का विशाल स्तंभ हो। तुम्हारे नेत्र के सुलक्षण ही उस दुर्ग के द्वार के कपाट हैं और नेत्र-द्वार ही दुर्ग का आंतरिक भाग है। उसके भीतर अमृत कलश छिपा है जो कृष्ण का भाग है। अंजन मस्तक पर तिलक आदि उसके छोटे-बड़े अस्त्र हैं। सूर कहता है कि सखी ने राधा से कहा तुम्हारी भृकुटि ही उसका धनुष है और कटाक्ष बाण हैं।

निम्न पद भ्रांतिमान पर आश्रित कूट का उदाहरण है —

राधे जलसुत कर जु धरे।
अति ही अरुन अधिक छबि उपजत तजत हंस समरे।
चुगत चकोर चलै ह्वै सम्मुख मिलकनत ह्वै बरे॥
तब बिहुसी वृषभानु नंदिनी दोऊ मिलि भ्रमरे॥[2]

(जब राधा ने मोती हाथ में लिया तो वह उसकी हथेली की कांति से चमक उठा। उसके लाल रंग से भ्रम में पड़कर हंसों ने उसे नहीं चुगा। चकोर भी पहले तो उसे अग्नि-खंड समझ कर चुगने चला पर झिझक कर अटक गया। यह देख राधा मुस्करायी)।

अन्य उपादान

अलंकारों के अतिरिक्त सूर ने कूट-विधान के अन्य उपादानों का भी उप योग किया है। उनमें से एक 'शब्द की माला' का प्रयोग है जो एक ही शब्द

[1] सू सा पद १२६
[2] सू सा०

उदधिसुतापति ताकर वाहन तिहि कर्से समुझावे।
सूर स्याम मिलि करमसुतरिपु ता अौतारहि सलिम बहावे ।।[1]

(सखी राधा से कहती है—हे राधा ! रोने से तुम क्लान्त हो गई हो। क्रोध के कारण तुम्हारे मुखचन्द्र की कान्ति क्षीण हो गई है। अन्नजल ग्रहण करने में तुम्हारी रुचि नहीं है और समीर तुम्हारे शरीर को अग्नि के समान दग्ध कर रहा है। मैं तुम्हें किस प्रकार विनय करके समझाऊँ। तुम्हें कृष्ण से अवश्य मिलना चाहिए क्योंकि वह तुम्हारे दुर्व्यवहार के कारण रो रहा है)। भाव यह है कि राधा को मान छोड़कर कृष्ण से मिलना चाहिए। यहाँ 'कम सुत' आयुध' का अर्थ है रोग। (कमसुत = कमल उसका प्रीतम = सूर्य उसका सुत = कर्ण उसका रिपु = अर्जुन उसका बन्धु = भीम उसका आयुध = गदा और शब्दसाम्य से उसका अर्थ हुआ गद अर्थात् = रोग)। मेरसुतापति बसत सु माथे का अर्थ है चन्द्र। (मेरुसुता = पार्वती उसका पति = शिव उनके मस्तक पर बसने वाला = चन्द्रमा)। 'मारुतसुतपति' 'वाहन' का अर्थ है घन। (मारुतसुत = हनुमान उसका स्वामी = राम उसका अरि = रावण उसके नगर में रहने वाला = अगस्त्य उसका पिता = कुम्भ उसे वाहन बनाने वाला अर्थात् घन)। 'हरसुत' 'सनेही' का अर्थ है वायु। (हरसुत = कार्तिकेय उसका वाहन = मयूर, उसका आहार = सर्प उसका मित्र = वायु)। 'उदधिसुतापति ताकर वाहन' का अर्थ है विनय। (उदधिसुता = लक्ष्मी उसका पति = विष्णु, उसका वाहन = गरुड़ अर्थात् वैनतेय और उससे अर्थ ग्रहण किया विनती)। 'धर्म सुवन रिपु ता औतारहि' का अर्थ है दुस्वभाव अथवा दुर्व्यवहार। (धर्म सुवन = युधिष्ठिर, उसका शत्रु = दुर्योधन उसका अवतार = दुर्धीमता अर्थात् दुस्वभाव।

निसि दिन पथ जोहति जाइ।
दधिको सुत सुत तास वाहन विवस ह्वै अकुलाइ।
कमलहस्तसुतबांधव तासु पतनी भाइ।
कब हम कर देखिवी षू सबै सुख बिसराइ ।।
भक्षासन की हान हमको अधिक सखि सुख ल्याइ।
सूर प्रभु बिनरैन बिरहिन कब दिखैहै पाइ ।।[2]

(राधा सखी से कहती है—"मेरे दिन-रात कृष्ण की प्रतीक्षा में बीतते हैं और

---

१ सू० सा० पद १
२ मो० म० ११

मेरी आत्मा अति व्यथित है। मैं अपने सम्पूर्ण दुर्दिन को कब भूलूँगी और कब आँखें भरकर कृष्ण को देखूँगी ? मुझे उसका पत्र भी नहीं मिलता। मैं उसके मुख को देखना चाहती हूँ जो चन्द्र से भी अधिक सुन्दर है। राधा कहती है विरह-व्याकुला मैं कब उसके चरण-कमलों को देख पाऊँगी) ? यहाँ 'रवि कौ सुत वाहन' का अर्थ है आत्मा। (रवि कौ सुत अर्थात्—कमल उसका सुत—ब्रह्मा उसका वाहन—हंस और उसका पर्याय है—आत्मा)। 'मघ वाहन भाई' का अर्थ है कृष्ण। (मघवाहन—पवन उसका पुत्र—भीम उसका भाई—अर्जुन उसकी पत्नी—सुभद्रा उसका भाई—कृष्ण)। 'पत्रामख' का अर्थ है पत्ते (पत्र) जिसका अर्थ चिट्ठी भी है।

सोवति ही मैं सजनी आज।
तब लखि सुपन एक यह देख्यौ अद्भुत अचम्भौ साज।
शिवभूषनरिपुअग्रजसुतबैरीपितअरि बैरि समाज।
आइ गई यह गुलगुल बैठी हुलसि बढ़ायौ काज।
हौं चाह्यौ ताकौं तब भीजन रसबस रिझवौ काज।
जागि उठी सुनि सूर स्याम संग का उत्पात अकाज॥

(राधा सखी से कहती है—हे सखी आज सोते समय मैंने एक स्वप्न देखा जिसका वर्णन करते हुए मुझे आश्चर्य हो रहा है। कृष्ण के पास एक सखी आई और मुस्कराकर उसके पास बैठ गयी और उसका प्रेम उद्दीप्त करने लगी। मैंने भी उससे प्रेम करने तथा कृष्ण को मोहित करने का उपाय सोचना चाहा। पर इसी बीच मैं जाग गयी और मेरी कामना अपूर्ण रह गयी। कृष्ण की संगति से मुझे कितना आनन्द मिला उसका मैं कैसे वर्णन करूँ)। यहाँ 'शिवभूषण सुभाई' का अर्थ है सखी। (शिवभूषण—चन्द्र उसका रिपु—राहु उसका अग्र—सूर्य उसका पुत्र—कर्ण उसका रिपु—अर्जुन उसका पिता—इन्द्र उसका रिपु—बलि राजा उसका स्वभाव—दानी। दानी व्यक्ति को फारसी में कहते हैं सखी और शब्द-साम्य से उसी का हिन्दी में सखी अर्थ में यहाँ प्रयोग है)। 'गुलगुल' का अर्थ है कृष्ण (नवलबल)।

निम्न पद एक विशेष प्रकार के कूट का उदाहरण है जिसमें एक शब्द का अर्थ उस अर्थ के वाचक दूसरे शब्द के साम्य के आधार पर लगाना पड़ता है—

कहे री मन बसन बिहारी।
गजभूषण बलि आऊँ निहारि सुन तन जीवन धन बलिहारी॥

---

१ सा० ल० १

ग्रह नक्षत्र है बेद जासु घर ताहि कहा सारंग सम्हारौ ।
गिरजापति भूषन जिन देखे ते कहा देखत हैं नभतारौ ।।
सुन्दर सकल सुभाउ छाँडि कै चाहत है तुम धूम मकारौ ।
सूर रही नीके निसि बासर तुम सुनि सुखी न होंहो दुखारौ ।।[1]

(राधा कृष्ण से कहती है तुम मेरे घर क्यों आये हो ? मैं तुम पर बलिहारी जाती हूँ । तुम ब्रज के प्राण और जगत् के प्रकाश हो । जिसके घर में मणि हो क्या उसे दीपक जलाने की आवश्यकता है ? जिसने चन्द्रमा को देखा है वह क्या तारों की ओर ताकेगा ? अपने घर में कल्पतरु होने पर सामान्य वृक्ष कौन चाहेगा ? मैं यह जानकर प्रसन्न हूँ कि तुम अब स्वस्थ हो । मुझे इसका कोई दुःख नहीं है कि तुम मुझसे दूर हो) । राधा को विदित हो गया है कि कृष्ण अन्य नायिका से संभोग करके आये हैं । अतः वह ईर्ष्यावश कृष्ण से ये उपालम्भपूर्ण शब्द कह रही है । यहाँ 'ग्रह नक्षत्र' 'बेद' का अर्थ है मणि । (ग्रह = ८, नक्षत्र = २७ बेद = ४ सब मिलाकर हुए ४ और चालीस सेर का होता है एक मन । पुनः शब्द-साम्य से यहाँ मणि का ग्रहण किया गया है) । अतः अर्थ हुआ जिसके घर मे मणि है वह दीपक नहीं जलाता । 'सारंग' का अर्थ यहाँ दीपक है । 'गिरजापति भूषण' का अर्थ है चन्द्रमा (पार्वती के पति शिव का आभूषण) । 'गिरजापति' शब्द से प्रारम्भ होने वाली पंक्ति का अर्थ है आकाश मे चन्द्र को देखकर तारो को कौन देखेगा ? इस प्रकार के कूट का एक अन्य उदाहरण देखिए —

सखी री सुन परदेसी की बात ।
अरध बीच दै गए धाम को हरि अहार चलि जात ।।
ससिरिपु बरष भानरिपु जुगसम हरिरिपु की सब घात ।
ग्रहनक्षत्र अरु बेद अरधकरि को बरजै मुहि खात ।।
रवि पंचक लै गए स्याम घन ताते मन अकुलात ।
नहु महुरत करि मिले सूर प्रभु प्रान रहत न सु जात ।।[2]

(हे सखी ! परदेसी की बात सुनो । उसने केवल एक पक्ष की अवधि दी थी पर अब एक मास से अधिक व्यतीत हो गया है । मुझे विष देने से कौन मना करेगा । मेरी आत्मा कृष्ण के साथ चली गयी है अतः मेरा मन व्यथित है । राधा सखी से कहती है कि हे सखी मैं तुमसे सत्य कहती हूँ कि मैं अभी जीवित

---

१ सा० ल० १
२. सा० ल० ११

रह सकती हूँ जब मुझे यह निश्चित रूप से पता चल जाए कि कृष्ण मुझसे मिलने कब आएगा)। यहाँ 'हरि अहार' (सिंह का भोजन) का अर्थ है मांस जिसके साम्य के आधार पर 'मास' अर्थ ग्रहण किया गया है। 'ग्रहनक्षत्र बेद' का अर्थ है चालीस और उसका आधा हुआ बीस बीस का उच्चारण विष से मिलता हुआ है अत 'ग्रह नखत' का अर्थ हुआ विष। 'रवि पंचक' का अर्थ है सूर्य से पाँचवाँ दिन अर्थात् बृहस्पति जिसका पर्याय है जीव और उसका एक अर्थ है प्राण।

कहीं-कहीं कूटत्व का विधान शब्द के एक अर्थ के द्वारा भी किया गया है। यथा —

> बैठी जानु कुसुम ओर।
> लखति है कुलबालु नलिनि बलित नंदकिशोर॥
> भानुसुतहितसुमित लागत बढ़त दुख घोर।
> ह्वै गए सुर सूल सूरज विरह अंकुस कोर॥

(राधा की एक सखी दूसरी से कहती है—"आज राधा कुंजों की ओर देख रही है और बलिहारी होकर कृष्ण की ओर ताक रही है। शीतल समीर उसे व्यथित कर रहा है और पुष्प उसके लिए काँटे बन गए हैं। सूर कहता है कि विरह के कारण राधा कृष्ण की निन्दा कर रही है)। राधा कुंज में बैठी आतुरता से कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही है और कवि ने उसकी मनोदशा का वर्णन सखी के मुख से कराया है। 'भानुसुत हित आदि' का अर्थ है वायु। (भानुसुत = कर्ण उसका रिपु—दुर्योधन उसका शत्रु = भीम उसका पिता = वायु)। देवता वाची 'सुर' शब्द का पर्याय है सुमन जिसका अर्थ पुष्प भी है अत पुष्प के अर्थ में 'सुर' का प्रयोग यहाँ किया गया है।

कुछ कूटपदों में सूर ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनके आदि मध्य और अन्त्य अक्षरों से एक नया शब्द बन जाता है। यथा —

> कुमुद पैयकाल लिखि इनके आदि बरन चित धारों।
> तब भामिनि मन आवे वाली मद्ध बरन बिसरावै॥
> मदन हुतासन केर सहेली तुम्हूँ मद्ध निकासी।
> हिय के प्रथम तत्व संग ते आके कुटुंब प्रकासी॥
> हम तो बैठी स्याम कुल सुन्दर ओरन्हार न कोई।
> जो तन तजी परस्पर सूरज तन सुखदायक होई॥

१

सा म १

(गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—कृष्ण का मन अब कुब्जा पर आसक्त हो गया है अत उसने गोपबालाओं को विस्मृत कर दिया है। हम यह योग का उपदेश न दो। यह उपदेश काशी में जाकर दो। हम तो कृष्ण के गुणों से बँधी हैं और हम में से कोई भी उन्हें छोड़ने को प्रस्तुत नहीं है। ब्रज में ऐसा कोई नहीं है जो आनन्द कन्द कृष्ण को छोड़ने को प्रस्तुत हो)। यहाँ 'भूसुत' 'बरन' का अर्थ है कुब्जा और उसकी व्याख्या इस प्रकार है—भूसुत = पृथ्वी का पुत्र मंगल अर्थात् कुज मेघकाल = वर्षा ऋतु, निशि = यामिनी। अब कुज वर्षा और यामिनी इन तीनों शब्दों के आदि अक्षरों कु ब और जा के मेल से बना 'कुब्जा'। इसी प्रकार 'हर भामिनी बरन' का अर्थ है 'गोपिन' (गोपियों को)। व्याख्या इस प्रकार होगी—हर = शार्गीन वृक्ष भामिनी = कोपिनी (कोपयुक्त स्त्री) बन = कानन। शार्गीन कोपिनी और कानन इन तीनों के मध्य अक्षरों गो पि और न के मेल से बना गोपिन जो गोपी शब्द के कर्म कारक का बहुवचन है। 'मदन निवासी' का अर्थ है योग। (मदन—मनोज हुतासन = अग्नि और इन दोनों शब्दों के मध्य अक्षर जो और ग के मेल से बना 'जोग' अर्थात् योग। 'हिम न' उर्द का अर्थ है काशी। (हिम के उपल = करका तमाई—सरसी इन दोनों के अन्त्याक्षरों का और सी के मेल से बना कासी—काशी)।

इसी प्रकार 'बायस मजा सबद की मिलवन कीन्हीं काम अनूप' में 'बायस' शब्द का अर्थ है 'काँव काँव' और 'मजा' शब्द का अर्थ है 'मैं मैं'। इनके आद्याक्षरों के मेल से बना 'कामें' जिसका अर्थ है कामदेव ने। अत सम्पूर्ण पंक्ति का अर्थ हुआ कामदेव ने अद्भुत कार्य किया है।

कूट के एक भेद में शब्दों का प्रयोग सख्यासूचक होता है। यथा —

मुनि मुनि रसन के रस लेख।

दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल सवत पेख॥

यहाँ 'मुनि' 'मुनि' 'रसन के रस' और दसन गौरीनद को का अर्थ है क्रमश ७ ६ और १। अत अर्थ हुआ सवत १६०७ विक्रमी।

सूरदास ने प्रहेलिका कोटि के कूटों की भी रचना की है। यथा —

इन्द्र उपवन इन्द्र अरि हनुमंत इन्द्र सहाइ।

सुमन पुर धु चाप कीन्हें होत आदि मिलाइ॥

अमय रास समेत दिनमनि करत ए कोइ।

सरदास अनाथ के हैं सदा रच्छक सोई॥[२]

---

१ सा० ल० ९ ६

२ सा० ल० ११७

सम्पूर्ण पद का केवल इतना अर्थ है (नंदनंदन कृष्ण और वृषभानु सुता राधा सदा इस अनाथ सूरदास की रक्षा करें)। प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ है कृष्ण और तीसरी का अर्थ है राधा। व्याख्या इस प्रकार होगी इन्द्र उपमा— मदनवन इन्द्रअरि—इन्द्र के शत्रु अर्थात् मनुज अनुजेन्द्र इष्ट— अर्थात् राघवों के इष्ट देव शिव उसका सहार—सखी पुष्प एक—१ 'सुधास कीजे होत' (पाप करने से जो मिले) अर्थात् नरक। फिर नवल अनुज बंधी वह और नरक के आद्यअक्षरों के मेल से बना नंदनंदन। 'प्रथम रास' का अर्थ है दूसरी राशि अर्थात् वृष और 'दिन मनि' का अर्थ है 'भानु'। इन दोनों के योग से बना वृषभानु। उसकी कन्या है राधा। अत अर्थ केवल यह है कि 'राधाकृष्ण रक्षा करें।

इस कोटि के कूट का एक और उदाहरण देखिए —

राधे रास सुरत रस राती।
नंदनंदन सौम कल भवन में अलमगोद मदमाती॥
कारन अंत अंत ते बढ़कर आदि मध्य ते काढ़ै।
मद्धकरै न नास कियो है भीतर में मत बाढ़ै॥
गिरधापशिखरतमीपति का सुत गुनगुन अमल उतारै।
तनसुत कनके धन विचारि के तुरत भूमि पै डारै॥
तार न और निहारति फिरि फिरि फिर चित चतुर न चावै।
सूर स्याम कोविद सबुधन कर विपरीत बनावै॥

(राधा की एक सखी दूसरी से कहती है—"राधा अब भी रास की सुरति से प्रभावित है और नन्दनन्दन के साथ कुंजभवन में उसने जो रति का आनन्द प्राप्त किया था उससे मदमस्त है। उसने अपनी आँखों से कज्जल उतार दिया है और वह मोतियों के शीतल स्पर्श का अनुभव कर रही है। उसने अब मौक्तिक माल उतार दी है और प्रस्वेद बिन्दुओं के समान उसे भूमि पर फेंक दिया है। वह बारम्बार दीपक को देख रही है क्योंकि वह अब भी मन्द नहीं हुआ है। अत- उसका मन अब भी शान्त नहीं है। सखी कहती है कि इस प्रकार-सौम्य नायिका के अलंकरणों को कृष्ण अब उतार रहा है")। यहाँ 'कारन अन्त से' आरम्भ करके 'नास कियो है' तक के वाक्यांश का अर्थ है काजल। व्याख्या इस प्रकार है— 'राधा अपनी आँखों से उस वस्तु को उतार रही है जिसके नाम के अंत्याक्षर का लोप होने पर कारणान्त (काज) का बोध होता है, आदि अक्षर का लोप

---

१ सा० ल० ५

होने पर 'जस' रह जाता है और मध्याक्षर के लोप होने से सर्वनाशक 'कास' रह जाता है। 'कायस' के मध्याक्षर के लोप से 'काय' अवशिष्ट रहता है आद्यक्षर के लोप से 'यस' और मध्याक्षर के लोप से 'कास'।

इसी प्रकार पाँचवी पंक्ति में 'गिरिजासुत' का अर्थ है मोती। गिरिजा पति—शिव उसकी प्रेयसी—गंगा उसका पति—समुद्र उसकी पुत्री (का)—सीप उसका पुत्र मोती। मोती का गुण है शीतलता। 'घनसुत' का अर्थ है प्रस्वेद। 'घन' का अर्थ है कन्या (स्त्री) और सारंग का दीपक।

प्रहेलिका शैली के कूट का एक और उदाहरण यह है —

> भई है कहा प्रथम सी बाल।
> तृतिय सुर मिलि सुता तृतिहित चहत तोहि गुपाल॥
> चौथ सिगार पंच करि कटि षष्ठ करी सप्तमी बाल।
> सप्तम ताल अष्ट सी मारत फिरत नाथ बेहाल॥
> नवमी छाँडि अवर नहि ताकत दस बिन राखे लाल।
> एकादस लै मिलौ वेग हूँ बारहु नवल रसाल॥
> द्वादस सौं लचक पिय प्यारी सुबस साँवरी लाल।
> सूर स्याम रतनावलि पहिरै ही मंडित हित हाल॥[1]

(सखी मानवती राधा से कहती है—"तुम प्रथम राशि मेष की भाँति (अर्थात् खूँटी जैसी निश्चल) कैसे बन गयी हो। हे वृषभानु सुता तुम्हें कृष्ण तृतीयराशि मिथुन अर्थात् रतिसमागम के लिए चाहते हैं। किन्तु तुम शृंगार करके सिंह की सी कटि वाली षष्ठराशि कन्या अर्थात् कुमारी जैसी भोली बन गयी हो। काम से व्याकुल कृष्ण इधर-उधर भटक रहा है मानो वृश्चिक ने उसे डस लिया हो। हे सखि वह तुम्हारे अतिरिक्त और किसी स्त्री को नहीं देखता। अतः उसे मान से न सताओ। हे कुम्भस्तनी उसके प्रेम को जानकर उससे जा मिलो। वह मीन की तरह व्याकुल है। अतः अपने प्रेम से उसकी रक्षा करो। कृष्ण से मिलने के लिए मौक्तिक माल धारण कर लो और तुरन्त सज्जित हो जाओ")।

यहाँ कवि ने बारह राशियों के नामों का विशिष्ट अर्थों में प्रयोग किया है। प्रथम सी बाल का अर्थ है प्रथम राशि अर्थात् मेष जैसी बाला। 'मेष' शब्द का एक अर्थ है खूँटा अतः यहाँ इसका अर्थ होगा निश्चल अथवा शांत। द्वितीय (वृष) और सुर (भानु) का मिलकर अर्थ हुआ वृषभानु। उसकी सुता अर्थात् राधा। तृतिहित का अर्थ है मिथुन (मिलन) के लिए। चतुर्थ (कर्क) का

---

1 सा० ल० २१

यहाँ अर्थ है 'करके'। पाँचवी राशि है सिंह जो कटि का उपमान है छठी राशि कन्या है उससे यहाँ कुमारी अर्थ का बोध कराया गया है। सातवीं का अर्थ है तुला और आठवीं का वृश्चिक जिसका अर्थ है बिच्छू। नवीं (धन) का यहाँ अर्थ है (धनि) है सखि। दशम (मकर) का यहाँ अर्थ है मान। एकादश (कुम्भ) कुचों का उपमान है और द्वादश राशि है मीन। जो चंचलता (चपलता) का द्योतक है। 'रत्नावली' का अर्थ यहाँ रत्नमाला भी है और अलंकार विशेष भी जो इस पद में है।

अतः यह स्पष्ट है कि सूरदास ने कूट के अनेक रूप अपने काव्य में प्रयुक्त किए हैं और कुछ नवीन रूपों का भी आविष्कार किया है। यद्यपि वाणी की जटिलता—जो कूट का एक लक्षण है आचार्यों के मत से दोष मानी गई है पर जहाँ अर्थ-बोध दुष्कर न हो और वह रसों के उद्बोधन में सहायक हो तो दोष भी काव्य में चमत्कार का विधायक बन जाता है और दोष के स्थान पर गुण हो जाता है जैसा कि निम्न पद में है[1] —

तै जु नील पट ओट दियौ री।
सुनि राधिका स्याम सुन्दर सौं बिनहिं काज अति रोस कियौ री॥
जलसुतबिंब भई अति सोभा मनहुँ सरद ससि राहु गह्यौ री।
भुविसुत सिर मज्जन कीन्हें उरगासन रिपु ताहि दयौ री॥
तुम अति चतुर सुजान राधिका राख्यौ भरि भरि मान हियौ री।
सूरदास प्रभु अंग अंग नागरि मनहुँ काम कियौ रूप बियौ री॥

(राधा की सखी राधा से कहती है—"हे राधा नीले घूँघट से अपना मुख छिपा-कर तुम व्यर्थ ही कृष्ण के प्रति अपना मान व्यक्त कर रही हो। यह नील पट तुम्हारे मुख पर जल में नील कमल की प्रतिच्छाया जैसा अथवा चन्द्रमा को ग्रसते हुए राहु जैसा अथवा स्वर्ण स्तम्भ पर चढ़ते हुए और अमृत पान करते हुए सर्प जैसा लगता है। हे चतुर राधा तुम तो बुद्धिमती हो फिर तुम क्यों रूठी बैठी हो। कृष्ण का प्रत्येक अंग ऐसा सुन्दर है मानो कामदेव का दूसरा रूप हो। अतः तुम मान छोड़कर उनसे मिलो।

राधा की सखी उनके घूँघट के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई उसे मान त्याग कर कृष्ण से मिलने के लिए समझा रही है। कवि ने कूट-शब्दों में सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ की हैं। मुख पर ऐसा लगता है मानो राहु ने चन्द्र को ग्रस लिया है अथवा मानो सर्प स्वर्ण स्तम्भ पर चढ़कर अमृत पान कर रहा है। यहाँ कूटत्व

---

१ न. सा. पद ७०

दुर्बोध नहीं है और कृष्ण मिलन की राधा की उत्कण्ठा की व्यंजना करके रस परिपाक में सहायक होकर काव्य में चमत्कार की वृद्धि कर रहा है। 'जलसुत' का अर्थ है कमल और 'भूमिबसन' का अर्थ है सर्प।

भाषा

यद्यपि सूर के कूटपदों की भाषा उनकी अन्य रचनाओं की भाषा से अधिक भिन्न नहीं है तथापि उसमें पर्याप्त लम्बे-लम्बे समास वाक्यों की जटिलता और शब्द-विलास तो है ही। कूटत्व की सिद्धि के लिए अलंकारों की प्रचुरता तथा नाना अर्थ-वैचित्र्य-विधायक उपादानों के प्रयोग से भाषा में किंचित् क्लिष्टता और अस्पष्टता का आ जाना भी स्वाभाविक है। प्रसाद और माधुर्य गुणों की अपेक्षा रखने वाले शृंगाररस की प्रधानता होने पर भी उसमें यत्र-तत्र ओजगुण भी है और शैली भी चामत्कारिक एवं अस्वाभाविक हो गई है। जिन पदों में कूटत्व अधिक दुर्बोध हो गया है उनमें प्राय तत्सम शब्दों की बहुलता है अन्यथा सामान्य रूप से सर्वत्र तत्सम और तद्भव शब्दों का सम्मिश्रण है। सूर के कूट पदों की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उनकी प्रचुर शब्द-सम्पत्ति और शब्दों का समुचित चयन एवं प्रयोग है। ये शब्द जीवन के प्राय सभी क्षेत्रों से लिए गए हैं और उनके प्रयोग में कवि ने अत्यन्त विवेक और कौशल से काम लिया है। कहीं एक ही शब्द का अनेक व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है तो कहीं अनेकार्थवाची एक शब्द का उसके एक विशिष्ट रूढ़ अर्थ में ही प्रयोग करके विशेष चमत्कार की सृष्टि की गई है। उदाहरण के लिए यमकाश्रित कूटों में सारंग, हरि, कर और कमल का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। सारंग शब्द कवि को अत्यन्त प्रिय प्रतीत होता है क्योंकि इस एक शब्द को ही लेकर उसने अनेक पदों की रचना की है।[1] और उसका अनेक व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है। सारंग संस्कृत का अनेकार्थवाची शब्द है। अमरकोश में इसके चार अर्थ दिए गए हैं—चातक, हरिण, शबल और रक्तता। नन्ददास ने अपनी अनेकार्थ मञ्जरी में सारंग शब्द के निम्न अर्थ दिए हैं।

१. [illegible] (१) [illegible]
[illegible] (२) [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इसके अतिरिक्त इसके द्वारा कुछ यौगिक शब्दों की रचना भी की गई है यथा—
हरिभष (सिंह का भोजन मांस और उसके सादृश्य से मास अर्थात् महीना) हरि-रिपु (सूर्य का शत्रु अन्धकार उसमें मत्सरता द्वारा तमोगुण-जन्य क्रोध) हरि सुत (गजमुक्ता कामदेव) हरितनया (सूर्यपुत्री यमुना) हरिन्धन (काम को जलाने वाला भोग) हरिवाहन (बन्दरों का वाहन वृक्ष) हरि को तात (कपि हनुमान का पिता पवन)।

एक ही शब्द के अनेक पर्यायों का प्रयोग दो रूपों में किया गया है—(१) ऐसे पर्याय जो कोष अथवा साहित्य में प्रचलित हैं (२) ऐसे पर्याय जो कूटशैली से बनाए गए हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रमा के शशि, राकापति उडुपति आदि प्रसिद्ध पर्यायों के अतिरिक्त[1] निम्न पर्याय कूटशैली से रचे गए हैं—छायापति सारंगसुत (समुद्र का पुत्र) हर को तिलक (शिव के मस्तक का आभूषण) गिरितनया-पति भूषण सुरभीसुतपति ताको भूषण पट-सुत-धमन गमन-सुत (अगस्त्य के भक्ष्य समुद्र का पुत्र)।

इसी प्रकार शिव के हर, पिनाकी शंभु उमापति गिरजापति आदि प्रसिद्ध पर्यायों के अतिरिक्त निम्न पर्याय कूट-पद्धति से बनाए गए हैं—कुसुमशर-रिपु (कामदेव का शत्रु) गिरिसुता-पति मेरुसुतापति गिरितनयापति शिवरबंधु, सारंगरिपुनायति-रिपु कारिपु (सारंगरिपु—सर्परिपु—गरुड़ उसके पति कृष्ण उसका रिपु काम उसका रिपु शिव) शशिवाहनरिपुवाहन (शशिवाहन—कमल उसका रिपु चन्द्रमा और उसका वाहन शिव) मारुतसुतपतिरिपुपति (मारुत सुत—हनुमान उनके पति राम उनका रिपु रावण उसका पति आराध्य शिव) भूमिधर-अरि-पिता (भूमिधरअरि—कामदेव उसका पिता) सिंधु-सुत वर (चन्द्रधर) भूषण-पितु-पितु-सेनापति-पितु (भूषण—नगर उसका पिता कामि उसका पिता उग्र उसका सेनापति कार्तिकेय उसका पिता)।

कामदेव के लिए निम्न पर्याय कूट-पद्धति में प्रयुक्त हुए हैं—मेरुसुतापति नाथ पतिसुत (पार्वती पति शिव के आराध्य कृष्ण का पुत्र अनिरुद्ध जो काम का अवतार माना जाता है) हरि-सुत (कृष्णसुत) शिवशत्रुपति (शिव का शत्रु) गिरिजा पति-रिपु हरिसुत-सुत (पवनसुत हनुमान् का पुत्र मकरध्वज)

---

1. अमरकोश में चन्द्रमा के ये पर्याय दिए गए हैं—१ ३१—१४
हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दु कुमुदबान्धव।
विधु सुधांशु शुभ्रांशुरोषधीशो निशापतिः।
अब्जो जैवातृकः सोमो ग्लौर्मृगाङ्कः कलानिधिः।
द्विजराज शशधरो नक्षत्रेश क्षपाकर॥

हर-रिपु जलसुतसुत तासी रिपुपतिसुत (कमल के शत्रु हाथी के स्वामी विष्णु का पुत्र) कालनेमिरिपु ताको रिपु, उमापतिहि रिपु, सारंगरिपु तासति रिपु का रिपु तारिपु (सर्परिपु—गरुड़ के पति—विष्णु के शत्रु—इन्द्र उसके रिपु शिव का शत्रु) अलिवाहन-रिपु-वाहनरिपु (कमल के शत्रु चंद्रमा के धारण करने वाले शिव का शत्रु) भूमिचर अरि पिता वैरी (कार्तिकेय के पिता शिव का शत्रु) सिन्धुसुतसुहितसुत (चन्द्रधर शिव के हितु कृष्ण का पुत्र) भूधन-रिपु-रिपु-सेनापति पितुतामरि (मंगल के पिता अग्नि के पिता इन्द्र के सेनापति कार्तिकेय के पिता शिव का शत्रु)। इसी प्रकार राधा और कृष्ण के लिए भी अनेक पर्यायों की कूटशैली से उद्भावना की गई है। राधा के लिए ब्रज-कुँवरि, सुतारति तवनिसुता बहुत तपति वारासि में थवित ता तनया (वृषभानु की कन्या) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और कृष्ण के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है—सारंग-पति गिरिसुतसिवपति निजेसवा पारथमित्र रविसारथीवहोवर तापति वविसुतापति मेरसुतापति ताके पति आदित सुतपति सिंधुसुतापति भूमिभवनरिपु, गोपतिसुत सारंग-रिपुसुतासुतपति बादुररिपुरिपुपति पत्थिराजसुनाथ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि कूटपद्धति से जिन शब्दों का निर्माण किया गया है विशेषकर व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों का उनका प्रायः किसी न किसी पौराणिक अथवा महाभारत की कथा से संबंध है। सूर ने इन कथाओं का ज्ञान सुनकर ही प्राप्त किया होगा। अतः इनसे उनकी बहुश्रुतता का अच्छा परिचय मिलता है। इन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए पाठक या श्रोता से भी इन कथाओं को जानने की अपेक्षा की जाती है। अधिकतर शब्दों के निर्माण में सुत सुता पति पत्नी पिता अरि, अक्ष वाहन आदि शब्दों की सहायता ली गई है। अतः इन कूटों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें सन्निहित मूल कथाओं और उनसे संबद्ध व्यक्तियों अथवा पदार्थों के पारस्परिक संबंधों का ठीक-ठीक ज्ञान हो। इस प्रकार के ज्ञान के बिना इन कूटों का अर्थ समझना संभव नहीं है।

रूपरातिशयोक्ति पर आश्रित कूटों में उपमान और उपमेयों के प्रयोग में भी कवि की बहुज्ञता और काव्यकला-कौशल का अच्छा परिचय मिलता है। एक ही उपमेय के लिए अनेक प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग किया गया है और एक उपमान के द्वारा अनेक उपमेयों का भी बोध कराया गया है।

निम्न पद में नेत्र के लिए खंजन कंज मीन मृगशावक भ्रमर आदि अनेक प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग किया गया है—

खंजन कंज मीन मृगशावक भँवर जवर भुज समसिको ।[1]

निम्न पद में मुख नेत्र हाथ और पैरों के लिए केवल एक उपमान कमल का ही प्रयोग किया गया है।

हरि बिन मए ब्रज के चोर।
तुम्हरे मधुप वियोग राख पवन के झकझोर॥
इक कमल पर धरे सशरिपु इक कमल पर सतिरिपु चोर।
इ कमल इक कमल ऊपर जपी हृदयक मोर॥[2]

इस प्रकार शब्दों के उपयुक्त चयन और समृद्धि से अभिव्यञ्जन की कला और कवित्व-कौशल में उदात्तता सफलता एवं गरिमा का उदय हो गया है।

सूर को कूटरचना में प्रवृत्त करने वाले हेतु

सूर ने इन जटिल पदों की रचना क्यों की ? ऐसे कौन से कारण थे जिन्होंने अभिव्यञ्जना की ऐसी गूढ़ शैली को अपनाने के लिए उसे प्रेरित किया जो सामान्यत: उसकी अकृत्रिम और सरल शैली से मेल नहीं खाती ? इन प्रश्नों का समाधान आवश्यक है और यह कठिन भी नहीं है। सूर ने इन पदों की रचना प्रमुखत दो प्रयोजनों से की थी—(१) काव्यकला के प्रेम के कारण और (२) पुष्टिमार्ग के भक्तों को मधुरा-भक्ति का गुप्त संदेश देने के लिए। ऊपर यह बताया जा चुका है कि धार्मिक काव्य के रचयिताओं में अपनी उपासना पद्धति को गुप्त रखने की प्रवृत्ति होती थी। मधुरा भक्ति भी इस प्रकार की उपासना का एक मार्ग है जिसमें भक्त अपने इष्टदेव के साथ मैत्री का संबंध इस रूप से स्थापित करता है जिस प्रकार प्रेमी का प्रेमिका के साथ होता है। पुष्टिमार्ग में मधुरा-भक्ति का तात्पर्य प्रेम के उस विशिष्ट रूप से है जिसकी अभिव्यक्ति राधा और कृष्ण के प्रेम के रूप में हुई है। कृष्ण की प्रेम क्रीडाएँ जिन्हें रीतिशास्त्र में शृंगार लीला कहा गया है भक्त के लिए वस्तुत शृंगार नहीं अपितु उपासना का वह प्रकृत और आनन्दमय मार्ग है जिसमें भक्त से कुछ भी गोप्य नहीं है। काव्याभिव्यक्ति के विषय के रूप में कृष्ण की इस शृंगार लीला का समावेश सर्वप्रथम जयदेव ने अपने गीतगोविंद में किया था। उसमें कहा है कि "भगवान कृष्ण के स्मरण में तुम्हारा मन अनुरक्त है और यदि उनकी विलासकलाओं के श्रवण-कीर्तन में तुम्हारी रुचि है तो मधुर

१ वही, ग (१) पद २७

वही, ग (२) पद १ २। इसका अर्थ पृष्ठ २२२ पर देखिए।

कोमल और सुन्दर पदावली से युक्त जयदेव की (काव्यमयी) वाणी को सुनो।
उसके बाद विद्यापति और चंडीदास ने इसे अपनी-अपनी रचनाओं में स्थान दिया और हिंदी में इसे सर्वप्रथम सूर ने अपनाया। सूर की भक्ति राधा और कृष्ण के लोकोत्तर सौंदर्य से प्रेरित थी और काव्य के इस रूप को अपनाने में सूर का उद्देश्य था भक्त के मन को राधा और कृष्ण के विविध रूपों, गुणों और लीलाओं की ओर प्रवृत्त करके उन्हीं में तन्मय होने के लिए प्रेरित करना। इस भक्ति-पद्धति को उसने सहज समाधि की संज्ञा दी है। सूरपदों में उसने ऐसे चित्रों को सुरक्षित किया है जो भक्त के ध्यान और एकाग्रता के लिए आवश्यक हैं। इसमें संदेह नहीं कि सामान्य मानव को इनमें से कुछ चित्र अश्लील प्रतीत हो सकते हैं पर भक्त के लिए वे उच्च कोटि के हैं। साधारणतः राधा और कृष्ण के ये चित्र जनसाधारण में उनके प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न करने में सहायक हैं। वास्तव में नैतिकता और अनैतिकता तथा पवित्रता और अपवित्रता के विचार आपेक्षिक और मानसिक हैं। वे विविध परिस्थितियों और वातावरणों में रहने वाले व्यक्तियों के अनुसार बदलते रहते हैं। यही कारण है कि संसार के कई ऐसे भक्त-उपासकों का उपहास करते हैं और उन्हें अनैतिक तथा दुराचारी समझते हैं। परन्तु यह आरोप ठीक और उचित नहीं है। सूरदास परम भक्त और त्यागी थे। अतः यह कहना अनावश्यक है कि सूर ने भक्तिभावसमन्वित अपनी साहित्यिक रुचि के अतिरिक्त किसी अन्य भाव से प्रेरित होकर शृंगार को अपनाया था। इस दृष्टि से वह जयदेव और विद्यापति से भी बढ़कर है क्योंकि उनकी काव्यरचना का उद्देश्य था केवल एक काव्यकला का प्रदर्शन जबकि सूर की रचना में भक्ति की भी प्रधानता है। मधुर-भक्ति में शृंगार का पूर्ण प्रभाव है पर उसमें अश्लीलता का अविरोध्य तत्त्व नहीं आ पाया है। सांसारिक मनुष्य को इन पदों में कवि की भक्ति और शृंगार में विरोध भले ही प्रतीत होता हो पर अन्तर्दृष्टि वाले उनके भक्त के लिए यह विरोध नितान्त लुप्त हो जाता है। सूर के पदों में राधा नायिका है और कृष्ण नायक। दोनों ही लोकोत्तर दैवी विभूतियाँ हैं। अतः उनकी प्रणय लीला से हमारी भावनाओं का पूर्ण तादात्म्य संभव है। उनके हृदय में कुविचार के लिए तनिक भी स्थान नहीं होता। सूर के राधा और कृष्ण को देखने पर सभी उन्हें अपने इष्टदेव रूप में मानते हैं और वे पाठकों

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥ गी० गो० १-३

के मधुरालम्बन हैं न कि कामुक नायक और नायिका। वे नर-नारी के रूप में होते हुए भी दैवी शक्तियों से संपन्न हैं। मधुर रूप में शृंगार केवल शुद्ध और परिमाणम रूप में ही व्यक्त होता है। राधा और कृष्ण के मिलनमिलन के वर्णन भी भक्तिभाव का ही उदय करते हैं। यही सूर के शृंगार का वास्तविक सौन्दर्य है। वह पाठक के नेत्रों के सम्मुख विलास की सामग्री अवश्य उपस्थित करता है पर अन्त मे पाठक देवत्व की भावना से युक्त नायक और नायिका के सौन्दर्य मे आत्मविस्मृत हो जाता है और विलास का आभास लुप्त हो जाता है। अत सूर ने शुद्ध धार्मिक दृष्टि से शृंगार को अपनाया है। इस दृष्टि से उसके परवर्ती कवि बहुत कम सफल हुए हैं।

इसके अतिरिक्त कवि के रूप मे भी सूरदास ने शब्द-क्रीडा और अभिव्यक्ति मे कुशलता के प्रति अपनी रुचि का आभास दिया है। नायिका भेद तथा कतिपय अन्य काव्यतत्त्वों के कूटशैली मे विवेचन से सूरदास की प्रस्तुत काव्य कला-कुशलता और मौलिकता का प्रमाण मिलता है। कूटरचना के अपनाने मे कदाचित् सूर पूर्व परंपरा और विशेषकर विद्यापति के कूटपदों से भी प्रभावित हुए जो उनके समय मे बहुत लोकप्रिय हो चुके थे।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के मध्यकाल मे न केवल भक्तिधारा ही प्रवाहित थी अपितु काव्य की अन्य कई धाराएँ भी प्रवहमान थीं। इनका संबंध किसी विशेष मत या संप्रदाय से नहीं था अपितु वे शुद्ध काव्यशास्त्र की अनुयायिनी थीं। उन्हें शृंगार अथवा रीतिधारा कहा जा सकता है जो संस्कृत के रीति-संप्रदाय की अनुगामिनी हैं। भक्तिकाल मे भी इनका पर्याप्त प्रचलन हो गया था किन्तु भक्ति के ह्रास के साथ रीति-सम्प्रदाय का हिन्दी मे प्रमुख स्थान हो गया। सूर के काल मे भक्ति के अतिरिक्त रीति और शृंगार का भी काव्य-रचनाओं पर प्रभाव पड़ा और वह सूर के काव्य मे भी स्पष्ट दृष्टिगोचर है। काव्यरचना की तत्कालीन मान्य शैलियों और विलासप्रियता से सामान्य जनरुचि का भी सूर पर प्रभाव पड़ा। अत सूर के पदों मे यद्यपि अनजाने मे ही किन्तु अनिवार्यत भक्ति और शृंगार का समन्वय हो गया है। सूर की कला की इस मौलिक विशेषता की ओर ध्यान दिये बिना ही कुछ आलोचकों ने सूर की रचनाओं विशेषत उनके शृंगार की केवल नैतिकता के माप-दंड से समीक्षा की है।

सूर के मानस और कला पर स्पष्टत निम्नलिखित प्रभाव पड़े हैं —

(१) विनय के पदों मे सामान्यत पूर्ण आत्मसमर्पण और तादात्म्य भक्ति के तत्त्वों का (२) कृष्ण की बाललीला के वर्णन मे वल्लभ के पुष्टिमार्ग का

(३) राधा और कृष्ण के प्रेमविषयक पदों में शृंगारी और विलासपूर्ण भावों की मोहक प्रवृत्ति का (४) अन्य प्रकार के पदों में कृष्ण के आकर्षक सौंदर्य का और (५) कूटपदों में सूर के पूर्ववर्ती कवियों की रचना-शैली एवं समकालीन रीति सम्प्रदाय की प्रगति का।

रीति-सम्प्रदाय की मान्यता संस्कृत काव्य की दीर्घकालीन परम्परा थी और यह परम्परा मध्यकालीन हिन्दी कवियों को भी विरासत में मिली। अब देश में समय तक रीतिकाव्य का संस्कृत में समुचित विकास हो चुका था और सूर के पूर्ववर्ती कुछ हिन्दी कवियों पर उस परम्परा का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। विशेषकर कृपाराम, मोहनलाल मिश्र, करनेस आदि का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने सूर के जीवन-काल में ही रीति-सम्प्रदाय का मुख्य रूप से विश्लेषण कर दिया था। अतः सूर के लिए भी अपने समकालीन कवियों का अनुकरण तथा अपनी रचनाओं में काव्य के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रवृत्ति के तत्त्वों को समान महत्त्व देना स्वाभाविक था। वस्तुतः इन्हीं परिस्थितियों से प्रेरित होकर सूर ने कूटशैली में भी पद-रचना की।

उपसंहार

सिंहावलोकन करते हुए हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य ने विगत सहस्राब्दी में काव्य के माध्यम से रहस्यात्मक अनुभवों और आन्तरिक भावों को हृदयग्राही रूप में प्रकाशित करने की कला का समुचित विकास कर लिया था। ऐसी रचनाएँ मुख्यतः मुक्तक काव्य के रूप में हैं और उनमें अतिभाव की छटा है चाहे उनकी रचना के लिए कवि को प्रेरित करने वाली शक्ति की मात्रा और स्वरूप कुछ भी रहा हो। ऐसी रचनाओं के कलापक्ष में यह भी स्पष्ट है कि गुप्त भावों को प्रकट करने के लिए एक निश्चित शब्दावली है और शैली भी अलंकारिक भाषा से पूर्ण है। अभिव्यक्ति की इस चमत्कार पद्धति में आन्तरिक भाव को अज्ञात रूप से व्यंजना द्वारा प्रकाशित करने का गुण है और अनधिकारी व्यक्ति के लिए उसका समझना दुष्कर है। हिन्दी के इस कूट अथवा दृष्टकूट काव्य का मूल वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में है और परवर्ती कवियों को यह अनेक मार्गों में विकसित और पल्लवित होकर प्राप्त हुआ है।

शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से कूटकाव्य चित्रकाव्य का भेद है क्योंकि उसमें अलंकारिकता की प्रधानता होती है। तथापि उसे चित्रकाव्य के संकुचित क्षेत्र में सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि अधिकांश कूट-रचनाओं में भाव-व्यंजना विकास की चरम सीमा तक पहुँच गयी है अतः उनकी गणना ध्वनि अथवा

उत्तम काव्य में की जा सकती है ।

कूटकाव्य का मूलस्रोत है जीवन की कतिपय रहस्यमयी धार्मिक और लौकिक अनुभूतियों को व्यक्त करने की आन्तरिक अभिलाषा । इसी अभिलाषा से प्रेरित होने पर कवि की वाणी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से युक्त होकर काव्य के रूप में प्रस्फुटित होती है । धार्मिक प्रक्रियाओं की रक्षा और काव्य में कतिपय मौलिक तत्त्वों की उद्भावना करने के अतिरिक्त मध्यकालीन भारतीय कवियों की पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना और कला चातुर्य प्रदर्शन की आकांक्षा ने भी कूटकाव्य को विकसित किया । अनेक हाथों में पड़कर कूटशैली शनैः शनैः परिमार्जित होती गई और उसने ऐसा कलात्मक रूप धारण कर लिया जिससे काव्य के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए उसमें सभी आवश्यक तत्त्वों का समावेश हो गया । सूरदास के दृष्टकूटों में यह विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई । यह कोई साधारण घटना न थी कि सूर के द्वारा कूटरचना पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँच गई । यह स्पष्टतः उस परम्परा की चरमावस्था थी जिसने हिन्दू संतों के प्रधान गुण अन्तःसाधना को परिपुष्ट किया था ।

सूरदास को दृष्टकूट पदों में अनेक प्रकार से सफलता मिली है । सर्व प्रथम इससे मधुरामक्ति सम्प्रदाय की स्थापना के उच्च ध्येय की प्राप्ति की और ऐसे रहस्यात्मक पदों की रचना की जिनमें एक ओर तो मन की मस्वरता है और दूसरी ओर उसमें राधा और कृष्ण से सम्बद्ध भक्ति के मूलभूत तत्त्व उपासना की गूढ़ता के साथ अन्तरात्मा का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया गया है। इस प्रकार सूर के कूटपदों में भक्तिकाव्य की समृद्धि हुई ।

दूसरे शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी उसकी सफलता अत्यंत उच्चकोटि की है । ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कुछ पदों में दार्शनिक और भक्ति विषयक भावों के साथ-साथ काव्यशास्त्रीय आदर्शों के सफल निर्वाह का भी सचेष्ट प्रयत्न हुआ है । इस प्रयत्न में उन पर निश्चय ही विद्यापति की अप्रत्यक्ष छाप पड़ी है जो उनका पूर्ववर्ती तथा पथ प्रदर्शक था ।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में काव्य-रचना की एक ऐसी स्पष्ट धारा भी थी जिसका तत्कालीन धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अनुष्ठानों से कोई सम्बन्ध न था । यह धारा सर्वथा लौकिक थी और आगे चलकर रीति सम्प्रदाय के शृंगारिक रूप में परिणत हो गयी । सूरदास की सफलता इन दोनों धाराओं—धार्मिक और लौकिक के सुन्दर समन्वय में है और उनकी कविता में इस प्रकार इन दोनों भावधाराओं के मिलकर एक हो जाने का विशिष्ट गुण है । वे दोनों प्रकार के भाव राधा और कृष्ण के चिरपरिचित महान् चरित्रों में बड़े सुन्दर

रूप में मिल गए हैं। परस्पर विरोधी इन दोनों धाराओं का समन्वय था कठिन कार्य और वह भी काव्य के क्षेत्र में सूर के हाथों में पड़कर पूर्ण सफल हुआ। भक्तिधारा में बहते हुए सूरदास ने भक्ति सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुकूल भक्ति सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों में प्रवेश किया है और शृंगार के किसी रूप को नहीं भुलाया है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए उसने आलंकारिक भाषा का आश्रय लिया है। उसने अपने पदों में राधा और कृष्ण के प्रेम के सभी रूपों की व्यंजना प्रकृति और पुरुष की अनन्त लीला के रूप में की है। वह एक ऐसी धुरी है जिसके चारों ओर समस्त विश्व घूम रहा है। इसी आधार को लेकर उसने इस आदर्श युगल के शृंगारी चित्रों का अंकन किया है। शृंगार ही संसार में सर्वविजयिनी शक्ति है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में सूरदास का वही स्थान है जो संस्कृत में उज्ज्वल नीलमणि के रचयिता श्रीरूपगोस्वामी का है। दोनों ही राधा और कृष्ण को विश्व में एकमात्र नायक और नायिका मानते हैं जिनकी कृपा से समभाव से असंख्य सांसारिक नरनारी सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के सांसारिक कष्टों से मुक्त हो जाते हैं। सूरदास के हाथों में पड़कर दृष्टकूट को काव्य के रूप में अभूतपूर्व सफलता मिली है। इस प्रकार सूरदास द्वारा गुम्फित वे पद भक्ति के शुष्क क्षेत्र को भावोद्रेक की सरस धारा से आप्लावित करते हैं और विलासपूर्ण कामुकता के अनगढ़ रूप को उज्ज्वल बनाते हैं। सारांश यह है कि कूटकाव्य के इतिहास में सूरदास के पदों का बहुत उच्च स्थान है क्योंकि उनमें न केवल पूर्व संत कवियों द्वारा प्रज्वलित रहस्यमयी अभिव्यंजना की ज्योति को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास है अपितु उनमें काव्य की चिरन्तन ज्योति को अधिक दीप्त कर दिया गया है। नाथपंथियों और संतकवियों की वाणी में कूट का केवल एक प्रयोजन था अर्थात् गूढ़ अभिव्यंजना, विद्यापति की रचनाओं में उसे समृद्ध साहित्यिक परिधान प्राप्त हुआ। किन्तु उक्त दोनों धाराओं का समन्वय सूर जैसे परम भक्त और महाकवि के पदों में हुआ।

> नाथान् सतो वैविध्यलोकितस्य पुष्टान्न मुक्ते निज कूटनीति ।
> उपेत्य सूरं तु महाकवि तां द्विसंगमां प्रीतिमवाप मुख्याम् ॥

हिन्दी साहित्य में कूट-रचना सूर के दृष्टकूट पदों में उत्कर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई और इस महाकवि ने अपनी रचना में भक्ति और कला के अपूर्व युग्म का पूर्ण समन्वय किया है।

---

१ स्वरचित।

परिशिष्ट

परिशिष्ट (क)

सूर के कूटपदों का संग्रह

हस्तलिखित ग्रन्थ

(१) **सूरदासजी के दृष्टकूट अथवा सूरशतक सटीक**[1]—इसका उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट १९ ई संख्या १ पृ २ पर है। संग्रहकर्ता ने इसके सम्बन्ध में कहा है कि 'यह टीका तथा संग्रह श्री वल्लभ संप्रदाय के आचार्य कापीस्थ गोस्वामी गोपाललाल जी के शिष्य बालकृष्ण ने अपने गुरु की आज्ञा से गुजरात भावनगर में किये। रचना काल संवत् १८८१ वि से १९ वि तक। सरक्षा स्थान बाबू हरिश्चन्द्र पुस्तकालय बनारस।

जैसा कि नाम से सूचित है इस संग्रह में सूरदास के १ कूटपद हैं। इसके विषय में डा दीनदयाल गुप्त का कहना है कि 'यह सूरदास का साहित्य लहरी से भिन्न कोई ग्रंथ नहीं है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यह संग्रह साहित्यलहरी से सर्वथा भिन्न है। श्री प्रभुदयाल मीतल का कहना है कि विवरण का उद्धृत अंश संदेहास्पद है क्योंकि भावनगर गुजरात में नहीं है अपितु यह दक्षिण हैदराबाद का ही दूसरा नाम है।[3] डा ब्रजेश्वर वर्मा के मत में 'सूरदास जी के दृष्टकूट' और 'सूरशतक' दो विभिन्न ग्रंथों का रिपोर्ट में उल्लेख है। पर यह मत भी ठीक नहीं है।[4] यह संग्रह बम्बई से प्रकाशित श्री ठाकुरदास के 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नामक ग्रंथ के परिशिष्ट के रूप में मुद्रित कहा जाता है।

(२) **अथ सूरदासजी कृत दृष्टकूट के पद**—कांकरोली विद्या-विभाग बंध ८८/१ आकार ८×७½ पृष्ठ ७१ प्रति पृष्ठ पर पंक्तियाँ १४ प्रत्येक पंक्ति में अक्षर २१ २५ पद संख्या ५१ कागज हाथ का बना हुआ। लाल और काली स्याही से सुवाच्य अक्षरों में हाथ से लिखा हुआ। तिथि अज्ञात।

प्रारम्भ—श्री कृष्णायनमः। श्री गोपीजनवल्लभायनमः, अथ सूरदास जी कृत दृष्टकूट के पद तिनकी टीका लिख्यते।

---

१ अष्ट० वल्लभ पृ १७४

२ वही, पृ ११४

३ सू नि पृ ११

४ सूरदास पृ १ १

श्री गोवर्द्धन धरन चरन सरन अनमोल ।
श्रुतारक चरित सकल ग्रंथ विपिन विनोद ॥१॥
श्री वल्लभ विट्ठल चरन वंदत चित्त विचार ।
बढ़त सुविधा सुविधन विलसत विशद विहार ॥२॥
भक्तन के पद हिय धरत जिय को प्रियकर होत ।
तम तजि परतमता कलित विदित जगत को पोत ॥३॥
यह संसार असार में हरि कीर्तन सुखसार ।
जहँ करत सगुन को बड़े प्रकार विस्तार ॥४॥
उपकारन ह्वै सबन कौं हेतु सर्व समुझाय ।
तासे आप भक्त जन भाषा करत सुभाय ॥५॥
सूरदास जिन तें भये जगत प्रगट ज्यों सूर ।
गाये सब विधि करि सुजस हरि लीला रसपूर ॥६॥
जिनके पद में इह बहु परम भाव को व्यंग ।
सूचि धरे कैते लिये संग्रह कियौ सुढंग ॥७॥
श्रीवल्लभ कुल सकल की कृपा पाय अनुरोत ।
मालवपुर दक्षिण दिशा कीयो सुमति निरदोत ॥८॥
बालकृष्ण की वीनती सुनिए रसिक सुपथ ।
कीजै सुमति सुधारि के सूरशतक यह ग्रन्थ ॥९॥
सुधासूर सागर मथ्यौ तो मैं जो कछु लेत ।
कहत सुजन सब रसनि को अमृत होत प्रवेश ॥१०॥
पायो एक पद सूर कै अन्त समय सिद्धान्त ।
सो पद प्रथमहिं कहत हूँ औरै में वृत्तान्त ॥११॥

आदि सूरदासजी की राग बिलावलो अरोसो इक इन चरनन केरो ।
प्रथम कूटपद—

नारि एक बसत विधि बिचरति ।

अन्त—सखी बन राजत एक बनी ।

ऐसे सूरदास प्रभु को निरखि हरषि मनमथ भये ।

अन्यान्य प्रीत वाली इति भाषा के दृष्टिकूट-पद संपूर्णम् ।

प्रारम्भिक दोहा से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का नाम सूरशतक है जिसमें बाल कृष्ण द्वारा सूरसागर से संकलित पदों का संग्रह है । बालकृष्ण ने इसकी टीका भी लिखी । पाण्डुलिपि अपूर्ण है क्योंकि इसमें केवल ५१ पद ही हैं ।

(४) सूरदासजी के कीर्तन-संग्रह सटीक 'सूरशतक'—कांकरोली विद्या

विभाग बंध १४-१ आकार ७½ × ६, पृष्ठ ६२ प्रति पृष्ठ पंक्तियाँ १२ प्रति पंक्ति म अक्षर सख्या २ पद सख्या ३६ कागज सफेद व चिकना। मुडावम्भ भक्षरा म हाथ से लिखा हुआ। तिथि वि स १६१४ लेखक का नाम दामोदरदास प्रथम पृष्ठ का बहुत-सा भाग विकृत है।

प्रारम—श्री गेशा जयति। अथ प्रथम मंगलाचरण सूरदासजी के कीर्तन संग्रह करिबे हेत।

इसके पश्चात् वे ही पद है जो ऊपर सख्या २ पर उल्लिखित सग्रह म है।

अन्त—इस प्रकार है—इति श्री सूरदास जी के कूटाव पद सम्पूर्ण। मिती पोष वदी ६ बुध वासरे स १६१४ लिपि इति जो सम्मोती रामात्मज दामोदर दास की हार मध्ये शुभभूयात्। श्रीरस्तु।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि यह बालकृष्णदास के पूर्वोक्त सूरशतक की ही प्रतिलिपि है। पहले की अपेक्षा इसम ३ पद अधिक हैं। १७वें पद के बाद पहली पाण्डुलिपि की अपेक्षा क्रम भिन्न है।

(४) सूरदास जी कृत कूटपद मूल—काँकरोली विद्या-विभाग १२४-७-१ आकार ५½×६½ पृ १४ प्रति पृष्ठ पंक्तियाँ १२ प्रति पंक्ति म अक्षर सख्या ११ पद ६१ कागज पुराना मटुरशाही। लाल और काली स्याही में लिखित। लेखक नाम व तिथि अज्ञात।

प्रारम्भ—श्री गोपीजनवल्लभायनम। अथ सूरदास की कृत कूट पद लिख्यते। मट। मिलिबहु पारसमित्रहि मानि।

अन्त—गोपी पूत रिपुता सुत आयुध।

अन्त में दो पद ऐसे हैं जो कूट नहीं हैं। इस पाण्डुलिपि के ३३ पद संख्या २ व ३ की पांडुलिपियों म भी पाए जाते हैं और २८ पद भिन्न हैं। ये सभी पद सूरसागर से संगृहीत हैं।

(५) दृष्टिकूट-पद 'सूरदासकृत'—नाथद्वारा विद्याभवन महाराज श्री गोस्वामी गोविंदलाल जी का निजी पुस्तकालय बंध ११ को २, आकार ५×६ पृष्ठ १ ४ प्रति पृष्ठ मे पंक्तियाँ १२ प्रति पंक्ति म अक्षर संख्या २ कागज हाथ का बना। लाल व काली स्याही मे लिखित। लेखक का नाम व तिथि अज्ञात।

२६ पदो तक पद और टीका दोनों हैं उनके बाद केवल टीका है। पद लगभग सब वे ही हैं जो पूर्वोल्लिखित सख्या ५ की पांडुलिपि में हैं।

(६) दृष्टकूट सूरदास जी के तथा गोविन्ददास जी के पद—नाथद्वारा विद्याभवन निजी पुस्तकालय बंध ११ को १ आकार ८×१ पृष्ठ १८४

बालकृष्ण को बीनती सुनिये रसिक सुर्वंश ।
लीजै सुमति सुधारि कै सूरसतक यह ग्रंथ ।।७।।

अन्त—इति श्री सूरसतक पूर्वार्द्ध सम्पूर्णम् ।
यह इतिहास सब पदन को अर्थ भयो सुखधाम ।
श्री गिरिधर महाराज की अमित कृपा बल वाम ।।१।।
संवत् अष्टादस सतक असती पर द्वै मेख ।
मारगसिर बदि सप्तमी कवि कविता पद देख ।।२।।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि यह संग्रह संवत् १८८२ वि. में मालपुर निवासी श्री बालकृष्ण ने अपने गुरु श्रीगिरधर जी के आदेश से कीर्तन के निमित्त किया था। इस संग्रह में कुल १   पद थे किन्तु इसका पूर्वार्द्ध ही मुद्रित रूप में उपलब्ध है। प्रारंभिक पद वे ही हैं जो हस्तलिखित पाण्डुलिपियों संख्या २ ३ में दिए गए हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह संग्रह इन्हीं पाण्डुलिपियों पर आधारित होगा। किन्तु तुलना करने पर पता चलता है कि इस संग्रह के पद और उनका क्रम हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के पद और क्रम से मेल नहीं खाता। इस भेद का कारण बताना संभव नहीं है। सूरसतक के पूर्वार्द्ध के १४ पद वे ही हैं जो साहित्यलहरी के परिशिष्ट में दिए गए हैं शेष ११ नये हैं। इसके अतिरिक्त नीचे लिखे तीन संग्रह और भी मुद्रित हुए कहे जाते हैं पर अब वे उपलब्ध नहीं हैं।

(१) सूरदासजी के दृष्टिकूट—नव हुसैनी प्रेस सन् १ ५२ ई. ।
(२) दृष्टिकूटसार हाशमी प्रेस आगरा १८२२ ई. ।
(३) दृष्टिकूटपद सूरदासकृत मुंशई चमकनुर प्रेस मथुरा १८६४ ई. ।

परिशिष्ट (ख)

सूरसागर के कूटपद

विनय के पद

विनती

(१)

हरि बलबीर बिना को पीर ?
सारँगपति प्रगटे सारँग तैं जानि दीन पर भीर ॥
सारँग विकल भयौ सारँग मैं सारँग सुस्य सरीर ।
पर्‌यौ नाम सारँगवासी सौं राखि लियौ बलबीर ॥
सारँग इक सारँग ह्वै खोद्यौ सारँग ह्वै कै तीर ।
सारँग-पानी-धाय ता ऊपर भए परीच्छत कीर ॥
गहे दुष्ट द्रुपनी को सारँग नैननि बरसत नीर ।
सूरदास प्रभु अधिक कृपा तैं सारँग भयौ गभीर ॥

अविद्या-वर्णन

(२)

माधौ जू यह मेरी इक गाइ ।
अब आजु तैं आप आगे दई लै आइयै चराइ ॥
अति हरहाई हटकत हू बहुत अमारग जाती ।
फिरति वेद बन ऊख उखारति सब दिन अरु सब राती ॥
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति अपने गोधन माँहि ।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे देहु कृपा करि बाँह ॥
निधरक रही सूर के स्वामी जनि मन जानौ फेरि ।
मन ममता रुचि सौं रखवारी पहिलै लेहु निबेरि ॥

---

१. स ३१ कि १६ । १९ का [illegible] २१ । [illegible]
२. स ३१ में ६ । [illegible]

महि रवि पय पयादि इरनि छकि पच इकादस ठानै ।
नौ दस आठ प्रकृति तृस्ना सुत सदन सात सथाम ॥
पञ्चा पंच प्रपञ्च नारि पर भजत सारि फिरि मारी ।
चौक चबाउ भरे दुबिधा छकि रस रचना रुचि धारी ॥
बाम किसोर तरुन जर जुग सो सुपक सारि ढिग ढारी ।
सूर एक पौ नाम बिना हरि फिरि फिरि बाजी हारी ॥

विनती

(५)

अब मेरी राखौ लाज मुरारी ।
सकट मैं इक संकट उपज्यौ कहै मिरग सौं नारी ॥
और कछू हम जानत नाहीं आई सरन तिहारी ।
उलटि पवन जब बावर जार्‌यौ स्वान चस्यौ सिर भारी ॥
नाचन कूदन मृगिनी लागी चरन कमल पर वारी ।
सूर स्याम प्रभु अबिगत लीला आपुहिं आपु सँवारी ॥

मन प्रबोध

(६)

रे मन समझु सोचि बिचारि ।
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ कहत निगम पुकारि ॥
धारि पासा साधु संगति फेरि रसना सारि ।
दाँउ अबकै पर्‌यौ पूरौ कुमति पिछली हारि ॥
राखि सतरह सुनि अठारह चोर पाँचौ मारि ।
डारि दै तू तीनि काने चतुर चौर निहारि ॥
काम क्रोध र लोभ मोह्यौ ठग्यौ नागरि नारि ।
सूर श्रीगोबिंद भजन बिनु चलै दोउ कर झारि ॥

(७)

रे मन निपट निलज्ज अनीति ।
जियत की कहि को चलावै मरत विषयनि प्रीति ॥

१ सू २ १
२ स २ १ में १ । ११६१
३ स २ १ ४ ३१ । १ २

स्वान कुम्भ कुरंगु, कामी सवन पुच्छ बिहीन।
भगन भाजन कंठ कृमि सिर कामिनी माधीन॥
निकट आयुध बधिक धारे करत तीच्छन धार।
अजानायक मगन क्रीड़त चरत बारबार॥
देह छिन छिन होति छीनी दृष्टि देखत लोग।
सूर स्वामी सौ बिमुख ह्व सती कैसे भोग॥

(८)

भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ।
पाउँ चारि, सिर सृंग गुंगमुख तब कैसे गुन गैहौ॥
चारि पहर दिन चरत फिरत बन तऊ न पेट अघैहौ।
टेढ़ू कंध ए फूटी नाकनि कौलौ धौ भुस खैहौ॥
लादत जोतत लकुटि बाजि है तब कहँ मूँड दुरैहौ।
सीत घाम धन बिपति बहुत बिधि भार तरे मरि जैहौ॥
हरि संतन को कह्यो न मानत कियौ आपुनो पैहौ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु मिथ्या जनम गँवैहौ॥

(९)

भजि मन दधि-सुता-पति चरन।
देवगुरु की भवनि-सुत ही सदा चाहै करन॥
सबरी जिय जानि मन मैं जात जातक मरन।
संभु-वाहन तासु भूषण द्रुति भुज पर परन॥
हंससुतरिपुसुत के सुत की जठर रच्छा करन।
धरय-सुत-सुत तासु पतनी परम चिंता हरन॥
दच्छसुता-पति धीपति साधतै जौ अच्छ तन उभरन।
सूर के प्रभु सदा सहायक बिस्व पावन करन॥

वात्सल्य वर्णन

(१)

देखि सखि एक अद्भुत रूप।
एक अंबुज मध्य देखियत बीस दधिसुत भूप॥

[illegible]

१ [illegible] १४ [illegible]

२ [illegible] —[illegible] नहि [illegible] | १ | [illegible]
[illegible]

एक अचरजी दोइ जलचर उभ अक अनूप।
पच वारिज एक ही ढिग कहौ कौन सरूप॥
भई सिसुता माँहि सोभा करौ अर्थ विचार।
सूर श्रीगोपाल की छवि राखिए उरधार॥

(११)

गोद लिए जसुदा नँद-नंदहि।
पीत अँगुरिया की छवि छाजति बिज्जुलता सोभित मनु कंदहि॥
बाजी-पति-अग्रज-असवार तेहि अरक-पान-सुत-माला गुंदहि।
मानौ स्वर्गहि तें सुर-पति रिपु-कन्या-सौति माइ हरि सिंधुहि॥
मारि करत कर चपत असावन नन्नारि आनद ह्वै मदहि।
मनौ भुअंग अमी रस लालच फिरि फिरि चाटत सुभग सुचंदहि॥
भृंगी वाक्तनि यौं अनुरागति भँवर गुंजरत कमल माँ बदहि।
सूरदास स्वामी धनि तप किए, बड़े भाग जसुदा अरु नंदहि॥

दधि-सोसा

(१२)

अब दधिरिपु हरि हाथ लियौ।
खगपति-अरि डर असुरनि-सका बासर-पति आनन्द कियौ॥
बिदुखि सिंधु सकुचत सिव सोचत गरलादिक किमि जात पियौ।
अति अनुराग संग कमलासन प्रफुलित अंग न समात हियौ॥
एकनि दुख एकनि सुख उपजति ऐसौ कौन बिनाद कियौ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे गहत ही एक एक तें होत बियौ॥

(१३)

देखौ माई दधिसुत मैं दधि जात।
एक अचम्भौ देखि सखीरी रिपु मैं रिपु जु समात॥
दधि पर कीर कीर पर पंकज पंकज के द्वै पात।
यै सोभा देखत पसु पालक फूले अंग न समात॥

११ स [illegible]
१२ [illegible]
१३ [illegible]

बारंबार बिलोकि सोच चित नंद-महर मुसकात।
यहै ध्यान मन आनि स्याम को सूरदास बलि जात॥

बाल-लीला

(१४)

दधिसुत जम्यौ नंद के द्वार।
निरखि नैन अरुझ्यौ मनमोहन रटत देहु कर बारंबार॥
दीरघ मोल कह्यौ ब्यौपारी रहे ठगे सब कौतुकहार।
कर ऊपर लै राखि रहे हरि देत न मुक्ता परम सुढार॥
गोकुलनाथ बए जसुमति के आँगन भीतर भवन मँझार।
साखा-पत्र भए जल मेलत फूलत फलत न लागी बार॥
जानत नाहिं परम सुर-नर-मुनि ब्रह्मादिक नहिं करत बिचार।
सूरदास प्रभु की यह लीला ब्रज बनितनि पहिरे गुहि हार॥

गोचारण

(१५)

बन तें आवत धेनु चराए।
संध्या समय साँवरे मुख पर गोपद रज लपटाए॥
बरह-मुकुट के निकट लसति लट मधुप मनौ रुचि पाए।
बिलसति सुधा जलद-आनन पर उड़त न जात उड़ाए॥
बिधि-बाहन भच्छन की माला राजत उर पहिराए।
एक-बरन बपु नहिं बड़ छोटे ग्वाल बने इक धाए॥
सूरदास बलि लीला प्रभु की जीवत जन जस पाए॥

रूप-वर्णन

(१६)

नवनीप्रिय मुख देखौ माई।
प्रग प्रग छबि मनहु उये रबि ससि अरु समर सजाई॥

---

१ स [illegible] १।१२२, [illegible] १।१७८, वि [illegible], ना० र [illegible] ना० र्म [illegible], काम [illegible] सू० सा
१४ स [illegible] वे [illegible]
१५ स [illegible] वे [illegible]

खंजन मीन मृग वारिज मृग पर दृग मति रुचि पाई।
स्रु ति मडल कु डल मकराकृत बिलसत सदन सगाई॥
नासा कीर कपोत ग्रीव छबि दाड़िम दसन चुराई।
द्वै सारँगवाहन पर मुरली भाई देति दुहाई॥
भौहैं थिर थिर बिटप बिहगम व्योम बिमान थकाई।
कुसुमांजलि बरषत सुर ऊपर सूरदास बलि जाई॥

मुरलीवादन

(१७)

जब हरि मुरली अघर धरी।
गृह ब्यौहार तजे आरज-पथ चलत न संक करी॥
पद रिपु-पट अटक्यौ अति आतुर उलटि न पलट खरी।
सिव-सुत-बाहन आइ मिले तहँ सुधि बिधि सकल हरी॥
दुरि गए कीर कपोत मधुप पिक सारँग सुधि बिसरी।
उडुपति बिद्रुम बिंब खसाने दामिनि अधिक डरी॥
निरखे स्याम पतग-सुता-तट आनँद उमँगि भरी।
सूर स्याम कौ मिली परसपर प्रेम प्रवाह ढरी॥

राधा के साथ क्रीड़ा

(१८)

नीबी ललित गही जदुराई।
जबहि सरोज धर्‌यौ श्रीफल पर तब जसुमति गई आई॥
तत छन रुदन करत मनमोहन मन मैं बुधि उपजाई।
देखौ ढीठि देति नहिं माता राख्यौ गेंद चुराइ॥
तब वृषभानुसुता हँसि बोली हम पै नाहिं कन्हाइ।
काहू लै झकझोरत मोसे बलहु न दर्ऊं बताइ॥
देखि बिनोद बाल सुत को तब महरि चली मुसुकाइ।
सूरदास के प्रभु की लीला को जानै इहिं भाइ॥

---

१७ स (१९७० में ११ (वे प्र ६४ (११ को २ १(७८१ ना १ । २ ६६,
 पाँड़ ना १(४१)मृ स ८८
१८ स ११

वृन्दावन विहार

(१९)

राधे अमसुत कर धु धर ।
अति ही अरुन अधिक छवि उपजत सकत हस सगरे ॥
जुगल चकोर चले ह्व सम्मुख झिझकत रहे खरे ।
तब बिहँसी वृषभानुनन्दिनी दोऊ मिलि झगरे ॥
रवि अरु ससि वाऊ एकै रथ सम्मुख आनि अरे ।
सूरदास प्रभु कुज बिहारी आनद उमँगि भरे ॥

युगलरूप-वर्णन

(२०)

देखे चारि कमल इक साथ ।
कमलहिं कमल गहे लागति है कमल कमल ही मध्य समात ॥
सारँग पर सारँग चलत है सारँग ही सौं हँसि हँसि जात ।
सारँग स्याम पोरहू सारँग सारँग सारँग सौं करें बात ॥
अरि सारग राखि सारँग को सारँग गहि सारँग की जात ।
तौ से राखि सारँग सारँग कौ सारँग म भाऊँ ना हात ॥
सोइ सारँग चतुरानन दुर्लभ सोइ सारँग संभु मुनि ध्यात ।
देखत सूरदास सारँग को सारँग ऊपर बसि बसि जात ॥

(२१)

हरि उर मोहिनि बेलि लसी ।
तापर उरग ग्रसित तव सोभित पूरन अंस ससी ॥
तापति कर भुजदड रेख गुन अतर बीच कसी ।
कनक कलस मधु पान मनो करि भुजगनि उलटि धँसी ॥
तापर सुन्दर अचल झाँप्यौ अकित पसत सी ।
सूरदास-प्रभु तुमहि मिलत जनु दाडिम बिगसि हँसी ॥

---

१९ स १ १ प ४१७ ८८ को ६११। ११९ चान १ ।२ १८ आँक १९४७-
१ ३४ मु रा १८
२ स० १ १३ में १ च आँक १९४ । ८- १ ६
२१ स १ १४ में ४ । ६ मधु १६६ । १७६१ को ६१९ । १०-१८ आँक १
२ । ९६३ १ ।

(२२)

उर पर देखियत ससि सात ।
सोवत हुँ तें कुवरि राधिका चौंकि परी अकुलात ॥
खड खड ह्वै गिरे गगन तें बास-पतिन के भ्रात ।
क बहु रूप किए मारग तें दधिसुत आवत जात ॥
बिधु बिहुरे बिधु किए सिसकी सिव में सिव-सुत मात ।
सूरदास धारें को धरनी स्याम सुनौ यह बात ॥

(२३)

आजु बन राजत जुगल किसोर ।
दसन बसन खडित मुख मडित गड तिलक कछु थोर ॥
डगमगात पग धरत सिथिल गति उठे काम रस भोर ।
रति-पति-सारँग-भरन महाछवि उमँगि चलत लगे भोर ॥
स्रुति अवतस बिराजत हरि-सुत सिद्ध दरस-सुत भोर ।
सूरदास प्रभु रसबस कीन्ही परी महारस जोर ॥

(२४)

आजु तन राधा सज्यौ सिंगार ।
नीरज-सुत-सुत-वाहन कौ मत्त स्याम अरुन रग कौन बिचार ॥
मुद्रा-पति भौंवन-तनया-सुत ताके उरहिं बनावति हार ।
गिरि-सुत-तिन पति बिबस करन कौ अच्छत ल पूजत रिपुमार ॥
पय-पिता आसन-सुत सोभित स्याम घटा घन पंक्ति अपार ।
सूरदास प्रभु हस-सुता-तट क्रीडत राधा नन्दकुमार ॥

(२५)

देखि सखि साठि कमल इक ओर ।
बीस कमल परगट देखियत हैं राधा नदकिसोर ॥
सौरह कला सँपूरन मोहयौ ब्रज अरुनोदय भोर ।
तामें सखि इक मधु लागि रहे चितवत चारि चकोर ॥
मैमत द्व मधराज भरे हैं कोटि मदन भै भोर ।
सूरदास बलि-बलि या छबि की असकनि की झकझोर ॥

---

१ स १८१६ में ४१ । ५, मास १ । १ ५ कॉन १२४ । ७ १ ४०
११. स १८०७ में ११८।६, गो ११४।१ क, माथ १ ।१ ४२
२४ स १८ में ४१ ।११ माथ १ ।११ कॉन १३०७, १ ५१ सू रा ११
२५ स १८११ ४१६।१२, माथ १ ।१ कॉन १८ ३।७ सू रा ११

मुरली गुण वर्णन

(२६)

मुरली नाम गुन बिपरीत ।
लीन मुरली गहै मुख धरि, रहत निसिदिन प्रीति ॥
रहत बसी छिद्र परगट हृदै सूझे मग ।
विदित जग हरि अधर पीवत करत ममता पग ॥
चलत ते सब अचल कीन्हें अचल चलत सगत ।
अमर माने मृत्युलोकहि चलत मुह पर सेस ॥
मैनहू मन मगन ऐसो काल गुननि बितीत ।
सूर मै सौ एक कीन्हें रीझि त्रिगुन अतीत ॥

दानलीला

(२७)

लेहौं दान सब अंगनि को ।
अति मदगलित ताल फल ते गुरु इन जुग उरज उतंगनि को ॥
खंजन कंज मीन मृगसावक भँवर जवर भुज मगनि को ।
कुंदकली बंधूक बिंबफल बर ताटंक तरंगनि को ॥
कोकिल कीर कपोत किसलता हाटक हंस फनिगनि को ।
सूरदास प्रभु हँसि बस कीन्ही नायक कोटि अनंगनि को ॥

(२८)

ले हौं दान इन्हनि कौ तुमसौं ।
मत्तमयद हंस हम सौ हैं कहा दुरावति हम सौं ॥
केहरि कनक कलस अमृत के कैसें दुरे दुरावति ।
बिद्रुम हेम बज्र के किनुका नाहिन हमहिं सुनावति ॥
खग कपोत कोकिला कीर खंजन हू सुक मृग जानति ।
मनि कंचन के चित्र भरे हैं एते पर नहिं मानति ॥
सायक चाप तुरग बनिजति ही लिये सबै तुम जाहु ।
चंदन चँवर, सुगंध जहाँ तहँ कैसे होत निबाहु ॥

२६ स १८७३
२७ स १०७१ में २२१/७२
२८ स २२१८ में २७२।

यह बसिअति वृषभानु-सुता तुम हमसों बैर बढ़ावति।
सुनहु सूर एते पर कहियत हम धौं कहा लगावति॥

गोपी दशा वर्णन

(२९)

मेरौ मन हरि-चितवन अरुझान्यौ।
फेरत कमल द्वार ह्वै निकसे करत सिंगार भुलानौ॥
अरुन अमर दसननि दुति राजति मोहन मुरि मुसकानौ।
दधि-तनया-सुत पाँति कमल मैं बदन मुरक मानौ॥
सुभग कपोल सोम मनि कुण्डल इहि उपमा केहि बानौ।
उभय चक्र प्रति पान अमीरस मीन प्रसत बिधि मानौ॥
इहि रस मगन रहत निसि वासर हार-जीत नहिं जानौं।
सूरदास चित-भग होत क्यौं जो जेहि रूप समानौ॥

(३०)

तऊ न गोरस छाँड़ि दियौ।
चहुँफ्ल भवन गह्यौ सारँग रिपु-धामि धुरा अचयौ॥
अमी-बचन-रुचि रचत कपट हठ झगरो फेरि ठयौ।
कुमुदिनि प्रफुलित ह्वौ जिम सकुची मैं मृग चद नयौ॥
जानि निसा ससि रूप बिलोकति नवलकिसोर भयौ।
सब तें सूर नैकु नहिं छूटत मन अपनाइ लयौ।

राधारूप-वर्णन

(३१)

नद-गाँव की मारग बूझै है हा कोउ दधि बेचनहारी।
सुनहु न स्याम कठिन तन गारै बिधुबदनी घट हाटक ढारी॥
अपमा की सुख ताहि बिरचै जाहि बिरचि सीस पर धारी।
कमल कुरंग चलत बदना भरत रास्यौ निकट निपंग सँवारी॥

---

२९ स ११७९ में ३९ अ
३ स ११७६ ११२ ।१ अन्त ८१ ।१७
३१ स ११११

गति मराल सावक ता पाछे आवक मुकता सुमन बिसारी ।
सूरदास प्रभु कहत बने नहिं सुख संपति वृषभानु कुमारी ॥

रति-वर्णन

(३२)

राधा बसन स्याम तनु चीन्ही ।
सारँग बदन बिलास बिलोचन हरि सारँग जानि रस कीन्ही ॥
सारँग बचन कहत सारँग सों सारँग रिपु दै राखति झीनी ।
सारँग पानि गहत रिपु सारँग सारँग कहा कहति सियो छीनी ॥
सुधापान करि कै नोकी विधि राखी सेस फिरि मुद्रा दीन्ही ।
सूर सुदेस माहिं रति नागर, भुज आकरषि बाम कर लीन्ही ॥

रामायण वर्णन

(३३)

राधे दधि-सुत क्यों न दुरावति ।
हौं जु कहति वृषभानु नंदिनी काहे जु जीव सतावति ॥
जलसुत दुखी दुखी है मधुकर द्वै पंछी दुख पावत ।
सारँग क्यो हाल बिनु सारँग ताहि दया नहिं आवत ॥
सारँग-रिपु की नेकु ओट करि ज्यों सारँग सुख पावत ।
सूरदास सारँग किहिं कारन सारँग कुलहिं लजावत ॥

दृष्टकूट-वर्णन

(३४)

नंद-नंदन दरसन जब पैहौ ।
एक द्वै तीनि तजि चारि बाली भजि पाँच घ निदरि, सातें सुखैहौ ।
आठहू गाँठि परि है नवहू दस दिसि भूलिहौ ग्यारहो रह पैहै ।
बारही ममा तें तपनि तन ए मिटति तेरही रतन सुख छबि न तेहें ॥

---

१ [illegible] १२ १२ [illegible] १५ [illegible]
१११
१२ [illegible] १२।२१ [illegible] १५ [illegible]
११ १
१ [illegible] ११० [illegible]

निपुन चौदह बरन पंद्रही सुभग प्रति बरप सोरह सतरहौ म रैहै ।
जपत अठारहवों भेद उनइस नहीं बीसहू बिस तें सुगहि पैहै ॥
नैन भरि देखि जीवन सफल करि सखि ब्रजहि म रहस व नहीं जानै ।
सूर प्रभु चतुर, तुमहूँ महाचतुर हौ जैसी तुम तसे बेऊ सयाने ॥

(१५)

प्रात समैं आवत हरि राजत ।
रतन जटित कुण्डल सखि स्रवननि ताकी किरन सूरतनु लाजत ॥
सातें रासि मेलि द्वादस मैं ता भूषननि अलकत साजत ।
असधिवात तिहि नाम कठ के तिमके पस मुकुट सिर भ्राजत ॥
पृथिवी दुही पिता सो लेकर मुख समीप मधुरे धुनि बाजत ।
सूरदास प्रभु सुनहु मूढ जन भगतनि भजत अभगतनि भाजत ॥

(१६)

हरिमुख निरखति नागरि नारि ।
कमलनयन के कमल बदन पर वारिज वारिज वारि ॥
सुमति सुन्दरी सरस पिया रस लंपट माँडी आरि ।
हरि पुकारि जु करत बसीठी प्रथमहि प्रथम चिन्हारि ॥
राखति ओट कोटि जतननि करि झाँपति अचल झारि ।
खजन मनहु उडन कौं आतुर सकत न पख पसारि ॥
देखि सरूप स्याम सुंदर को रही न पलक सम्हारि ।
देखहु सूर अधिक सूरज तनु अजहूँ न मानी हारि ॥

(१७)

पीतांबर की सोभा सखोरी मो पै कही न जाई ।
सायर-सुत-पति आयुध मानौं ससरिपु-रिपु मैं देत दिखाई ॥
जा रिपु पवन तासु-सुत-स्वामी धामा सु बस कोटि छिपाई ।
छाया-पति-सुत अन्न विराजत संपुट अधरनि रह सजाई ॥
नागो-नायक-बाहन की गति राजत मुरली मधुनि बजाई ।
सूरदास प्रभु हर सुत-बाहन तासुत से हरि लाल सजाई ॥

---

१५. स १०१८ दे १००११० [illegible] ११ २ भाव १ १७ क वाँ ८
 १००४ सू स १
१६ सु १०१४ वे १०१८।१९
१७ स १०१६ व १ १०१२ [illegible] १ १ ११ वौर ८ १०१२ १४ १०१२
 सू स १०

धर्मसुत के अरि-सुभावहिं तजति अरि सिर पानि।
सूरदास विचित्र बिरहिनि चूक मिज मम मानि॥

(४४)

सारँग सारँगधरहिं मिलावहु।
सारँग बिनय करति सारँग सौं सारँगदुख बिसरावहु॥
सारँगसमै दहत अति सारँग सारँग तिनहिं दिखावहु।
सारँगगति सारँगधर जहँ सारँग जाइ मनावहु॥
सारँगचरन सुभग कर सारँग सारँगनाम बुलावहु।
सूरदास सारँग उपकारिनि सारँग मरत जियावहु॥

राधारूप-वर्णन

(४५)

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चंद ता ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छबि उपमा ताकौ करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानौ अधरनि के बड़भाग॥

(४६)

पदमिनि सारँग एक मँझारि।
आपुहिं सारँग नाम कहावै सारँगबरनी बारि॥
तामैं एक छबीली सारँग अधसारँग उनहारि।
अध सारँग परि सकलइ सारँग अधसारँग बिचारि॥
तामैं सारँग-सुत सोहत है ठाढ़ी सारँग नारि।
सूरदास प्रभु तुम हूँ सारँग बनी छबीली नारि॥

४४. स० १७२ [illegible]
४५. स० १७१ [illegible]
४६. स० [illegible]

(४७)

बिराजत अंग अंग इति भाँत।
अपने कर करि धरे बिधाता षटदस नव अवदात ॥
द्वै पतंग ससि बीस एक फनि चार बिबिध रँग धात।
द्वै पिक बिम्ब बतीस बज्रकन, एक जलज पर घात ॥
इक सायक इक चाप चपल अति चितवत चित्त बिकात।
द्वै मृनाल मातुर उभै द्वै कदलिखंभ बिनु पात ॥
इक केहरि, इक हंस गुपत रहै तिनहिं सम्पी मह मात।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कौं अति आतुर अकुलात ॥

विरह-वर्णन

(४८)

मनसिज माधवैं मानिनिहिं मारि है।
ओटि पर सब अरस परयौ अर निरखि निमिष कौं तारि है ॥
किसलय कुसुम कुस मम सायक पावक पवन बिचारि है।
अ मबल्ली पर दीप धुमधनो धनति अनल तिय जारि है ॥
भँवर धु एक मकुल चामर कर भरि बंदुप ग्रग डारि है।
पुनि पुनि बाज माज सुनि सुन्दरि अखिल तिनहिं सखि मारि है ॥
बिरह बिभूति बढी बनिता बपु सीस जटा घन बारि है।
मुख ससि सेम रह्यौ सित मानौं भई तमी उनहारि है ॥
बीम दते पै गली कृपानिधि सी वै निज कर सारि है।
सूरदास प्रभु रसिकसिरोमनि तुम तजि काहि पुकारि है ॥

रति-क्रीड़ा

(४९)

रसना जुगमरसनिधि बोल।
कनककेलि तमाम मरमी सुधुजमंच अमोल ॥
पंगजूप सुधाकिरनि मनु सघन आवत जात।
सुरसरी पर तरनितनया उमँगि तट न समात ॥

४७. [illegible]
[illegible]
४८. [illegible]
४९. [illegible]
[illegible]

धर्मसुत के अरि-सुभावहि तजनि धरि सिर पानि ।
सूरदास विचित्र विरहिनि चूक निज मन मानि ॥

(५४)

सारँग सारँगधरहि मिलावहु ।
सारँग विनय करति सारँग सौं सारँगदुख बिसरावहु ॥
सारँगसमै बहुत अति सारँग सारँग तिनहिं दिखावहु ।
सारँगगमि सारँगधर जहँ सारँग जाइ मनावहु ॥
सारँगचरन सुभग कर सारँग सारँगनाम बुलावहु ।
सूरदास सारँग उपकारिनि सारँग मरत जिवावहु ॥

राधारूप-वर्णन

(५५)

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग ॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग ॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक,पिक मृगमद काग ।
खंजन धनुष चंद ता ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग ॥
अंग अंग प्रति और और छबि उपमा ताकौ करत न त्याग ।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानौ अधरनि के बड़भाग ॥

(५६)

पदमिनि सारँग एक मँझारि ।
आपुहिं सारँग नाम कहावै सारँगबरनी बारि ॥
तामैं एक छबीली सारँग अधसारँग उनहारि ।
अध सारँग परि सज्जाइ सारँग अधसारँग बिचारि ॥
तामैं सारँग-सुत सोहत है ठाढ़ी सारँग मारि ।
सूरदास प्रभु तुम हु सारँग बनी छबीली नारि ॥

५४ [illegible]

५५ [illegible]

५६ [illegible]

(४७)

बिराजत अग अग इति भात।
अपने कर करि धरे विधाता षटदस नव जलजात ॥
द्वै पतंग ससि बीस एक फनि चार विविध रँग भात ।
द्वै पिक बिम्ब बतीस बज्रकन, एक जलज पर घात ॥
इक सायक इक चाप चपल अति चितवत चित्त बिकात ।
द्वै मृनाल मासूर उभै द्वै कदलिखंभ बिनु पात ॥
इक केहरि इक हंस गुपत रहै तिनहिं सम्यो यह गात ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कौं अति आतुर अकुलात ॥

विरह-वर्णन

(४८)

मनसिज माधवे माननिहिं मारि है ।
भौंहि पर भव धरत परयौ भर निरखि निमिष कौं टारि है ॥
किसलय कुसुम कुंत सम सायक पावक पवन बिचारि है ।
द्रुमबल्ली पर दीप जुगनूनी जगति अनल तिय जारि है ॥
भँवर जु एक अकृत चामर कर भरि बंदुप सग डारि है ।
पुनि पुनि बाज बाज सुनि सुन्दरि त्रसित तिनहिं ससि मारि है ॥
विरह विभूति चढ़ी मलिता वपु सीस जटा श्रम धारि है ।
मुख ससि सेस रह्यौ सित मानौं भई तमो उनहारि है ॥
जौ न इतै पै चली कृपानिधि तौ मैं निज कर टारि है ।
सूरदास प्रभु रसिकसिरोमनि तुम तजि काहि पुकारि है ॥

रति-क्रीड़ा

(४९)

रसना जुगलरसनिधि बोल ।
कनकबेलि तमाल अरुझी सुभुजबंध अलोल ॥
मु मकूप सुधाकिरनि मनु सघन आवत जात ।
सुरसरी पर तरनितनया उमगि तट न समात ॥

---

४७. [illegible]
४८. [illegible]
४९. [illegible]

कोकनद पर तरनि तांडव मीन खंजन संग।
कीर तिल अस सिखर मिलि जुग मनौं संगमरंग॥
जलद ते तारा गिरत खसि परत पयनिधि माँहि।
जुग भुजंग प्रसन्न मुख ह्वै कनक घट लपटाँहि॥
कनकसंपुट कोकिला रव बिबस ह्वै ... दाम।
बिकच कंज मनारंगिम पर ललित करत पयपान॥
दामिनी थिर घनघटा बर कबहुँ ह्वै इहि भाँति।
कबहुँ दिन उद्योत कबहूँ होत अति बहुराति॥
सिंधु मध्य सनाद मनिगन सरस सर के तीर।
कमलजुग बिनु नाल उलटे कछुक तीक्ष्न नीर॥
हंस सारस सिखर बसि बसि करत नाना नाद।
मकर निजपद निकट बिहरत मिलत अनि अाहु नाद॥
प्रेम हित कै छीरसागर भई मनसा एक।
स्याम मनि के अंग चंदन अमी के अभिसेक॥
सूरदास सखी सबै मिलि करति बुधि बिचार।
समय सोभा समि रही मनु भूम भौ संसार॥

युगलरूप-वर्णन

(२)

मधे री हेली नैननि मैं पट इंदु।
नंद-नँदन वृषभानु-नंदिनी सखी सहित सोहत अरबिंदु॥
द्वादस ही पतग ससि सौ बिस पट फनि चौबिस चतुरंग धनु।
द्वादसही दिव सौ बानवै बयालन पट कमलनि मुखचपात जु मद॥
दृवादस ही मृनाल करली खंभ तिल द्वादस मराल अानंद।
द्वादस ही सायक द्वादस धनु खग क्यालीस माधुरी फंद॥
चौबिस चतुष्पदनि सोभा कीन्ही मनु चलत जुवत करभा मकरंद।
पीत नीर दामिन बिच राजत अनुपम छबि श्रीगोकुलचंद॥
साठि बसन घर दृवादस सरवर अगहिं अम सरस रसकंद।
सूर स्याम तन मन धर बारति ललिता बेलि अमी आनंद॥

२ सू० १६८६। ... ।१४०

(५१)

सँग सोभित वृषभानु किसोरी।
सारँग नैन बैन बर सारँग सारँग बदन कहै छबि कोरी॥
सारँग अधर सुधर कर सारँग सारँग जाति सारँग मति भोरी।
सारँग दसन हसन पुनि सारँग सारँग बसन पीत पट डोरी॥
सारँग चरन पीठ पर सारँग कनक खंभ मनी महि लसौ री।
सारँग बरन भौंहि पुनि सारँग सारँग मधि सारंग कटि थोरी॥
सारँग पुलिन रजनि रुचि सारंग सारँग अंग सुभग भुज जोरी।
बिहरति सघन कुंज सखि निरखति सूर स्याम घन दामिनि गोरी॥

मैन-शोभा

(५२)

मोहन लालच तैं न टरै।
हरि सारँग सौं सारँग सीस दधिसुत साज धरै॥
ज्यौं मधुकर बस परे केतकी महिं ज्यौं न निकरै।
ज्यौं लोभी लोभहि महिं छाँडत मैं मति उमँग भरै॥
सनमुख रहत सहत दुख दारुन मृग ज्यौं नाहिं डरै।
वे लोभी यह जानत हैं सब हित चित सदा करै॥
ज्यौं पतंग फिरि परत प्रेम बस जीवत सुरति मरै।
जैसे मीन अहार लोभ तें लीलत पर्यौ गरै॥
ऐसेहि मुग्ध भए हरि छबि पर जीवत रहत भिरै।
सूर सुभट ज्यौं रन महिं छाँडत पवनौ धरनि गिरै॥

(५३)

मोहन लालची भए री।
सारँग रिपु के हरत न रोकै हरि सम्प सिधाए री॥

---

५१ म १७८१ वे १२५।२१ सभा २२३।१४ दि १५६।१२७ माथ १।२६१ श वाँ ११।१४४ बाँक ८८-१।११ सू म ४४
५२ म २१२१ वे ११।८७ दि १६।१४१ सो-१२।१७० बाँ० वाँ ३८।१६।४
५३ म २११७ [illegible] ३५२ ५४ वो १२६।७७ [illegible] वाँ ३४६।१।१०१ दि ११६।७१२

काजर कुलुफ मेलि मैं राखे पलक कपाट दए री।
मिलि मम सुत पैज करि निकसे भ्रकुटि स्याम पै धौरि गए री।।
हौं माधीन पंच तैं न्यारे कुल मज्जा न नए री।
सूर स्याम सुन्दर रस अटके मानों उहँई छए री।।

(५४)

स्यामरँग नैना राँचे री।
सारँगरिपु तें निकसि निसज भए भव परगट ह्वै नाचे री।।
मुरलीनाद मृदंग मृदंगी प्रबर बजावनहारे।
मदमन बर भर बेरि बसावत लोभ नचावनहारे।।
बचसता निरतनि कटाच्छ रस भाव बतावत नीके।
सूरदास रीझे गिरधारी मनमान उनहीं के।।

विरहदशा

(५५)

तैं जु पुकारे हरि पै जाइ।
जिनकी यह सब सौंज राधिका तुव तनु लई छँडाइ।।
प्रभु कहि हौ बदन बिमोयौ अलकनि अलि समुदाइ।
नैननि मृग बचननि पिक छूटे बिसपत छ्रिरिहि सुनाइ।।
कमल कीर, केहरि, कपोत गज कनक कदलि दुख पाइ।
बिद्रुम कुन्द सुधन संग मिलि सरन गए अकुलाइ।।
प्रति प्रतीति जिय जानि सूर प्रभु पठई मोहिं रिसाइ।
बौसी है ब्रजनारि बेगि चलि प्रब उत्तर दै पाइ।।

राधा-रूप-वर्णन

(५६)

सहज रूप की रासि नागरी भूपन अधिक बिराजै।
सुत मीरम संमिलित सुधानिधि एकछता पर छाजै।।
बदन बिंदु धारि मिलि सोभित धम्मिल नीर धगाध।
मनहुँ काम रवि रस्मिनि संचित तिमिर कूट ह्वै माथ।।

५४ सू ... ११६ । ५५ दि ... १६ । ७ ... क का ... । १६
... ५५५ । । ११६ १६०
५५ सू ... ५ ... ५ ... ५५५ । ५८, ... १ ... । ६
५ ... १ ... ५ ... ५६ । ६६

मानिक मध्य पास बहुँ मोती पगति झलक सिंदूर ।
रेंग्यौ तनुतम तट तारागन उगत भेरयौ सूर ॥
कीममममरघषक्र कि तरिवन रबिरथ रचित सुसाज ।
स्रवन कूप की रहट घटिका राजत सुभग समाज ॥
नासानिय मुक्ता बिम्बाधर प्रतिबिंबित भसमूष ।
बींध्यौ कनक भास सुक सुन्दर करक जीव गहि पूष ॥
कहुँ ससि कहीं भूपननि भूषित भग भग के रूप ।
सूर सकल सोभा श्रीपति कें राजित नन अनूप ॥

युगल-रूप-वर्णन

(५७)

देखौं सात कमल इक ठौर ।
तिनकौं अति आदर देव कौ धाइ मिले द्वै और ॥
मिलत मिले फिरि घसत न बिछुरत अवलोकत यह चाल ।
न्यारे भये बिराजत हैं सब अपने सहज सनाल ॥
हरि तिनि स्याम निसा निमि नामक प्रगट होत हँसि बोले ।
चिबुक उठाइ कह्यौ अब देखौ अबहुँ रहति अनबोले ॥
इतनै बसन किए नँदनंदन तब वै निठुर भगाई ।
भरि कै अंक सूर के स्वामी परियँक पर गहि ल्याई ॥

(५८)

देखौं सोभा सिंधु समात ।
स्यामा स्याम सकल निसि रसबस जागे होत प्रभात ॥
कै पाहनसुत कर सनमुख दै निरखि निरखि मुसकात ।
अम्बरज सुभग बेद-जल-जातक कनक-नील-मनि गात ॥
उदित जराउ पच तिय रवि ससिकिरनि तहाँ सुदुगात ।
चपल लग वसु भध्य कजदल सोभा बरनि न जात ॥
चारि कीर पर पारस बिद्र म आनि अलीगन खात ।
मुख की रासि जुगल मुख उपर सूरदास बलि जात ॥

---

५७. म ११७ से १००।१
५८. म १०८२ से १७। क. कां ११४।७।५४

(५९)

देखि सखि पाँच कमल द्वै संभु।
एक कमल ब्रज ऊपर राजत निरखत नैन अचंभु॥
एक कमल प्यारी कर लीन्हें कमल सुकोमल अंग।
जुगल कमल मुख कमल बिचारत प्रीति न कबहूँ भंग॥
षट पद कमल मुख सनमुख चितवत बहुविधि रंग तरंग।
तिन मैं तीन सोम-बसी-बस तीन सुकल्प अंग॥
तेई कमल सनकादिक दुरलभ जिनतें निकसी गंग।
तेई कमल सूर नित चितवत निपट निरन्तर संग॥

(६०)

देखि सखि चार चंद इक ठौर।
निरखति बैठि नितंबिनि पिय सँग सार-सुता की ओर॥
द्वै ससि स्याम नवलघन सुंदर द्वै बिधु की छबि गोर।
तिनकै मध्य चारि सुक राजत द्वै फल आठ चकोर॥
ससि ससि सम प्रकास कुन्दकलि अरुझि रही मनमोर।
सूरदास प्रभु मति रतिनागर बलि बलि जुगलकिसोर॥

(६१)

देखि री प्रगट द्वादस मीन।
षट इंदु द्वादस तरनि सोभित बिमल उडुगन तीन॥
षट मध्य अंबुज और षट मुख कोकिला सुर एक।
दस दोय बिद्रुम दामिनी षट तीनि व्याल बिसेष॥
त्रिबलि पर श्रीफल बिराजत परस पर बरनारि।
ब्रजकुँवरि गिरिधर कुँवर पै सूर मन बलिहारि॥

(६२)

देखि सखि तीस भानु इक ठौर।
ता ऊपर चालीस बिराजत रबि न रही कछु और॥

---

५९ [illegible]
६० [illegible]
६१ [illegible]
६२ [illegible]

घर तैं गगन गगन तैं धरती ताबिच कियौ बिसतार ।
गुन निर्गुन सागर की सोभा बिनु रवि भयौ भिनुसार ॥
कोटिन कोटि तरंगनि उपजति भोग जुगति चित लाउ ।
सूरदास प्रभु अकथ कथा कौ पंडित भेद बताउ ॥

रति क्रीड़ा-वर्णन

(६३)

सुता दधिपति सौं क्रोधभरी ।
अंबर सेत भई सिफ बालहि सारँग सग भरी ॥
तब श्रीपति अति बुद्धि बिचारी ममि सौं हाथ धरी ।
वै अति चतुर नागरी नागर स मुख माँझ भरी ॥
चापत चरन सेस चलि आयौ उदयाचलहि ढरी ।
सूरदास प्रभु चाहि चहूँ दिसि कठ लागि उबरी ॥

(६४)

सकुचि तनु उदधिसुता मुसुकानी ।
रविसारथीसहोदर सा पति अंबर सेत समानी ॥
सारँगपानि मूँदि मृगनैनी मनि मुख माँझ समानी ।
चरम चापि महि महि प्रगटायौ देखत अति अकुलानी ॥
सूरदास तब कहा करै अबला अब हरि मह मति ठानी ।
कंचुकि कसनि उघारि कठिन कुच स्याम अंक लपटानी ॥

(६५)

स्याम रतिअंत रस इहै कीन्हौं ।
कहत पुनि पुनि कहा अंग अधर सजहु मैं रही सकुचि गहि आपु सीन्हौं ॥
कियौ तब मैं कहा सरी सारँग सौं सारँगधर धरति तब चरन चापी ।
सेस सहसौं फननि मननि की उद्योति अति त्रासतें कठ लपटाइ काँपी ॥
रही उनकी टेक चर्स मेरी कहा धरनि गिरिराज भुज सबल भारी ।
सूर प्रभु के सखी सुनहु मुन रैनि के वे पुरुष मैं कहा कहौं नारी ॥

---

६३ स १२४ में [illegible]
[illegible]
६४ स [illegible]
[illegible]
६५ स [illegible]

राधा-शृंगार-वर्णन

(६६)

बिधुबदनी अंग कमल निहारै ।
सुमनासुत से कमलनि मज्जति धनपति धाम की नाम सँवारै ॥
उरनिवातबनितासुत तासुबि कमलनि रचि रचि पंदित धारै ।
कमल कमल पर रेख बनावति सारँगरिपुबाहनमति डारै ॥
उर हारावलि मेलनि कमलनि मनहुँ इंदु पारस हिम पारै ।
सूर स्याम के नामहिं जीतन कमलापति के पदहिं बिचारै ॥

(६७)

आजु तोहिं काहे न आनँद थोर ।
यह बिपरीत सखी तोहिं महियाँ इतु कज इक ठौर ॥
हर श्रावन सतत अधिकारी ज्यो बिधि चंद चकोर ।
ससिगृह जुगल बनावलि क्यों नहिं बिगसित अंबुज भोर ॥
कंपित स्वास त्रास अति मो मति ज्यों मृग केहरि कोर ।
सूरदास स्वामी रति नागर हर यु सियो मन मोर ॥

(६८)

रति-दशा-वर्णन

अहो राजति राजीव नैन छबि उरगमना रँग लाग ।
जिहिं बनिता रसबस कोहूँ निसि प्रगट होत अनुराग ॥
सिथिल अंग अरु सिथिल पाग बनी सिथिल चरन अति भाग ।
मनहुँ सेत रेखा हर तें उठि आवत है गजराज ॥
लाल मध्य ज्यावक रँग देखत लागति है मोहिं लाज ।
तुम अपनें जिय यों जानत हो तिलक लोक भय राज ॥
हस बंधु कर लोचनि अमना मिलित निसाकुन काज ।
पवन भीमसुत अम्यो अधर पर यह छबि कही न जाय ।
मनु बंधूक सुमन ऊपर बिय अलिसुत बैठे आय ॥
कुचकुंकुम अवसेप तरुनि किये सोभित स्यामल गात ।
मत पतग राकाससि बिय छग कच सघन सोभात ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]

स्याम हृदय लाछन ता ऊपर लगी करजकृत रेख ।
मनहुँ बसत राम रुचि कीरति प्ररुनकिसलसरमेष ।।
काम बान कर लिए पच चितवत प्रति अँग अँग लाग ।
प्रब न काज गृह वेंउ पियारे जब भाए तब भाग ।।
ता दिन ते वृषभानुनदिनी मनत जान नहिं दीन्हें ।
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन इहिं विधि रसवस कीन्हें ।।

नख शिख-वर्णन

(६९)

राधे तेरे नैन किधौ री बान ।
यौं मारे क्यों मुरछि परे घर, क्यों करि रार्ख प्रान ।।
खग पर कमल कमल पर कदली कदली पर हरि ठाम ।
हरि पर सरवर सर पर कलसा कलसा पर ससि भान ।।
ससि पर बिंब कोकिला ता बिच कीर करत अनुमाम ।
बीच बीच दामिनि द्युति उपजति मधुप वृन्द असमान ।।
सु नागरि सब गुननि उजागरि पूरनकलानिधान ।
सूर स्याम तुव दरसन कारन व्याकुल परे अजान ।।

सखी की उक्ति

(७०)

दधिसुतबदनी राधिका दधि दूर निवारौ ।
दधिसुत दृष्टि मेलि दधिसुत मैं दधिसुतपति सो क्यों न विचारौ ।।
धरहिं छाँड़ि के धरहिं पकरि लै धरहु सता घनस्याम सँवारौ ।
हार पहिरि करि, हार पकरि करि हारि गोवर्धननाथ निहारौ ।।
समुझि चली वृषभानुनंदिनी आलिंगन गोपाल पियारौ ।
विद्यमान कलहंस जात गति सूरदास अपनौ तनु वारौ ।।

---

६९ स ३३२ में ४ ।६९ [illegible] ३२२ [illegible] १७७।[illegible] [illegible]
[illegible] १।६६ [illegible] ३३
७० स ३३१४ में ४ १।६७ [illegible] [illegible] ३३ [illegible] १।९।[illegible]

सखी का राधा से मान त्यागने को कहना

(७१)

राधे हरिरिपु क्यों न छिपावति ।
मेरुसुतापति ताके पतिसुत ताकों क्यों न मनावति ॥
हरिवाहन ता वाहन उपमा सो तै भरे दिखावति ।
नव भव सात बीस तोहि सोभित काहे गहरु लगावति ॥
सारँग बचन कह्यो करि हरि सौं सारँग बचन न भावति ॥
सूरदास प्रभु दरस बिना तुव लोचन नीर बहावति ॥

(७२)

राधे हरिरिपु क्यों न दुरावति ।
सैलसुतापति तासु सुतापति ताकै सुतहिं मनावति ॥
हरिवाहन सोभा सह ताकी कैसे भरे सुहावति ।
है भव चार छहौं मै बीते काहे गहरु लगावति ॥
नव भव सात ए सु तोहि सोभित तै तू कहा दुरावति ।
सूरदास प्रभु तुम्हर मिलन कौं सारँग भरि भरि आवति ॥

(७३)

राधे हरिरिपु क्यों न दुरावति ।
सारँग-सुत वाहन की सोभा सारँग-सुत न बनावति ॥
सैलसुतापति ताके सुतपति ताके सुतहिं मनावति ।
हरिवाहन के मीत तासु पति तापति तोहिं बुलावत ॥
राकापति महि किन्यो उयो सुनि या समये नहिं आवत ।
विविध बिलास अनन्द रसिक सुख सूर स्याम गुन गावत ॥

(७४)

राधे तै यह कोप करयौ ।
मावन रच तापति भासूपन मानस कोप हरयौ ॥

[illegible]

७२. [illegible]

७३. [illegible]

७४. [illegible]

मृग कोदंड भवनिधर चपला विवस धु कीर भर्यो ।
पिक, मृनाल भरि ता भरि कपहि तें बपु भाप भर्यो ॥
मनचरगति मृगराज सकुचि जिय सोचन जाइ पर्यौ ।
सूरदास प्रभु कों मिलि भामिनि निसि सब बात टर्यौ ॥

(७५)

कहि पठई हरि बात सुचित दै सुनि राधिका सुजान ।
तै धु बन्स भंकयौ भुकि भवल यहै न दुख मेरे मन मान ॥
ईहि मैं दुसह जु इतनेहि भंतर उपजि परै कछु भान ।
सरदसुधाससि की मम कीरति सुनियत अपने कान ॥
खंजरीट मृग मीन मधुप पिक कीर करत हैं गान ।
विद्रम भरु बंधूक बिंब मिलि देत कबिन छबिदान ॥
दाडिम दामिनि कुंदकली मिलि भाद्यौ बहुत बखान ।
सूरदास उपमा मसहन गन सब सोभित बिन भान ॥

(७६)

रही है धू घट पट की भोट ।
मनौ कियौ फिरि मान मवासो मनमथ बकट कोट ॥
नहसुतकील कपाट सुलच्छन व हग द्वार भगोट ।
भीतर भाग कृष्न भूपति को राखि भभर मधुभोट ॥
भजन भाइ तिलक भाभूपन सजि भायुध बड छोट ।
भ्रकुटी सूर गही करि सारँग करति कटाच्छन चोट ॥

(७७)

व धु मोल पट भोट दियौ री ।
सुनि राधिका स्याम सुन्दर सों बिनहिं काज भति राप कियौ री ॥
जलसुत बिब मई भति सोभा मनहुँ सरद् ससि राहु गह्यौ री ।
भूमि-भवल सिर मजन कीन्हौ उरगासन रिपु ताहि दियौ री ॥
तुम भति चतुर सुजान राधिका बत राख्यो भरि मान हियौ री ।
सूरदास प्रभु भँग भँग नागरि मनहुँ काम बियकप कियौ री ॥

---

७५. [illegible]
७६. [illegible]
७७. [illegible]

(७८)

सारँगरिपु की ओट रहे दुरि सुन्दर सारँग चार।
सखि मृग फनिन चुनिग द्वै अँग अँग सारँग की अनुहार॥
तामैंह एक अवर सुत सारँग बोलत बहुरि बिचारि।
परकृत एक नाम है दोऊ किधौं पुरुष किधौं नारि॥
डोकति कहा प्रमहित सुन्दरि सारँग मैकु उघारि।
सूरदास प्रभु मोहे रूपहि सारँग बदन निहारि॥

(७९)

यह तेरौ वृन्दावन बाग।
सुनि राधिके कदंब बिटप की साखा एक अमीफल लाग॥
स्याम पीत कछु अरुन चित्र छबि बरनि जाइ नहिं अंग बिभाग।
अति सुपक्व मुरली के परसत ज्यौं ज्यौं परत उमँगि अनुराग॥
ब्रज बनिता बर बारि कनक मय रोके रहति सुरासुर नाग।
तुव परताप छत्र दै रक्षति मन सुन्दरि सुर मुनि मरकट कोकिल काग॥
हौं मालिन अक्षमनि बल चुगयो सींचति हाथ परे अति दाग।
सूर स्याम उठि भेंटि परसपर पिय पियूष पायौ बड़भाग॥

राधा-रूप-वर्णन

(८०)

राधे तेरौ रूप न धाम सौं।
सुरभी-सुतपति ताकौ भूषन आनन देति ललाम सौं॥
सिंधु-सुता पति तासुत सुत बन उदित न पूर्व भाम सौं।
मीन रसाल कोकिल सुर साथे अंबुज बिस कुम्हिलाम सौं॥
विद्रुम अधर दसन दाडिम कन भ्रकुटी धनुष सुठाम सौं।
सूरदास प्रभु सौं बन मिलिहै सुफल रूप नस्यान सौं॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

(८१)

राधे मह छबि उसनि भई ।
सारँग ऊपर सुन्दर कदली तापर सिंह ठई ॥
ता ऊपर द्वै हाटक बरने मोहनि क ममई ।
तापर कमल कमल बिच विद्रुम तापर कीर सई ॥
ता ऊपर द्वै मीन चपल है सोतिनि साथ रही ।
सूरदास प्रभु देखि अचभौ कहत न परत सही ॥

(८२)

जलसुतप्रीतमसुतरिपुबंधवआयुध आनन बिलखि भयो री ।
मेरुसुतापति बसत जु माथे कोटि प्रकाश नसाइ गयो री ॥
मारुतसुतपतिअरिपुरवासी पितुबाहनभोजन न सुहाई ।
हरसुतबाहनअसन सनेही मानहुँ अनल देह दो लाई ॥
उदधिसुतापति ताकर बाहन ता बाहन कसे समुझावे ।
सूरदास प्रभु भरम सुबन रिपु ता भौतारहि मलिल बहावे ॥

मान छोड़ने का आग्रह

(८३)

उठि राधे कस रैनि गँवावे ।
महिसुतगति तजि जलसुतगति लै सिधुसुतापति भवन न आवे ॥
अलिबाहन को प्रीतम-बाला ता बाहनरिपु ताहि सतावे ।
सो निवारि चलि प्रान पियारी परमसतहि भलि भाव न पावे ॥
सैलसुतासुतबाहन सजनी ता रिपु ता मुख सबद सुनावे ।
सूरदास प्रभु पथ निहारत तोहि ऐसी हठ क्यो बनि आवे ॥

(८४)

तनि हठ करहु सारँग नैनी ।
सारँग ससि सारँग पर सारँग ता सारँग पर सारग बैनी ॥

---

८१ [illegible]
[illegible]
८२ [illegible]
[illegible]
८३ [illegible]
८४ [illegible]

सारँग ग्रसन दसन पुनि सारँग सारँगसुत हम निरखनि पैनी ।
सारँग कहूँ सु क्यों न बिचारी सारँगपति सारँग रवि छैनी ॥
सारँग सबनहि सै जु बरनि गई भयौ न मानति मद मद रैनी ।
सूरदास प्रभु सुख भग बोर्धै मधक रिपु तारिपु सुख दैनी ॥

(८५)

कमल पर बस्त भरति उर माइ ।
राजति रमा कुँभ रस मस्तर पति निज बस बस साइ ॥
बीनभेम संपुट सनकादिक बै मद बिर्ज सखाइ ।
भौसर बाग बिसारद भारद हाहा जित गुन गाइ ॥
कनक दंड सारग बिबिध रव निगम सिव सुर ध्याइ ।
तिनके चरन सरोज सूर मन बरसम किए गुर कृपा सहाय ॥

बिरह-बर्णन

(८६)

सखी री हरि बिनु है दुख भारी ।
सिंहिकासुतहरसूषम ग्रसि ज्यौ सोइ मति भई हमारी ॥
सिखर बन्धु मरि क्यों न निबारति पुहुप धनुष सौ के बिसेख ।
चन्द्रसखा उरहार मसी ज्यो बिनु दुतिया बपु रेख ॥
घटसुतअसन समयसुत आनन भमी पसित चैसें मेत ।
जलचर ब्योम मधुकर मुखत नैन होड बदि सेत ॥
मधुपति प्रभु मिलि प्रानि मिलावौ हरिसुत मारति मानि ।
जैसे हरि करि बन्धु प्रगट भए तैसिय मारति मानि ॥
पर आनन बाहन कानन मैं मन रजनी तेहि बासी ।
सूरदास प्रभु चतुर सिरोमनि सुनि चातिक पिक बासी ॥

(८७)

कहाँ सो राखिए मन बिरमाइ ।
इकटक सिबधर नैनन लावत स्यामसतासुतमनि चलि माई ॥

---

८५. स. ह३४० में ४७६।१५
८६. स. ह५४ में [illegible]
[illegible]
८७. स. ११ में [illegible]

हरवाहन दिनबासमहोवर तिहिं पति उदित मुरलि महि माई।
गिरिजापतिरिपु नखसिख व्यापत बसत सुधा प्रिय कथा सुनाई॥
विरहिनि बिरह मापु बस कीन्हों सेत कमल जिमि पाँइ छुवाई।
वेगिहि मिलौ सूर के स्वामी उदधिसुतापति मिलि है माई॥

(८८)

माधव बिलमि बिदेस रहे।
भ्रमरराजसुत नाम रैन दिन चितवत नीर बहे॥
मारुतसुतपति नन्द मेह तजि हरिमुख बचन कहे।
बसंरितु नाम जानि भ्रव लागी काके मेह महे॥
कपीपतिपितु तासु भारिधर ता भरि भ्रम दहे।
षटसुतरिपुतनयापति सजनी उर भति कपट गहे॥
सैमासुतापति तासुनबाहनबोम न जात सहे।
सूरदास यह बिपति स्याम सौं को समुभाइ कहै॥

(८९)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं आपै प्रान दह्यौ॥
अलिसुत प्रीत करी जलसुत सौं सम्पुट माँझ गह्यौ।
सारँग प्रीति करी जु नाद सौं सनमुख बान सह्यौ॥
हम जो प्रीति करी माधौ सो चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनी नैननि नीर बह्यौ॥

(९०)

हरिसुत पावक प्रगट भयौ री।
मारुतसुतपतिप्रोहित ता प्रतिपालन छाँडि गयौ री॥
हरसुतबाहनअसनसनेही सो आगत प्रेम भ्रमसमयौ री।
मृगमदस्वाद मोद महिं भावत दधिसुत भानु समान भयौ री॥
वारिजसुतपति कोप कियौ सखि मेटि दकार सकार दयौ री।
सूरदास बिनु सिंधुसुतापति कोपि समर कर चाप भयौ री॥

---

८८ स ११ १ रि ११६।११ १ का० नाँ ४८७।१११
१ स ११ १ वै ४१११ [illegible] ८११।११० [illegible] १११[illegible]
१ स ११३०, वै ४११।११ [illegible] २०४।१०४ का नाँ ४११[illegible], [illegible]
१।१८८ [illegible] स ४४

(९१)

हरकौ तिलक हरि बिनु दहत।
कहियत है उडुराज अमृतमय तजि सुभाउ मोहिं दहति रहत॥
मत्त रथ थकित भयौ पच्छिम दिसि राहु ग्रसित सौ मोहिं गहत।
धनी न छीन होति सुनि सजनी भूमिभवनरिपु कहाँ रहत॥
सीतल सिंधु जनम जा केरौ ताहि तेज होइ कह धौं बहत।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु प्रान तजति ये नाहिं सहत॥

(९२)

कैसी सारँग करहि लिए।
सारँग कहत मनत पै सारँग सारँग भरहिं बिए॥
सारँग थकित देखि कै सारँग सारँग बिकल हिए।
सारँग चूकि सारँग पर सारँग सारँग क्रोध किए॥
सारँग सैं भुज करनि बिराजत सारँग रूप दिए।
सूरदास मिलिहै जो सारँग तो पै सूफल जिए॥

(९३)

गौरिपतिरिपुतासुत माए प्रीतम ताहि निनारे।
सिव बिरंचि जाके दोउ बाहन तिन हरे प्रान हमारे॥
मोहिंभरमत उठि गवन कियौ हठि स्वादे सुम्य रसाल।
कुन्तीनन्दनतातसुत जोवति भरु बारति मति चाल॥
उगवै सूर छूटे वै बन्धन तौ बिरहिनि रति मानै।
इहि बिधि मिलै सूर के स्वामी चतुर होइ सो जानै॥

(९४)

हरि मोकौं हरिभक्ष कहि जु गयौ।
हरि बरसत हरि मुदित उदित हरि हरि भज हरि जु भयौ॥
हरिरिपु तारिपु तापति कौ सुत हरि बिनु पजरि दह्यौ।
हरि कौ तात परस उर अन्तर हरि बिनु अधिक बढ़्यौ॥

---

९१ [illegible]
९२ [illegible]
९३ [illegible]
९४ [illegible]

हरितनयासुत तहाँ बदत हरि हरि अभिमान न ठायौ ।
अब हरि दवन विवा कुब्जा कौ सूरदास मन भायौ ॥

(९५)

भामिनि छाँड़ि दोस रहु खरयौ ।
तेरे विरह विरहिनी ब्याकुल भुवन काज बिसर्‌यौ ॥
कर पल्लव उडुपति रथ खैंच्यौ मृगपति बैर कर्‌यौ ।
पच्छीपति सबही सकुचाने चातक अनँग मर्‌यौ ॥
सारँग सुत मुनि भयौ वियोगी हिमकर गरब टर्‌यौ ।
सूरदास सागरसुतहितपति देखत मदन हर्‌यौ ॥

(९६)

सोचति राधा लिखति नखन तें बचन न कहति कठ अल भास ।
छिति पर कमल कमल पर कदली तापर पकज कियौ प्रकास ॥
ता पर ससि सारँग पर सारँग सारँगरिपु लै कीन्हौ बास ।
तह परि पच पिता जुग उदित बारिज बिबिरग मनहुँ भयौ प्रकास ॥
सारँग मुख तें परत अंबु ढरि मनु सिव पूजति तपत बिनास ।
सूरदास प्रभु हरि बिरहारिपु दाहत अंग दिखावत बास ॥

(९७)

ऊधौ इतनें मोहि सतावत ।
कारी घटा देखि बादर की दामिनि चमकि डरावति ॥
हेमसुता-पति की रिपु ब्यापै दधिसुत रथ न चलावत ।
मयूर-नन्दन शब्द सुनत ही चित चकृत उठि धावत ॥
कंचन-पुर-पति को जो भ्राता तासु प्रिया नहिं आवत ।
संभू-सुत को जो वाहन है कुहुके असल सलावत ॥
जदपि भूषन अंग बनावति सोइ भुजँग ह्वै धावत ।
सूरदास बिरहिनि अति ब्याकुल खगपति चढ़ि किन आवत ॥

(९८)

हमकौ तुम बिन सबै सतावत ।
कहियौ मधुप चतुर माधौ सौं तुमहूँ सं[illegible]ग बहावत ॥

---

९५ स ४२ वें ४२/५३ नवल [illegible] सो [illegible] ९९ [illegible]
९६ स ४ ५२ [illegible]
९७ स ४२४१ वें ४२१/५४ नवल [illegible] स [illegible]
९८ स ४२४२

जाको तमु हरि हर्‌यौ बीम सुनि कुस सरनागत कीन्हौ।
सोइ मारत करकारि धारि कर हमको कान न कीन्हौ ॥
काढि सिंधु ते सिवकर सोप्यौ भुजहगार की नाई।
सो ससि प्रगट प्रधाम काम को यहुँ विधि बेत दुहाई ॥
प्रमरनाथ प्रपराध छमा करि पीठि ठोंकि मुकरायौ।
सोइ भव दंड कोपि जमवर मै बजमंडल पै श्रायौ ॥
पच्छ पुच्छ सिर धारि सिखमि के इहि विधि दई बड़ाई।
तिन प्रब बालि छोमि तनु डार्‌यो उपम लोर की नाई ॥
पच्छ धारि भ्रमि स्वच्छ पच्छ करि तिनहूँ कोप बनायो।
परी वो रेख ललाट प्रधिक सुख मेटि दुकार बनायौ ॥
कौन कौन सौ बिनती कीजै कहौ कितेक कहि माई।
सूर स्याम प्रपने या ब्रज की इहि विधि कानि घटाई ॥

(११)

हरिसुतसुत हरि क तन माहि।
ह्याँ को कठै कौन की बातें ग्यान-ध्यान सुमिरै को काहि ॥
को मुख मेंवर तासु जुवती को को जिन कस हठे।
हमरे तौ गोपतिसुत प्रधिपति बसति न प्रौरनि ते ॥
मोरजरभ रूप सखि कारी चितै चितै हरि होत।
कबहूँ कर करमी समेटि लै नेकु मान के सोत ॥
ता रिपु सर्म सग सिसु लीन्हे है प्रावत तन पोप।
सूरदास स्वामी मनमोहन कत उपजावत दोप ॥

(१)

हरि बिनु इहि विधि है ब्रज जीजै।
कज्जल बरषि-बरषि उर ऊपर सारँगरिपु जल भीजै ॥
बायस प्रजा सबद की मिसबनि याही दुख तनु छीजै।
चौपो चद भात गोपिन की मधुप राखि बस लीजै ॥

---

११ स ५४८ दे १ ७ ... ५८१।२८२, गो० १२० १२११ ... ८८, ... १२।७० १ ६

१ स ५१२ १२१। ति ... ७ ... १२११।१, गो ... १२११, म । ५।०२ ... ५२१।२२१० ... १२।७० १ ५२ ... त १

तारापतिअरि के सिर ठाढ़ी मिमिष पल नहीं कीजै ।
सूरदास प्रभु वेगि कृपा करि प्रगट दरस मोहिं दीजै ॥

(१०१)

देखि रे प्रगट द्वादस मीन ।
ऊधौ एक बार नैंदलाल राधिका बसत गावत सखी सहित रस मीन ॥
गए मधकुंज कुसुमनिके पुंज कर अलिगुंज सुख हम सबसीन ।
पट उडुगन पट ममिधरसु राजत हैं चौबिस धातु चित्र केहि कीन्ह ॥
पट इंदु द्वादस पतंग मनु मधुप सुनि खग लोभन माधुरी रस पीन ।
द्वादस बिंब सो बानवै बज्रकन पट दामिनि जलजनि हँसि दीन ॥
द्वादस धनुष द्वादसै बिबका मोहन मन पटचिबुकचिह्न चित चीन ।
द्वादस व्याल अधोमुख झूलत मनु मानों कंज दल सो बीस बसीन ॥
द्वादसै मृनाल द्वादस कदली खंभ द्वादस दाडिम सुमन प्रवीन ।
चौबीस चतुष्पद ससि सौ बीस मधुकर मग भंग रसकंज नवीन ॥
नील निर्भे मिलि घटा दामिनि मनौ सब शृंगार सोभित हरिहीन ।
फिरि फिरि चाक गगन मैं भ्रमी बतावत जुगती लोग मौन कहुँ कीन ॥
बचन रसन रसराम नँदमदन ते जोग पौन हृदय सबसीन ।
नंद जसोदा दुखित गोपी गाइ ग्वाल गोमुख मलिन दिन ही दिन दुखीन ।
बकी बका सकटातृन केसी वृषभ बिनु गोपाल घर हनि कीन ।
ऊधौ पर पाईं सूरज प्रभु मारति हरे भई तनु छीन ॥

(१०२)

कहत कत परदेसी की बात ।
मन्दिर अरध अवधि बदि हमसा हरि अहार चलि जात ॥
ससिरिपु बरष सूररिपु जुगवर, हरिरिपु कीन्हौ घात ।
मघपचक लै गयौ साँवरो तामैं अति अकुलात ॥
नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि सोइ बनत अब खात ।
सूरदास बस भई बिरह के कर मीजति पछितात ॥

(१०३)

भयो मिटि पतियाहु ब्यौहार ।
मधुबन बसि मधुरिपु सुनि मधुकर छाँडे ब्रज आभार ॥

---

१०१ स. ४०४२ वे ४०१६
१०२ स. ४२६४ दे ४२।२
१०३ स. ४८ ।

बरलीधर गिरिधर कर धरि कै मुरलीधर सुखसार।
मन लखि बोम सेंदेसौ पठवत ब्यापक अगम अपार॥
हाँसी भरत दुख सुमहु सखी सुठि सखन वसा सभार।
सूर प्रान तनु उमत न मानै समिरि अवधि माधार॥

(१ ४)

हरि कित भए ब्रज के चोर।
तुम्हरे मधुप वियोग राधे मदन के झकझोर॥
इक कमल पर धरे कुमरिपु इक पर ससिरिपु चोर।
द्वै कमल इक कमल ऊपर लगी इकटक भोर॥
इक सखी मिलि हँसति पूछति खेचि कर की कोर।
तजि सु माइ सु भवत नाही निरखि उनकी ओर॥
बिरस रासिनि सुरति करि करि नैन बहु जल ढोर।
तीनि मिलसीं मनहु सरिता मिली सागर छोर॥
पटकथ मधरनि मास ऊपर अधारिपु की भोर।
सूर भवननि भरत ज्यावे मिलौ नंदकिसोर॥

(१ ५)

ब्रज की कहि न परति है बातैं।
गिरितनयापतिभूषन जैसे बिरहजरी दिन रातैं॥
मलिन बसन हरिहित अंतर मति तनु पियरौ जनु पातैं॥
गदगद बचन नैन जलपूरित बिलखि बदन कृस गातैं॥
मुखमधात भवन तैं बिछुरैं मीन मकर बिललातैं।
सारँगरिपुसुतसुखपती बिनु दुख पावत बहु भाँतैं॥
हरिपुर मसत बिना बिरहानैं छीन भई तनु तातैं।
सूरदास गोपिन परतिग्या मिलौ पहिल के नातैं॥

(१ ६)

रघुपति सौ बिनवति मृगनैनी।
तुम न हित रघुराज अमृतमय तजि सुभाव बरषत मत बहनी॥

१ ४ म बरि १६१ वे २५४।४१
१ ५ म ४७१ वे ३११ ६१ वो ४०४११५११ श्रीक ११४।० ११८
१ म ४७४१ १४४।११ वो ४११ १ ४१ वि ११०१ ११ मा०३ि
४१०-१ १ पृ स भौर ११४ का.१ ४४

समयापतिरिपुमभिक बहुत है हरिरिपुप्रीतम सुखत नैनी ॥
ससी न छीन होति मुनि सजनी भूमिवसनरिपु कहाँ दुरैनी ।
समै पाइ संदेसी कहियौ कित हरि छाइ रहे करि छोनी ।
सूर स्याम बिनु भवन न भावै जोवति रहति गुपाल की भोनी ॥

(१०७)

धरसुत सहज बनाउ किए ।
वसुसुतसुत ताको सुतबाहन ते तिरिया मिलि सीस दिए ॥
सुरभयरिपुबाहन के बाहन सुरपतिमित्र के सीस निए ।
ताहि मध्य राजति कठावलि मनौ नव ग्रह जुदरि दिए ॥
सुन्दरता सोभा की सींवाँ बसै सदा यह ध्यान हिए ।
धन्य सूर एकौ पल इहि सुख इहि बिनु सत सत कल्प किए ॥

रूपसौन्दर्य वर्णन

(१०८)

सुनि हरि हरिपति मांजु बिराजै ।
मधु हरि त्रसत मद भयौ हरिबस बस करि हरि बस गाजै ॥
हरि की भास बसत चंचल गति हरि के बदन बिरह दुख साजै ।
सूरदास प्रभु कौं भजि इह छन त्रिबिध ताप तन भाजै ॥

(१०९)

दधितनयासुतरिपुगतिगमनी सुनि वृषभानु दुलारी ।
दादुररिपुरिपुपतिहि पठाई सोचति बेष बिचारी ॥
मनिबाहनरिपुवाहनरिपु की तपन भई अति भारी ।
सोच सँभारि प्रभू लेन्ति हैं हौं बलि जाउ तिहारी ॥
मारतसुतपतिरिपुपतिपतमी तासुत नारि बिसारी ।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलन कौं ज्यों हठ होति हमारी ॥

(११०)

सारँगसुतपतितनया के तट ठाढे नन्दकिसोर ।
बहुत उपत जु रासिम सबिता तो तनया संग करत बिहार ॥

---

१०७ स वर्रि ६६
१०८ स वर्रि १ १ नू म ५
१ १ म वरि ५२ भवन १ १ बहि १ ११० १ नव १।११
१८।।११ माव १ ।१ १४ नू म १४
१ स वरि ५५२ भवन १ ।१ बहि ६,१४ ।११ नू म १

गुडाकेसजननीपतिबाहन तासुत के अंग सजे सिंगार ।
चन्द बहोत्तर आठ हस द्वै ब्यास कमल बत्तीस बिचार ॥
एक अचंभो और बताऊँ पाच चन्द दुवै कमल मँझार ।
सूरदास इहि जुगल रूप कों रे मन राखि सदा उरधार ॥

(१११)

कहियौ पथिक जाइ कुशल धाम ।
हिरन-पटन-पति पवि मत्त ज्यौं है बार बार सकुचावै ॥
सारँग-रिपु तापति रिपु ता रिपु तारिपु तनहिं जराव ।
हरिबाहन-बाहन-पति भावक ता सुत धामि बचावै ॥
सुर-रिपु-गुरबाहन ता रिपु-पति ता चढ़ि बेगि सिधावै ।
सूरदास प्रभु तुमरे मिलन को बिरहिनि तपनि बुझावै ॥

(११२)

एक समै मन्दिर में देखे राधा अरु नन्दकिसोर ।
चपिइन कर मुखता स्यामा के तजत हंस चुप चुगत चकोर ॥
तामैं एक अधिक छबि उपजी ऊपर मधुप करत घनघोर ।
सूरदास प्रभु चन्द्र मकाम्यो रबि अरु ससि बैठे इक ठौर ॥

(११३)

राधे तुम उडुगनपतिमुतहीन ।
तेरे भवन गवन हरि कीन्हो इहि बाहन मति चान्ह ॥
बीमन साजि सिंगार बदन पै उठि सारँगसुत दीन्ह ।
सूरदास प्रभु तोहि मिलन को सैलसुतासुत कीन्ह ॥

(११४)

देखो राधे स्याम रूप छबि भागो ।
एक अचंभी देखि सखी री प्रतिबिंब मैं जु समानी ॥
दधिसुत सुफल कीर पर सोभित कीरति गति अनुरागी ।
सनिस सघन मांझ दधिसुत ज्यौं प्रमुदित तनया जागी ।

[illegible]

दधिसुत में ज्यौ दधिसुत देख्यौ दधिसुत कमल समानी ।
सूरदास गिरिधर के परसत दधिसुतसुतनया भागी ॥

(११५)

कहुँ रजनी बिधु अधिक सुहाई ।
षोडस कला सरद परगासित रविसौं प्रीति बनाई ॥
यह बिपरीति आप जू जह तह अम्बुज सोत मकर गहि लाई ।
ता ऊपर बन्धूक प्रकासित रसन लता जु सूरत की पाई ।।
द्वै ससि तर द्वै सूर प्रगट भए मानों तमचुर की रति भाई ।
सूरदास स्वामी की सोभा भागि कौन भाँति बिसराई ॥

(११६)

गिरि गिरि परत बदन तें अंबु ।
मानों बहति सुरसरी सिर धरि सोमहि सीचत संभु ॥
कटि केहरि डगमगत सीस घट सुन्दरता को खंभु ।
कनकलतासुत मुक्तावलि उर कचुकि नील निसम्भु ॥
लगबगी अलक बदन बिधु राजत मधुपहि कास अचम्भु ।
सूरदास गिरिधर के आगम बिसरि गए सब दम्भु ॥

(११७)

सरोरुहि त्रासत हैं राकेस ।
कमल बिम्बफल प्रतिभूषन को मटपत्निया व्रजदेस ॥
गिरि मघवा सजोग देखियत मृग लुब्धक इक संग ।
उभै बिंब द्रु दाबन कोकिल सुक सोसति सब अंग ।।
कनकलता चांपति केहरि को रस सरवर सकुचाइ ।
डोलत सूर बसन के अन्तर तुम रस त्रिय सरसाइ ॥

(११८)

जलसुत में जल ससिन भयौरी ।
सिंधुसुतापतिगवन स्रवन सुनि सिवसुतबाहन बिलपि ठ्यौ री ।।
वासुसुतासुत बिनु जल चातक अति मृग मीन मलान भयौ री ।
हरसुतवाहन इकजोरि बिधुवदनी रतिपति बाम दयौ री ॥

---

११५ पो० ११२। १८
११६ पो ११६।१ ६ बाल १ ।१ रा काव्य ५०१।११६
११७. पो ११ । । ६६
११ पो ५०४। १६६६, म ११२।७८१

भूषन बसन मनिक सुख सज्जा पुहुप सुगंध तन बहुनि बयो री।
ता जदुनाथ मिलौ इहि औसर सूर बिरह दुख मिटहि गयो री॥
(११६)
माधौ बिन पसुपतिरिपु आरै जदुपति प्रभु तन ताप मिटावै।
बिधिबाहन के कंठ अभूषन तामध मनहित लायै भूषन॥
जमपमगुजापितु तासु सनेही ते सखि सेव करावै देही।
सूरदास मोहरि गुन गावै गरल सोई सो फनहित लावै॥
(१२०)
तुम बिनु कहीं कासों जाइ।
संभु भायुध उठि करेजें करत बहु बिध घाइ॥
गोपपति सखि नरक बैरी मानि कै अकुलाइ।
पच्छिराजसुताग्रपतिनी मोमिवौ चित चाइ॥
पाप ताप निहारि कबहूँ हिलत मा हरखाइ।
सूर मनमस ध्यान की सुनि कृष्ण बैरि बुलाइ॥
(१२१)
बालम बिसमि बिदेस रह्यौ री।
भूपमपितुपितुसेनापतिपितु ता भरि भय दह्यौ री॥
सारँगसुतवरमखमरवैरी बात न बचन सह्यौ री।
नृपति मादि सुन त्रितिय तमक कहूँ को सक राखि चह्यौ री॥
बावनि तैं सिखि बान सँतोपी सोई बचन कह्यौ री।
को मापुन हित अगहित जमहित कुब्जा क्रूर चह्यौ री॥
काहीं कहीं सुनै को मेरी बिपता बीज बयो री।
सूरज प्रभु बिनु मोकहूँ बैरी सब सुख बहर भर्यौ री॥
(१२२)
सबै मिलि स्याम सँदेस सुनौ री।
जो निय चढति सीम गिरिधर के सो मय कंठ गह्यौ री॥
नीकें चसन तासु भरि ता भख भूपन अग सम्यौ री।
दधिसुतबाहन मेसम सौं कै बैठि मनोम गनौ री॥

---

११ [illegible] ११६ [illegible]
[illegible] २४८ [illegible]
१२१ [illegible] ४६
[illegible] ६१

तातैं मुख महोक बक तीतर यह मत दसन गह्यौ री ।
कनककहन पट औरस मिलि कैं सोई उतारि धरौ री ॥
बैरागी के बगल बसन हैं तापर प्रीति करी री ।
सूर स्याम प्रभु रस की बात मधुपुर दूर गनौ री ॥

(१२३)

सखी री कमल नन परदेस ।
रितु के राज भए संप्रापत सामैं गए विदेस ।
हरि-हित-रिपु-बाहन के भोजन पटए न देत संदेस ॥
पांडोनाथ बेद कर पल्लव ससि पवज रहे घेरी ।
एक न साठि बरन हैं जिनके सो हरि हम सौं फेरयौ ॥
जननीस्वादबहनपसुभाषा सारँगरिपु के स्वादे ।
ई ई नाम मिसत मोहि दुजन तातैं बिरह बिषादे ॥
सुरगुरअरिबाहन अरि ता पति ता अरि यह तन सावत ।
कमरपरमपति तासु मनुजहित सूर मनहुँ नहिं भावत ॥

(१२४)

छिन पन राउरे की आस ।
करन नाप सु पच सख्या जानि कै सब नास ॥
भूमिधरअरिपितावैरी बाँधि राखी पाँम ।
सिंधुसुतधरसुहितमनगुन गहन कोप्यौ गाँम ॥
मासु धंस गिरीस मागर मादि मग प्रकास ।
सूर फिर फिर सूरसुत की परम चाहन पास ॥

(१२५)

प्रभु कब देगिहौ मम भार ।
जानि आपन आपतें गिरिनाथ गौरी छोर ॥
रवन बचन बिचारि सेनापति सु आनन भोर ।
दिगा सम तम बदन जानन सार सागी जोर ॥
जगा जोगी भेस की गुपि कीजिए रवि जोर ।
सूर निपट अनाथ भाविन जुगल बर कर जोर ॥

[illegible]

(१२६)

सुंदर स्याम सोभा देखि ।
वारि ससि कै भाहि कोटिन कोटि सावत सेख ॥
मीन रिपु के सुंन सुन मन गहत बरबस मान ।
असन सरिजन की सम्हारे अमर खेलत बान ॥
विकट भ्रकुटी मुकुट लटकन सुकटि सोभा सोइ ।
सूर बनि बसि बात तनमन तपन तीछन मोइ ॥

(१२७)

सोभा आजु भली बनि आई ।
ससिसुत ऊपर हंस बिराजत तापर इंद्रवधू दरसाई ॥
दधिसुत लियो दियो दधिसुत मैं यह छबि देखि नंद मुसुकाई ।
नीरज-सुत वाहन को भच्छन सूर स्याम सौं कीर चुराई ॥

(१२८)

देख्यौ री हरि नगन नगा ।
जलसुतभूषन अंग बिराजत बसनहीन छबि उठति तरंगा ॥
कहा कहौं अंग अंग की सोभा निरखत लज्जित कोटि अनंगा ।
कहुं दधि लाय कहु मुख माखन सूर हसत ब्रज जुवतिन संगा ॥

(१२६)

जनि कर जलज पर जलजात ।
मातुपतिग्राहक तुम्हारो सकल लोक सिहात ॥
रिपु पयोधि निधान सौं गुडराज छाँडि सुभाइ ।
सूरसुत सुनि सिल सखी रविइंदु भस धसाइ ॥
सात षष्ट है चरन जाके कित हिएँ दुख देत ।
क्या न गिरिजानाथपरितिय मानि सुख सब लेत ॥
मास सम मरास भोजन मास कन्हिहौ दूर ।
सर सो मममोहिनि भजि मोग भामिनि सूर ॥

---

१२६ सा स वरि भा० ४१ ना० ५१
१२७ सि की ६११ भा १।८१ वा भा ४ ६। २९६ सू म १
१२८ सि की ७०।१०४ सौ ११।१०
१२९ कां ४ भा० १९।१ ६।१२ म सू १

(१३०)

देखि री देखि अद्भुत रीति ।
जलजरिपु सौ रिपु कियौ हित छाँडि अपनी नीति ॥
कीर कमठ कपोत कोकिल, कियौ ढिंगढिंग वास ।
धनुष ऊपर तिलक रेखा भयौ रिपु कौ नास ॥
जलज भाल सुढारि ऊपर निरखि मुदित अनंग ।
सूर स्याम निहारि यह छबि भई मनसा पंग ॥

(१३१)

बिधु मैं देखे बहुत प्रकार ।
जलरुहकनकलता पर उदयौ ढिंग मोतिन कौ हार ॥
कीर, कमठ ससि मृग मनमथ धनु मरकत हेम सुधार ।
बिंब अनार बीच सुक दामिनि कोकिल शब्द उचार ॥
मनिधर सिखर रक्त रेखाजुत बिबिध कुसुम सिंगार ।
मद प्रवाह सुभ्र सुरसरि कौ निसपति जाति बिकार ॥
सुनि कौतुक चकि चितवति मोहन मन मैं करति बिचार ।
उदित भयौ ससि सूर स्याम हित स्यामा बदन उदार ॥

(१३२)

बस है बालि कमल सौं नाहीं ।
पट दस कला समेत तोहि ससि भरथ बिचारी तौ मन माँहीं ॥
पाँच पाँच पखुरी सो सुंदर चपक फूल न होइ सहाँ ही ।
चमकि चमकि छपि जात सघन नहिं नहिं दामिनि दमकाहीं ॥
चाल चटुल मराल कुंजर सिंघ निरखि न लोक डराहीं ।
है सिव बीच उमा सी एकै नहिं वै संभु उमाहू नाहीं ॥
घटा गगन के बिच रबि गंगा सोच बिचारत कबि परछाहीं ।
सूर जितौं संभ्रम सुख तितनो कबि झूठे जो सौंच सराहीं ॥

(१३३)

नेकु सखी सारँग ओट करि इदु बदन सर तनक न भावत ।
दधिसुत भरनि देखि बाहन बिधु बल तजि मृगपति अधिमम ठानत ॥

---

१३० बाघ १।२ १६, कॉके० ८८ १।१६, १४ ६।१६, सू० स ४१
१३१ कॉक ८८ १।२१ १४ ६।१ बाघ १।२ २१ सू० स ३०
१३२ कॉक ८८, १।१८, १४६।११
१३३ कॉक १।७९ १४ ६।७०, बाघ १।२ २७, सू० स २१

रति जो देखि मदनी तनु निन्दि भमकु भौंह कुसुम सर तानति ।
निरखि रूप सोभा की सागर एक सनुप मन में बिसमावति ॥
कस्तूरीमृग पीतम मकुचन है चक्रवाक बिछुरत निसि मानत ।
कहै जन सूर मराल चाल गति प्रफुलित कुसुम मनहि सचि जानत ॥

(१३४)

मदसुत एक कहाँ लौं बरनौं सारँग मुख देख्यौ इक सारँग ।
सारँग रिपु की ओर बिराजत है सारँग तो मन उर मारँग ॥
सारँग मनि यु प्रगन्त मारँग कुंद कसी ओर बिच सारँग ।
सूरदास गिरिधरन प्रिया छबि देखि मुदित नवमास सारँग ॥

(१३५)

रजनी विरह वियोगिनि राधे कर सितें सारँग सम बजावति ।
हरि रूप ति हीन तासु रिपु तापति ता परिवर्धित महि भावति ॥
हरिसुतवाहन तारिपु भोजन सुतबाहन बिसय नहिं पावत ।
चलत न दधिसुत घटत न हरिमरि तातें पानि सीस लै आवत ॥
हरि सिखि मदन काम सिखि कोकिल मिलि पंचय पवनहि भरमावत ।
तदपि विरह घटत नहि भामिनि सिखि मरमम हरहि बरसावत ॥
इहि मीनिन वृषभानुनदिनी कहि कहि कथा मनहि समुझावति ।
दीजै दरस कृपा करि स्वामी तातें सूर परम जम गावति ॥

(१३६)

सखी ब्रज राजत एक धनी ।
खेलत है वृन्दावन माधौ मधु सरम रमनी ॥
जलसुत तासुत तासुत की सुत तासुन मन बदनी ।
मीनसुतासुत तासुतभासा तापर जलजमनी ॥
बिब न मधर दमन दुति दामिनि कोकिलमृदुबचनी ।
तिमिरिपुसुन भ्राता शिशुबाहन ता परि कच्छु बनी ॥
पीन सानु पर महिरिपु राजत तुटत तरकि तनी ।
सूरदास प्रभु निरखि हरषि कै बाढी प्रीति घनी ॥

---

१३४ [illegible] नाथ [illegible]
१३५ [illegible]
१३६ [illegible]

(१३७)

आए माई चहुँ दिसि तें घनघोर ।
मानौं मत्त मदन कौ हाथी बल करि बदन तोर ॥
धावत पवन महावत हू तें सूरमन अंकुस मोर ।
बगपंगति मानौं उरहूँ तें भयपि सरोवर फौरें ॥
मनु भव साज मोरि नैनन मग कुच कंचुकि बँद तोरें ।
अब सुनि सूर स्याम बिन यह गति गिरत गात जैसें भौरें ॥

(१३८)

वै मुख चितै चितै मुसकात ।
नवसत साजि राधिका सुन्दरि रसिक पियत न रूप अघात ॥
कर पर हर धरि उरन भरिय भरि भरि बस कै भरि धावत ।
मानौं सोम सम्भु सुरसरि कै कीरति करत न पावत ॥
सागर मोर घेरि सागर सौं कर धरि सारँग लीन्हौ ।
सूरदास प्रभु सारँग मनिधर परसत हरि हँसि दीन्हौ ॥

माया का वर्णन

(१३९)

नारि एक वसहूँ विस बिचरति अति सुन्दरी सुहागिनि ।
प्रति प्रति सदन पुरुष कठ बिलसति तदपि पिय अनुरागिनि ॥
नरता जार गनत कछु नाही सन्त कहहिं बैरागिनि ।
तीनि काल सरबोपरि राजति स्तवति देव मुनि नागिनि ॥
अवधनि की उपकार करैं नित उच्च दोस की गाहिनि ।
प्रभु समीप कबहूँ नहिं आवति फिरति दीप गिरि बागनि ॥
नरभूषन तू या सगति तें एहि भिया भौ बागनि ।
सूरदास निरमम मति कारन करम बिधा नहिं लागनि ॥

---

१३७. बर्नों ३८८ १११ कोम ५ ११७६, ७५
१३ बाँ६ २ ४६ । ५, नाथ १ ।२ १२
१३६ बाल १ ।२ ७ बाँड ८८ ११२ ३४ ६ २ म स ९१

(१४०)

तेरे तेज सुनी जिन भामिनि प्रबल प्रबल सब गए सुकाइ।
भँवर सेन आकुल ह्वै गमनी अटवि निकट रावे बिरमाइ॥
सदा हुलासन भरे रहत है उर बिच अम्बर सिए छिपाइ।
मिथि के सुवन रोहिनी रमनी लै प्रवेस कीन्हौ रिपिराइ॥
मन्मिल तात भूमि भल दई तब भँवि भाइ बिम्ब दुख पाइ।
सारँगपति कटि निरखि सलज्जित मोर कोट दीन्हें बिसराइ॥
मंच कुसुम तरुराज बिराजत सकल प्रभा तिन दई छिपाइ।
सूरदास तें करी अनीती विहग अरुन कीन्हें बलराइ॥

(१४१)

श्रीराधाविधुवदन उदय तें ससि की भ्रान्ति भई।
मम जी करिबे बाँधि ताराचमु केतनि भाँति दई॥
नभ निसि सब सम्पूरन भमि कै अगनित सेन भई।
बाट बाट कहु थे नहिं देख्यो यह मति मति मयई॥
साभा र च म भई स्याम तनु कपित पट समई।
छीन बिम्ब प्रतिदिन करि करि कै सब काहू बिसई॥
दुख पावत अकुलात देखि कै मन प्रसन्न चकई।
कौतुक सूर समीपहिं देखत छबि मिलोक बिजई॥

(१४२)

चितवनि क्षारसुता की ओर।
सकुचि सुधाकर भयो जु नभ दुरि निरखि आनन तोर॥
नाम पर मृग मीन खंजन ब्याल भाल चकोर।
कीर, छगुगन भव्य डर तें इती छबि नहिं मोर॥
उरज अम्बुज मधुप हाटक किंकिनी रव घोर।
बिम्बता बंधूक बिद्रुम अधर पान तँबोर॥
जलधि पर केहरि बाँध्यो करति चितवनि ओर।
सूर प्रभु पर अस हरनो परनि नन्दकिसोर॥

---

१ पाठ १४१ ४५ नाँगि पद १४१ १४ ॥१
१४१ कॉक पद ११९ १ ॥१४१
१४२ नाँक ४७ ५। १७

(१४३)

त सखि वसुपति की गरब हर्यो ।
इन्द्रवधू धासुत सुत को सुत सो सुत दूरि मिवार्यो ॥
सारँगसुत की बरन विसेष्यो दधिसुत बिम्ब बिसार यौ ।
सिव बिरचि वाहन दोउ जाके तिनहि सकुचि सिर डार्यौ ॥
सारँगसुत ते सजत सारँग सारँगसुत पुनि जार यौ ।
सूरदास गुन बीति किए तब सारँग सारँग जार यौ ॥

(१४४)

बन बोली वृषभानुकुमारी ।
कसी ऊपर सुरपतिवाहन ता ऊपर ससि धरे कहा री ॥
तिन मध्य द्वै खजन बैठे करि एकौ कीन्हौ जु मुरारी ।
जलनिधिसुतासुतन कुम्हिलाने तातें मोंहि अर्धमी भारी ॥
चतुराननवाहन को भोजन मलयागिरि सम हू परजारी ।
कहै सूर उठि चलि भामिनि मिलि मति आतुर कुंजन बनवारी ॥

(१४५)

देखि री देखि मधुसुत रूप ।
स्याम घन मैं स्याम दधिसुत कोटि काम सरूप ॥
प्रगट करि अनुराग मोहन सबहि दरसन देत ।
फिरि चहूँ दिसि दामिनी यह चाव गति हरि लेत ॥
अ ग अ ग अनंग चीते बन्यो सुन्दर भेष ।
सूर श्रीगोपाल निरखत तजत नैन निमेष ॥

(१४६)

कमल पर कमल धरति उर लाइ ।
कामवती जु हुती वै कमला कमलै बिनु मुरझाइ ॥
जुगल कमल ते चली जु कमला कमलन मग अरुझाइ ।
मान कमल कर मंडित कमला धरि तन कमल सिरा" ॥

---

१४३ रूप १।१८.२४ और १२४।७.१ ३५
१४४ वहि ६६।१२ १२७
१४५ माध १।१२ ६२ और ७८.११४८ ६८ ११२ स म ३५
१४६ माध १।१३ २४ मा वाँ १२१।७ १ ३५

हरिवाहनरिपुरिपुमरि गंगम ताको असी दुराइ।
सूरदास प्रभु जो नहि मिलिहौ तौ मरि है विष खाइ॥

(१४७)

राधे मान मनायौ मेरी।
रविसारथीसहोदर को पति मारग देखत तेरी॥
मारउसुतपतिपरिपतिरिपुदस दियो आनि देह पेरी।
हरिपदजसवाहनमख तेरी वा मैं देहु बसेरी॥
बिहँसि उठी वृषभानुनंदिनी कीन्हौ अवन घनेरी।
सिन्धुसुतासुत किया सूर बस जे हुतो अधिक घनेरी॥

(१४८)

सखी री कंत दुरतर छायौ।
हरभूषनआनन सम लोचन ता अनुचर विम भायौ॥
भैपि अमसउच्छिष्ट बसी दिस भवन मंदिर सब छायौ।
तत्पत चपल मेरुअरिआयुध छिन छिन प्रगट दुरायौ॥
सम्मुख अमिय प्रथम प्रथम पुर ता आहन गुन गायौ।
मनसिजभग सिमिसहित मनोहर गिरि चढ़ि गिरा सुनायौ॥
पाँच सुभ दस गुन दूमै धरि सोरह गुन बिसरायौ।
सूरदास प्रभु हई आनि जिय तै बिरहिनि समुझायौ॥

(१४९)

सुरनि बिनु अमसृत बिरस भए।
सारंगसुतपतिरिपुनसु प्रमद्यो सगपति चल न पए॥
सारंगपति डिग्गियम महि सारँग सारँग हाथ सए।
सारँगनाद सुन्यी है सारँग सारँग रागि रए॥
सारँगसुता प्रफ भरि लीन्हें सारँग चित्र टए।
सारँग देति बिबस भए सारँग लै रथ भाजि गए॥
भयो भार सूर दृब प्रगटे आनँद उमँगि भए।
सूरदास प्रभु आइ भवन तैं तन की तपत गए॥

---

१४७ [illegible] १६ [illegible] १०, १ ११ [illegible] ११९ [illegible] १५
१४८ [illegible]
१ [illegible]

(१५०)

अरथ करी पण्डित अरु ग्यानी ।
रवि के अन्त दधिसुत के आगम एवं पट धारि अधिक छवि बानी ॥
नहिं ब्रज वनिता नहिं सुरवनिता नहिं राधा सहचरि यह जानी ।
नहिं वरनारि मरम जिन भूल्यौ ब्रह्मसृष्टि तें यह न उपानी ॥
सारँगसत सारँग भख दीन्हें सार गसुता देखि बिलखानी ।
कनकसहोदर बस करि लीन्हें सूर मूढ़ निज सँगनी जानी ॥

(१५१)

प्रेम कौ सारँग सारँग कौ दीन्हौ ।
मद्सुत माभ बिराजति सुन्दरि सारँग तजि कर सारँग लीन्हौं ॥
मुख प्रति सारँग अँग प्रति सारँग सारँग गति सारँग सुत कीन्हौं ।
सारँग गहे चली री सारँग सारँग चकित भए यह तीनौ ॥
मदन मनोहर मोहन मूरति तनमन प्रन सबै हरि लीन्हौ ।
सूरदास प्रभु देव दंतसि गति कोटि कोटि सारँग बस कीन्हौ ॥

(१५२)

देख्यौ एक कलस अपार ।
सकल ब्रज के सार यामैं मृगरिपुम की बार ॥
सिव सनक सुकदेव नारद कमलसुत पचिहार ।
धर यौ चक्र सँवारि तापर बिकट जाकी धार ॥
सेस महिमा कहि न आवै निगम गावत पार ।
प्रेम युत फहराति उर पर सूर जन बलिहार ॥

(१५३)

बिधि कौ ताप देहु री माई ।
गोसुत कौ भख पावक सायौ भीमपिता कर धर्यौ उठाई ॥
ममस मातु तासु लै राख्यौ बारि बाम औरैं गति पाई ।
दस ससि और बतीस भानु मिलि धन जसुदा पै हाहा खाई ॥

---

१५० काम १।१८ १ कौन १५०।१ [illegible] १५१ १५०।७० १ ४१
१५१ काम १।१८ १९ कौन १५१।७० १ ६
१५२ काम १।१८ २२ कौन १५२।७० १ ६
१५३ काम १६।१ १८ कौन १५३।७० १ २१

सौ मकलोकि बिलोकि पुत्रतनु सिवबाहन की राम मँगाई।
रिषि के रिपु हरि के रिपु मैं है सब जननी प्रति प्रीति बढ़ाई ॥
सर्वहि म भास करति श्रीपतिरिपु रिपु क मुख म रिपु जु समाई।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को घिरी परी तहँ जूठनि माई ॥

(१२४)

राधे तैं मन मोहि लियौ।
कूभ कम पर भ्रमरज देख्यौ तापर मीन कियौ ॥
मेष बिरष तुल मिथुन सिंघ बन करक को बस लियौ।
भ्रम्भक मसक बोउ सम रहत हैं पावत है मथ्यौ ॥
दधि के सुत को फल जो कहियत सोहत है त्रिबियौ।
सूरदास प्रभु हित मिलिबे कौ तोसौ कौन तियौ ॥

(१२५)

हरिरिपु प्रति मु भार सुनाई।
नखरव सम सौ देह भई गति मनँग तरम न म्राई ॥
ससि सबिता रथ चलत एक म्रु ताके नामरूप मुसकाई।
हर मैनाहू के मुख बाहन तिन प्रति मिलि कै कूक मचाई ॥
सुरगुरबाहन प्रति वारन गति पुनि कुक कुसह सखी महि जाई।
परासिंधु भरि रथ मोमन मन को बरजै इनकी रिलु भाई ॥
कमलनयाधरि की छबि निरखत ब्याकुल भइ भतिसय मकुलाई।
मोजम भाम परयौ भांगन मैं तातें हौं प्रति मधिक परांई ॥
जलनिधि प्रति भासे ताके कन चमटे मदन बान छहराई।
पसु के पुत्र हरे तिन बाहन तिस भोजन मन भेउ उतराई ॥
मंद मंस किहि नाथ भरयौ उर करकस लगि तन रोम सुहाई।
जिनके राम सुत सुता सखीरी दूरि करे यह प्रधिक सताई ॥
पलकौ कमल बिमल ताकी बस डाथ सीस भयौ दुखदाई।
गजभूषन कर भरयौ तासु प्रति समत न तमक गयौ छनकाई ॥
बोकरला मद समस बतीसौ सब पुन पठी सो सखी बुलाई।
कहियौ प्रगट पुक रि स्याम सो मवधि बती सोई रितु माई ॥
लोक लाज कुल कानि सबै तजि माइ मिली मब हरि सौं माई।
सूर स्याम प्रिय कौ नहि भावै स्यामा स्याम भई दरसाई ॥

---

१२४ सौरि १२४।७ १ १२
१२ सौरि ग्याम. ११९ १४

(१५६)

सारँग सारँग कर ज लिए।
सारँग कहै सनो री सारँग सारँग मनहि दिए ॥
सारँग बढ़ी थके तब सारँग सारँग बिकल हिए।
सारग झुकि झुकि परस सारँग सारँग मनो पिए ॥
सारँग भाइ उठाए सारँग सारँग देख जिए।
सूरदास जो मिलहि सारँग तौ यह सुफल जिए ॥

(१५७)

सिंधुसुतापति क्यों न सँभारे।
जगबन्धनरिपुतनयापतिरिपु तामैं सूँ निशिदिन चित धारे।
खग को मित्र मित्रपतिपितुअरि ताकी पिता तेरो खेल बिगारे।
सूरदास रे मन ! सूरपसिसुतमित्र काहे बिसारे ॥

(१५८)

प्रात समै नवकुंज सदन में विहरत राधानंदकिसोर।
रुचिकर कर मुकता स्यामा के लसत हस मध चुगतचकोर ॥
तामें एक अधिक छवि उपजत ऊपर मधुप करे घनघोर।
सूरदास प्रभु इंद्रसभा में रवि अरु ससि देखे इक ठौर ॥

---

१६ [illegible] १ [illegible] १ [illegible] १ १ १०

१५७. श्री [illegible] [illegible] — [illegible] [illegible]
संवत् ११

१५ [illegible] पाठिक [illegible] [illegible]।

परिशिष्ट (ख) २

सूरसारावली के कूटपद

१ सिंधु-सुतासुत तारिपुगमनी सुन मेरी तू बात ।
कामपितावाहनभख की तपु कथा न धरति निज मात ॥१३७॥

२ ससिवाहनपतिवाहनरिपु की तपन बढ़ो तनु भारी ।
सैलसुतासुत ता सुत अंगना सो तैं सबै बिसारी ॥१३८॥

३ मधुप चतुराननतनयावाहननाद सुरछम ।
जलसुतवाहन सौं जल बारत बिषम लगत विष अंग ॥१३९॥

४ चतुराननसुत तासुत ता सुत उचित होत भव कामी ।
मन्मथमसुतासुत मयथी सो तैं वृथा गँवायी ॥१४ ॥

५ पंकज उर पंकज जिन फेरी तेरी मटक सुहाय ।
सुरपतिवाहन तासुत सिर पर माँग भरी अनुराग ॥१४१॥

६ कमलपुत्र तासुत कर राजत सो हरि निज कर लीन्हें ।
सप्त सुरन उपजाइ बजावत रटन राधिका कीन्हें ॥१४२॥

७ सुत प्रह्लाद तासु सुत ता पितु भ्राता सुधा अँचायी ।
सबासुत अघु सदय बसम तनु सो तनु लागत छायी ॥१४३॥

८ सारँग ऊपर सारँग राजत सारँग शब्द सुनावै ।
सारँग देखि सुनै मृगनैनी सारँग सुख बरसावै ॥१४४॥

९ सारँगरिपु की बसन ओट दै कहूँ बैठी है मौन ।
बह्मसुता सारँग के मोचै करति सयम बजयौन ॥१४५॥

१ सारँगसुवा देखि सारँग कौं तेरी मटक सुहाय ।
सारँगपति तापति ता बाहन कीरत रट अनुराग ॥१४६॥

११ पपिसुतवाहन सुभग नासिका पपिसुतवाहन देख्यौ ।
पपिसुतवाहन बचन सुगम तुव भग-पंथ अवरेख्यौ ॥१४७॥

१२ ससि की भ्रात कहत ता बाहन कुन्द कुसुम समजात ।
खंजन सदृश देखि तुव अँखियाँ तन-मन मैं अकुलात ॥१४८॥

१३ मारतसुतपतिरिपु तापतनी तासुत बाहन बात ।
बचन सुनत अकुलात साँवरी कछुक कही नहीं जात ॥१४९॥

१४ चतुराननसुत तासुत पतनी तासुत को जो दास ।
तासुतवाहनपुम संग धरि जलसुत करी प्रकास ॥१५०॥

१५ श्री बलदेव राम जो कहिए ता मैं भानु मिलाय ।
ताकी सुता कहत चतुरानन निगम सदा गुन गाय ॥१५१॥

१६ सिंधु-सुता तव नाम विलोकत मन में रही समाय ।
काम पिता माता मुद ता वपु युवति कोटि दरसाय ॥१५२॥

१७ सातौं रासि मेखि द्वादस में ऐसे बीतत याम ।
तृतिय रास मैं मिलत सप्तमी सो जानति निज याम ॥१५३॥

१८ सैलसुताधरि तारिपु बाँधत संग-संग पिय भाज ।
कोटि जतन करि सीषत तौऊ मिटत नही ब्रजराज ॥१५४॥

१९ वायस भजा सम्ब मनमोहन रटत रहत दिन रैन ।
तारापति के रिपु पर ठाढ़े देखत हैं हरि नैन ॥१५५॥

२० पमासुतरिपु-रिपु सिख मेरी सुनति नहीं सखि काहु ।
नारायन सुत तासुत तासुत लगत विषम विष ताहु ॥१५६॥

२१ जलसुत वाहन देखि मदन तव ब्रह्मसुता प्रफुलानी ।
मंगल मातु तासु पतिवाहन राजत सहस भुलानी ॥१५७॥

२२ दच्छ प्रजापति की तनया पति तासुत मार गई ।
सिन्धु-सुतासुतवाहन की गति देखत विषम भई ॥१५८॥

२३ अग्नितात तेहि तात अंगना त्यों उनमें तू राची ।
वपु कुसुमद्रुम ता रिपु की पति सारंगरिपुधर माची ॥१५९॥

२४ पति पाताल लगन तनु धारन सो सुख भुजा बिचारी ।
प्रथम मथत जलनिधि जो प्रकट्यो सो मागत सब नारी ॥१६ ॥

२५ बंधुकुमुदपतिपितासुता जो तुव भल मधुरे गावै ।
ब्रह्मसुतासुतपदरज परसत सारंगसुता बिलावै ॥१६१॥

२६ इन्द्रसुतापतिभुजा लगन लखि जलसुत हृदय लगावै ।
इन्द्रसुतातनयापति की सुत ताके गुनै न पावै ॥१६२॥

२७ धरति कमल में कमल कमल कर मधुर बचन उच्चार ।
कमलावाहन गहत कमल सों कमलन करत बिचार ॥१६३॥

२८ कालिन्दीपति नैन तासु सुत मागत हैं सब लोग ।
इन्द्रमातु तेहि तात सो सर प्रकट देखियत मोम ॥१६४॥

२९ मधुबमातुतातपति तारिपु तापति काम बिगारे ।
तातें सुनि वृषभानुनंदिनी मेरी बचन बिचार ॥१६५॥

३० सीस भाग द्वै मास सकसरितु सिग्धुसुता सन भाग ।
भूषन भग ससत सु जाससि भौर न कछु समान ॥१६६॥
इति इष्टकूट सूचनिका सम्पूर्ण ।

३१ युगम कमस सों मिसत कमस युग युगस कमस सैं सग ।
पाँच कमस मधि युगम कमस सखि मनसा भई अभंग ॥१६७॥

३२ निरस ध्वज मधु का पूरन सौरम उदत प्रदेस ।
मगर धुर सौरमनासा सुम मरपत परम सुदेस ॥१६८॥

३३ सुन्दर कुमुद मयूष मिसत पुनि मीन देखि समभात ।
तापर चन्द्र देखि संशासुत तम में महुव करात ॥१६९॥

३४ बरनाभय कर में अवलोकन केमपासकृत बद ।
अधर समुद्र सदस जो महमा पुनि उपजत सुख कंद ॥१७०॥

३५ मुदित मरास मिसत मधुकर सों खंजन मिसत कुरग ।
धीर धीर रनधीर मिसत सम रत रस महर तरग ॥१७१॥

३६ सुरत समुद्र महत दंपति के निरखि रमन अपार ।
भभी दीप मग मूड महन की राधाकृष्णविहार ॥१७२॥

साहित्यलहरी के कूटपद

(१)

राधे कियो कौन सुभाउ।
प्रानपतिवेदनविभूषित सु मगुन चित चाउ ।।टेक।।
[1]भानुसुतसीरसमुभाग्रह ते न निकसन पाउ।
रजनिचरगुम आनि वधिसुतभरनरिपुहित चाउ।।
रजनिचरहितमध्य सों तम सरस दीपत पाउ।
सूर स्याम सुभान सुकिया प्रघट उपमा दाउ।।

(२)

हरि उर पदक धारौ धीर।
हित विहारे करत मनसिज सकल सोभा भीर ।।टेक।।
भूमिसुतप्ररिमित्ररिपुपुर तें निकासत भाय।
सुत भावर भरत ग्रीषम रिपुन मद्धे साय।।
भानुभियजननीसुहित की सहचरी गुन लेत।
प्रथम ही उपमान सारँग सों करावत हेत।।
हान दिनपति सीस सोभा रंच राजत भाज।
सूर प्रभु मग्यान मानो छपी उपमा साज।।

(३)

भाज मनैसी कुञ्जभवन में बैठी बाल बिसूरत।
उर रिपु-पति-सुत की सुधि सौंची आनि साँवरी मूरत।।
दरभूषन छिन छिन उठाइ कै नीतम हरिधर हेरत।
सनु मनुगामी मनिमै मैके भीतर सुरुच सकेरत।।
ताहि ताहि सम करि करि प्यारी भूषन मान न आनै।
सूरदास कै आनि सुलोचनि सुन्दर सुरुच बखानै।।

(४)

सारँग सम कर नीक नीक सम सारँग सरस बखानै।
सारँग बस भय भय बस सारँग सारँग बिसमे मानै।।

---

१ उर घनस्य—मानसावानी—

सारँग हेरत उर सारत से सारँग सुत छिन भावै ।
कुन्तीसुतसुभाउ चित समुझत सारँग भाइ मिलावै ॥
यह मधुभुत कहियो न भोग युग देखत ही बनिआवै ।
सूरदास बिन समै समुझि करि विपई विषै मिलावै ॥

(५)

राधे रास सुरतरँग राती ।
नन्दनँदन सँग कुञ्जभवन में मदनमोदमदमाती ।।टेक।।
कारन अन्त अन्त तें बटकर भादि घटत पै ओई ।
मद्य बटे पर मास कियो है भीतम में मन मोई ॥
गिरिजा-पति-पतनी-पति का सुत गुन-भुन मननि उतारे ।
तनसुत कन्न से धनि बिचारि कै तुरत भूमि पै डारे ॥
सारँग ओर निहारति फिर फिर चित चित चतुर न पावै ।
सूर स्याम कौबिदा सुसूदम करि बिपरीत बनावै ॥

(६)

सखि वृषभानुसुत राधे ।
दधिसुतसुतपतनी न मिकासति दिनपतिसुतपतनीप्रिय साधे ॥
इन्दीवरसुतकनककपोल में है सिंगाररस साधे ।
दधिसुत वेद खेंचि अपनो कर सुरुचि सुभाउ सुभाये ॥
प्रद्युम्निदुतिहित के हित करतै मुकुर उतारति नाधे ।
सूरज प्रभु सखि बीर रूप कर बरन कमल पर भाधे ॥

(७)

भाज सखिन सँग सुरुचि साँवरी करत रही जलकेलि ।
भाइ गयो तँह सरस साँवरो प्रेम पसारन बेलि ॥
अपहर एक सुकर सारँग तैं सहज समुहारन लागे ।
अम्बरिच्छ यी बन्धु एक की चाहत अति अनुरागे ॥
भूपनहित परनाम छोन बड़ दोहुन की करि राखी ।
सूरज प्रभु फिर चले गेह कौं करत सबै सिव साखी ॥

(८)

दिनपति चले कौं कहूँ जात ।
धराधरलबरिपुतनु लीन्हीं कही हवबिसुत बात ॥

---

१. अन्यत्र की भाँति ही दूसरी और तीसरी पंक्तियाँ परस्पर स्थानान्तर की है ।

सब उलटो ह्व आउ तिहारो ताको सारँग नैन ।
तुम बिनु नन्दनँदन ब्रजभूषन होत न मेरो चैन ॥
मुरली मधुर बजावहु मुख तें रस जिन मनसें फेरो ।
सूरज प्रभु उल्लेख सखन की हौं परपसनी हेरो ॥

(९)

रूप मोहि बहुपाद मिलावौ ।
सुनु सजनी यह प्रन हमार सखि हिय मे हरष बढ़ावौ ॥
सुतहीपतिपितुप्रियापाइ परि सिर धरि आपु मनावौ ।
जीवन-हीन-पुत्र रिपु जननी-सुत पितजा ढिग आवौ ॥
सुर समूह पैवार परमहित भावतअमल भढ़ावौ ।
बार बार बिनवति हौं तुम तें सखि निसिपति मुरझावौ ॥
सूरज प्रभु पै होहु मनुजा सुमिरन जनि बिसरावौ ॥

(१०)

उलटो रस सारँग हित सजनी कबहूँ तोर न जैहौ ।
बिनु समुझें बिपरीत मासका अंग स आपु सगैहौ ॥
पगरिपु समत सखन धन ऊपर बूझत कहा बतैहौ ।
अहबसु मिलत सभु की सेना चमकत चित न चितैहौं ॥
मोहि मान वृषभानु बधा की मैया मत्र न लैहौं ।
सूर छेक तें गुप्त बात हू लोकौं सब समुझैहौं ॥

(११)

सुरमीरसराती नँदनंदन सुरभीरसराती ।
अहमुनिपितापुत्रिका की रस अति अद्भुत गतिमाती ॥
सुतह्सानुसुत प्रबल भए मिलि चार ओर तें धाये ।
तें जिन जानि घने तमके गज साजत सरस सजाये ॥
मात मोहि मैया बिचारि कें गैयनि ओर पठाई ।
निरविकार कहें सूर पहूँनन बातन चतुर बताई ॥

(१२)

देखति ही वृषभानुदुलारी ।
नन्दनँदन आवत ब्रजबीथिन भीर सग मैं भारी ॥
सिव आनन सिलि चन्द्र बिन्दु दै कर निज कुचन मिलाए ।
भूपम स्वरूप क्रिया तें सुन्दर सूर स्याम समुझाए ॥

(१३)

कुंजभवन तें आजु राधिका अलस अवेसी आवति ।
अंग-अंग प्रति रंग रंग की सोभा सुख दरसावति॥
दिनपतिसुतअरिपितापुत्रसुत सो निज करन सम्हारे ।
मानहुँ कनक रिच्छ गह तोलो कंचन भूपी धारे ॥
सीतासप्रपिता की सेमा-पाट छिद्र इभि आए ।
सिंधुसनुभवपतिपितु मानों रन तें घायल आए ॥
बिथुरि गयो सारँगसुत सिथरो सो मन उपमा आवी ।
गिरिजापतिभूषन पै आमो मुनिभष्मर्पक प्रकासी ॥
सम्भावन भूषन कर खण्डित सुधर सखी मुसकाई ।
सूरदास वृषभानुनन्दिनी भुरि भर चली पराई ॥

(१४)

गृह तें चली गोपकुमारि ।
निरख ठाढो देखि अद्भुत एक अनुपम नार ॥
कमल ऊपर सरस कदली कदलि पै मृगराज ।
सिंघ ऊपर सर्प दोई सर्प पै ससि साज ॥
मध्य ससि के मीन खेलति रूपकांति सुयुक्त ।
सूर सखि भई मुदित सुन्दरि करति आछी उक्ति ॥

(१५)

गिरिजापतिपितुपितुपितु ही तें सीमुन सी दरसावै ।
सम्भिसुतवेदपिता की पुत्री आजु कहा चित आवै ॥
सूरजसुतमाता सुग्रीव की आपुन आदि दहावै ।
सूरज प्रभु मिलाप हित स्यामी मनमिस उक्ति गनावै ॥

(१६)

निसाअन्तपतिसुतकुमार सुनि आजु कहाँ तें आई ।
पुत्रपुत्र के पास गई जिन सूरजसुता नहाई ॥
हरिग्रहमनमोहितन सरस कहूँ सुरभी सुन्दर गैंमाई ।
सारँग मुख भीखन तें बिद्धुरत सर्पविनि रस चाई ॥
मानुमानुसुत की सुभानु मम सब हित सरस कमाई ।
सूरज पर आनन्द हुमित कर सर संजोगता चाई ॥

(१७)

बीचिन मिल्यौ नन्दकुमार ।
उचित उत तें भयौ सजनी रिच्छपति रवि धार ॥
मासु बसु पुनि पंच दोऊ करैं मदसुत रूप ।
मोहि गहि लै गयौ कुञ्जन मंजु मनसिज भूप ॥
निकसवी हम कौन मग ह्व कही सारी बैस ।
मोह को यह गरव सागर भरी धाइ प्रनैस ॥

(१८)

सिसीमुखसारंग निहारन करौं कौन उपाइ ।
बान भीर सुजान निकसति धरति धरनी पाइ ॥
चमक चहुँ दिसि चमत चाही संभुभूषन भाइ ।
मदनदन बैठि हेरत रहत निसिदिन गाइ ॥
ह्वै रही यह विपति तेरी विपति होहु सहाइ ।
सर सरस सरूप गवित दीपकावृत चाइ ॥

(१९)

देखत तैं कित मान बढ़ायो ।
भूसुतसभुनाथहितपितुतियप्रियहिय बचन डिढायो ॥
नामसुतापतिपितुअरि धामो माम मृषदन छपायो ।
सुरसुतामरिबन्धुतातअरिभूषन बचन सवायो ॥
सुरभीतमजासुतसुत की प्रभु माला तसक बढ़ायो ।
सूर स्याम अब पर्‌यौ पाइ तर तब किम कठ लगायो ॥

(२)

राधे तैं कित मान कियौ री ।
समहरहितरिपुसुत सुजान कौ नीतन माहि दियो री ॥
बाजापतिप्रपजभम्बा के मानुवानसुत हीम हियो री ।
मापितुअरिहितपितसुतवधू भारत कौन जियो री ॥
सूर स्याम हित भरम फद्यो कहु कैसें जात सियो री ।

---

१८ इस पद में कवि का नाम नहीं है ।

१९ सरदार की प्रति में यह पद संख्या ९ पर भी दिया गया है । भारतेन्दु ने इस पद की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार दी है जो अधिक उपयुक्त जान पड़ती है ।
सूर रोम परस्पर करत कत गंड न स्याम लगायो ।

२० यह पद भारतेन्दु की प्रति में नहीं है । —यह प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है ।

(२१)

मानिनि अजहूँ मान निवारी ।
प्राननाथप्रतिपालककरन हित मानो कह्यो हमारी ॥
है-है पतिधरतियापुत्र कहि अजहूँ वेगि सिधारी ।
तीन दोइ त्रिय पाँच सात इक गति मतिमत विचारी ॥
दोइ एक करि अस्तहीन माहि सो इ बैर विचारी ।
प्रथम चारि उपमान कहा मुख बैठी मन सुधारी ॥
अति गंभीर बनो पदमापितु सी बुधि उदर तिहारी ।
सूरदास दृष्टान्त पाइ पर देखति नन्दकुमारो ॥

(२२)

मानिनि अजहूँ छाँडी मान ।
तीनबिधि दधिसुत उदारत रामबस युत सान ॥
तीन सम बल करै सो छग कौन भल धसि बान ।
केतु सम कल मत माहीं प्रान प्रीतम प्रान ॥
तीन की की रूप रतिपति सम न दूजी आन ।
सखी फिरति पचास तिति तब पास करि घर ध्यान ॥
कहा कहि कहि मैं बुझावौं देखि सकति न हान ।
सूरदास सुजान पाइन पर्यो कारो काम ॥

(२३)

निसि दिन पथ जोवत जाइ ।
दधि को सुतसुत तासु आसन विकल ह्वै अकुलाइ ॥
गयवाहनपूतबाँधव तासु पत्नी माइ ।
कबै द्रिग भरि देखिबौ जू सबै दुख बिसराइ ॥
धनाभख की हानि हमको अधिक ससिमुख आइ ।
सूर प्रभु बिनरेक बिरहिनि कत रिझैहौ पाइ ॥

---

२१ अ २
२२ मा० २१ । भरतार की प्रति में इस पद की तीसरी पंक्ति छूट गई है और उसकी पंक्ति इस प्रकार है —भूमिसुत सो मिलो गुण सो मिलराज सुजान
२३ अ १

रवि पंचक संग गए स्याम मम तातें मन अकुलात ।
कहु सहुक कबि मिले सूर प्रभु प्रान रहत नतु जात ॥

(२५)

बीती जामिनी जुग चार ।
जात वेद सुमोहि मारी बीर भूषन चार ॥
बसुधपति को मनुज प्यारी गई मिपट बिसार ।
नागरिपुभख मगत नाही हौं रही पचिहार ॥
कपट हीन न मीन ए री भरन बिछुरत त्यार ।
सूर करत बिनोक्ति भूषर भरन करत पुकार ॥

(२६)

राधे कैसे प्रान बचावै ।
परी महान बिपति सीसन पर बीसन ताप तपावै ॥
सेसभारधर आपतिरिपुतिय बसमुत कबहुँ न हेरै ।
जा निवास रिपुधररिपु मे सर सदा सूल सुख पेरै ।
धाधर मीतन तें सारेंग पति बार-बार झर लावै ।
बेलत भँवर कजरस चाखत आपन ते मुरझावै ॥
पंनगसगुभरिपुपितुसुतहितपति कबहुँ न हेरै ।
समासोक्ति कर सूर प्रिय कौं बार-बार बत बेरै ॥

(२७)

पलटि बरन वृषभानुनंदिनी जा पतिहितरिपुत्रास ।
परी रहति ना कहति कबहुँ कछु भरि भरि ऊरध साँस ॥
तात भादि मत बाम मतमिसि रिपुपतिपतनी तास ।
पितुससपति सखि चरित करत बहु महा मगिन के पास ॥
ताम्रत मही तरमिजा के तट तरबर महामिरास ।
सूर स्याम मन मिमत छूटि है परिकर श्रीपम फाँस ॥

---

२५ सा० ९४

२६ सा० ६५। भारतेन्दु जी की प्रति में इस पद की पंक्ति और पंक्ति इस प्रकार है —
तेल न तोल बचो कमल ते बेस धार बानी ।
[illegible] बहु रौंज सिरोमनि बाय बिहरे बारे ॥

२७ सा० ६

(२८)

प्राननाथ तुम बिन ब्रजबाला ह्वै गई सब अनाथ ।
ब्याकुल भई मीन सी तलफति छिन छिन मीजति हाथ ॥
ग्रहपतिसुतहितअनुचर की सुत जारत रहत हमेस ।
असपतिभूषन उदित होत ही पारत कठिन कलेस ॥
कुच कुच सखि नैन हमारे मंजन चाहत प्रान ।
सूरदास प्रभु परकर अकुर दीर्ज जीवन दान ॥

(२९)

चाहत मंच बैरी बीर ।
आपनो हित चहत अनहित होत छाँडत धीर ॥
नृत भेद बिचारि या बिन इन्द्र बाहन पास ।
सूर प्रस्तुत कर प्रसंसा करत लखिस मास ॥

(३०)

भई है कहा प्रथम सी बाल ।
द्वितिय सूर मिलि सुता मिती हित चहत तोहि गोपाल ॥
चौथ सिंगार पंच करि कटि षुष करी षष्टई चाल ।
सातई तोल आठ सौ मारत फिरत लाल बेहाल ॥
नवमों छाँडि अवर नहिं ताकत दस जिनि राखो लाल ।
एकादस सैं मिली बेगहू मानो नवल रसाल ॥
द्वादस सौं तलफत पिय प्यारो सुरुप साँवरो लाल ।
सूर स्याम रतनावलि पहिरौ ह्वै मंडित हित हाल ॥

(३१)

ब्रज मैं भानु एक कुमारि ।
तपनरिपुबस जासु पतिहितमंतहीन बिचार ॥
सचीपतिसुतसनुपितु मिलि सुता बिरह बिचार ।
तुम बिना ब्रजनाथ बरषत अबल आँसू धार ॥
बाल गोप बिहाल भाई करत कोटि पुकारि ।
राखि गिरिधर लाल सूरज नाथ बिनु उधार ॥

---

२८ सा० २७
२९ सा २८
३० सा २९ सर ७१
३१ सा २ सर० परि० ११

मच्छविधि के सिरकि फरकत भच्छि चारौं ओर ।
केस मोर निहारि फिर फिर तकति उरज कठोर ॥
होऽहवि ना आहु उतका नदनँदन बेग ।
सूर करि आछेप राखो आजु के दिन नग ॥

(३६)

दुरदसूम के आदि राधिका बैठी करति सिंगार ।
दधिमुतसुतसुतसुतअरिभखमुख करे बिमुख सुकमार ॥
जलधरजासुतसुतसमनासा धरे अनासाहार ।
बानरहित आपसि पतनी से बाँधे बार अबार ॥
सारँगसुतनीकन में सोहत मनों अनीक निहार ।
सूरज प्रभु विरोध सों भासत यस परजक बिचार ॥

(१७)

हेरत हूरप नदकुमार ।
बिमु दिऐं बिपरीत कमला पगनभासी भार ॥
रथ उभरत देखि मीकन मानि उरबर भेद ।
परे सारँगरिपु न मानत करत अद्भुत खेद ॥
निकसि सारँग तें सु सारँग हरत तन की ताप ।
सुधाधरमुख पै रखाई यौं कवन कह थाप ॥
यी सुतम तैं सरस सागर होत छिन छिन आज ।
कियौं पति आधीन सूरज के बिभावन ब्याज ॥

(१८)

तात तात पै आति अकेसी ।
सुतीसमूह दिवसपतिनंदिनि सग न सखि सहेली ॥
उरज अनूप उठे चारौं दिसि सिवसुतवाहनखाद ।
संभू सेन सँबारी डोलति पग पग पम रिपु स्वाद ॥
तदपि न डरति कुम कालिंदी धारयो धो चित माँझ ।
सूर स्याम सग बिसेपोकन कहि आई अबसर साँझ ॥

---

१६ स ११ म। १२
१७. स १४ भा ११
१८. स १५ भा १७

(४२)

सजनी नन्दनंदन मान ।
तिरक ठाढो हेरि माई हरप बाढ्यो साग ॥
दास नग की मार निसवत लेत है मनमोल ।
चमक नैना बसत चहुँ दिस कहत अमरित बोल ॥
टकुम् सटकत देखि सजनी करत सुख बिपरीत ।
घर स्याम सुजान सम बस भई है रस रीत ॥

(४३)

बंसीबट के निकट आजु हो नेकु स्याम मुख हेर्यो ।
नटनागरपट पै तब ही तें मटकि रह्यो मन मेरो ॥
मित्ररिपुतियपटमनुजगिरारस आदि बरन जा केरो ।
सुखमाहलसिर धरे आप सबु निज कर सम निरखेरो ॥
नीरजेव भो कोप सहित कर पूरब रोस बसेरो ।
भूसुतभियखसफल सफरी ज्यौं बारहीन तन हेरो ॥
सूरज चित नीच बस ऊँची लयो बिचित्र बसेरो ॥

(४४)

मोहन मो मन बसिगो माई ।
को माने कुलकान कहो है मात तात अरु भाई ॥
ज्यो सार ग सार ग के कारन सार ग सहित न जाने ।
र आपतिसुससमुपिता ज्यों नग महि मत न तोर्से ॥
तन पै मीत आदि सुतसुत की जननी प्रातम माँही ।
रहत तजे परबस अहार ज्यों प्रास तमत तन नाहीं ॥
नृपभूपन कपिपितुगज पहिलो आस लखर को छाँडे ।
विधि मछत्र के हेत सदाई महाबिपति तन मांडे ॥
ज्यों मन प्रान नवाम सबन की मान ऐंचि सी राखी ।
सूरजदास अधिक का कहिए करी सबु सिवसाखी ॥

---

४२. स १६ आ ४१
४३ स ४ आ ४२
४४ स ४१ आ ४३

(४५)

कुंज मग मे आजु मोहन मिल्यो मोको बीर ।
चली आवति ही अकेली भरे जमुना नीर ॥
गहे सारँग करन सारँग सुर सम्हारत बीर ।
नैन सार ग सैन मो तन करी जानि अधीर ॥
आठ रवि ते देखि तब ते परत नाहि गँभीर ।
अगप सूर सुजान कासों कहौं मन की पीर ॥

(४६)

आज लसी सखि अचरज एक ।
सुतसुत ससत लिपीपी गोपी सुतसुत बाँधे टेक ॥
पयरिपु मग मग दोउन के भरत धार कन नीक ।
राग मूल मो मित्रप्रिय देखत दोउन नाहि नजीक ॥
दोउ लगत दोउन तें सुन्दर भसे अनोप्या आज ।
सास्तुक सूर देखि दोउन को करि न सकत हैं साज ॥

(४७)

सजनी जी तन वृथा गँवायो ।
नदनंदन ब्रजराज कुँवर सों नाहक नेह लगायो ॥
दधिसुतपतररिपु सहे सिलीमुख लग्य सब अग मसायो ।
सिवसुतबाहनरिपुभखसुतसुत सब तन ताप तचायो ॥
पर आँगन दिन दिवस सूरबातन बहु मूरति देखी ।
सूरज प्रभुनै किनी चाहिमत है निरखैर विसेनी ॥

(४८)

पिय पिग मोहि तोहि सुनि सजनी पिग पेहि हेत भुलाइ ।
पिग मार म मार ग मैं सजनी सार ग अंग समाई ॥
सारँग मान मथनि सारंग सी सारमिनि क्या फूली ।
सारगनि दै सोम सूर बैपानिनि समुझि न भूली ॥

[illegible]

(४९)

रबि दायररिपु प्रथम विकास्यौ।
ताने निजपतिनी मेरे मन करि सारँग प्रकास्यौ ॥
पतनी लै सार ग पर सजनी सारगधर मन खेच्यौ।
ग्रहनक्षत्र मध बेद सबन मिलि तन मन करिकै बेच्यौ ॥
सो धन हाम हीन चाहत है बिना प्रानपति पाए।
करि सका कारन की माला तेहि पहिराउ सुभाए ॥

(५०)

बैरोचनसुत कौ सु भाउ सुनि जबही आनि पठाई।
तब ही तों सग चत माँगि गो सब सुख देखन चाई ॥
चंदभागसँग गयौ सु भास्कर रिपु सब सुख बिसराई।
एक मयल करि रही मसूभा सूर सुतन कहं चाई ॥

(५१)

राधे धाजु मदनमदमाती।
मोहति सु दर सग स्याम के करषति कोटि काम कल भाती ॥
मतरिच्छ श्री ब धु लेत हरि त्योंही भाप भपनपो भाती।
ग्रीषम पवन लेत हरि हरि करि ग्रीषम पवन लेति निज छाती ॥
यह कौतुक बिलोकि सु न सजनी मालादीपक की चित चाती।
सूरदास बसि जाति कुहुम की लिखि लिखि हृदय कथा चितपाती ॥

(५२)

देखि भाज वृषभान दुलारी।
दिनपतिसुतभ्रातापितुपितुभापतिसुत सुतप्रियपितुहितकारी ॥
सम्भुप्रिया करि महापम्कि त्रु रही सम्हार न धाग बिचारी।
नीकन प्रधिक बिपत दुति तातें भ्रंतरिच्छ छबि भारी ॥
मेचन पाट मसा जातिक मल डारति तीन लोक छबि चारी।
भूपन सार सूर सम सीकर सोमा बढति ममस उजियारी ॥

---

४९ स ४९ मा ४८
५ स ५० मा ४९
५१ स० ५८, मा ५
५२ स ५१ मा ५१

(५३)

राधा बार-बार अमुहात ।
जलधरजलसुतकीरबिम्बफल है रसाल के सात ॥
हग मुख देखि नासिका अधरन ठोडी ठीक सजात ।
सारंग मुख छवि बिन मधुनी रस बिन्दु बिना मधिकात ॥

सूरज मासस अपासक कर बुझि सखी मुसमात ॥

(५४)

अब मैं करौं कौन उपाइ ।
भई जो बिपरीत तासौं समुझि सूस सुभाइ ॥
चार पद के पत सुभूपम ते निकासी सक ।
सिपीपी उर डारि दीन्ही प्रान बारी रक ॥
रटन सारंग ते निकासी नाम समर मिलाइ ।
डारि दीन्ही सुमुझि तिनके कहा धौ चित चाइ ॥
रही चिन्ता दई खाती काम चाती बोर ।
करत है परसब काहि समुझि ताकत दीर ॥

(५५)

सूसुत आइगो इहि बेर ।
सेन सुतसुत हाइ सजनी समुझि आप सबेर ॥
पसुसुतपितताप ह्वै कै लेइगो रो प्रान ।
कै सजीवन भूरि लै कै हरैगो तन ताम ॥
मोहि यह सन्देह सजनी परयो बिकसप भाम ।
सूर समुझि उपाइ करि कछु देहु जीवन दान ॥

(५६)

द्विजजापतियतिलीपतिसुत कै देखति ही मुरझानी ।
चठि-उठि परति धरनि पै सुन्दर मन्दिर मई भयानी ॥
सारंग बचन सुनति जीवन की कछु आस उर आनी ।
भूतनयारिपुमितुसेना की सगिम मति गति जानी ॥

---

५१ स ६ ब ५१
५४ स ६१ म ४१
५५ म ६१ म ६
६ स ६ म ६६

काको कहौ समूचे भूपन सुमिरन करत बखानी ।
सूरदास प्रभु बिन ब्रज ह्वाँ हैं कहिए कहा सयानी ॥

(५७)

बोल न बोलिए ब्रजचंद ।
कौन है सखोप सब मिलि आनि आप अनंद ॥
कहै सारँगसुतबदन सुनि रही नीचे हेरि ।
निरखि सारँग बदन सारँग सुमुख सुन्दर फेरि ॥
गहत सारँग रिपु सुसारँग दियौ सारँग सीस ।
कियौ भूपनपुत्रसारँग सग सारँग दीस ॥
उर्व सारँग आनि सारँग गयौ अपने देस ।
सूर स्याम सुजान सग ह्वैं बसी बिगत कलेस ॥

(५८)

मानिनि तज्यौ नाही मान ।
करत कोटि उपाइ थाक्यो सुघर सुन्दर स्याम ॥
इन्द्र दिसि के आदि राखे आदि दरपन धाम ।
ई हकार उचारि थाको रह्यो कातत प्राम ॥
हेमपितु सुनि सबद सेना लगी आप लखाइ ।
जागि प्रिय भूषम सम्हारत सूर अति सुख पाइ ॥

(५९)

सजनी निरखि अचरज एक ।
जलहरिहितरिपुसेन पराजित ह्वै गए ब्रज तजि टेक ॥
सो उर राखि साज सजि आई सबै पाइ बिन नाथ ।
व्याकुल कै वृषभानुनंदिनी आप भई तब साथ ॥
हरषि हरषि करपत चित चाहत तेहि तें का प्रतिमीक ।
सूरज प्रभुहि सुनावत हारो है को कहु चित ठीक ॥

(६०)

बाम बाम जिन सजनी कीन्ही ।
तिनकी ऊधौ कहा बात बढ़ि हम हित जोग जुगति चित दीन्हीं ॥

---

५७. स १६, मा ५९
५८. स ५६ मा ५७
५९ स ५७, मा ५८
६ स ५८ मा ५६

पुमपनपतिबाहनभख हम सँम बात न वनक लाज मति भीनी।
बृच्छ भाग धरि फिरे सबन के कबन आप तब समुझु न भीनी ॥
भमित धरध भूपन उनही हित कीन्ह भरत चित चाह नबीनी।
सूर कही जो तुम्हें रथ हम जीवन जो न मीनगति हीनी ॥

(६१)

देखिरी बृषभानुजा की दसा आज अनूप।
बनत नाही कहत देखत सरस बिरह सरूप ॥
मीनकनन तैं दिवस बारति परत धन पै हेरि।
बेद भरत न सुनमुन कै मसत टारन केरि ॥
सुभबाहन सी सुहानी बिना जीवन देख।
धन्भाग पठाइ दीन्ही प्रानपति संग भख ॥
पचग्रह रावन विचारमी वहि सारंग एक।
भनिर्त्तचिह्न बिचारि भ्रमरन राखि सूरज टेक ॥

(६२)

आवत सुन्यौ नदकिसोर।
भाजु मेरी मसी ह्वै कै करत बसीसोर ॥
सगी हुलसन मेघ मंगल भरे बिमक सजोर।
करम चाहत राखि रोकै काम कसबस घोर ॥
मत तैं कर हीन फरकत फमिग बाँई भोर।
नीति बिन बसबान सीबत नीक जानन भोर ॥
काज आपुन समुझि कै क्रिन करे आप मघोर।
वाम्य भवर धारि अप कर सूर भूपन तोर ॥

(६३)

सिबमगग्रहसारँग सी बोत।
कहत सदा याही बिध प्रतिदिन पिय मन सकुच न होत ॥
दधिसुत मैं दधितिय बीपति सी मृदु मुख तैं मुसकात।
सुन्दर माखर मम पै नगपति बम कहि सजत न मात ॥
सुनि सुनि मीड उक्ति यस उनकी मन की कही न बात।
सूर स्याम कौं को समुझावै तो बिन ललिता बात ॥

६१ स १६, ना १
६२ स १ ना० ६१
६० स० ६१ ना ६२

(६४)

फलसूचक का कहिये वीये ।
जो यह बिपति परी तन ऊपर सो का कहि समुझैये ॥
दधिसुतरिपुभखसुतसुभाउ पै पत उन मोहि बुलाई ।
गिरजापतिमख बीच कौन सो ह्व गो मोको माई ॥
भुसुतसनुयाम किन हुरत सखत मोहि मन मारे ।
मुनिरिपुपुत्रवधू किन बैरिन मोको देत सँवारे ॥
तीन सुन एक करी होइ के तिसनै मुख मुख पावै ।
मन्दन्नंद की कीरति सूरज सौ संभावन गावै ॥

(६५)

सोवत कुंजभवन में दोऊ ।
श्रीवृषभानुकुमारि लाडिली नंदनंदन ब्रजभूपन सोऊ ॥
हायन पितुसुतहितमुनिपटधर एक-एक ऊपर सब सोऊ ।
मतरिच्ध सारंगसुत उनके उन उम रँग बिन भीजन होऊ ॥
यह सुख मधुर सुनत स्रवनन में रहत सेस आनँद भर जोऊ ।
सूरदास प्रभु की यह लीला मिथ्या करत ब्रह्म सुख वोऊ ॥

(६६)

मेरी कही न मानति राधे ।
ए अपनी मत समुझति नाही कुमत कहाँ पन नाधे ॥
दधिसुतसुतसुत के हितकारी सजि सजि सेज बिछावै ।
तापर पौढि चहत है आपन अस ब्रज को समुझावै ॥
यह नखत औ बेद अरधकरि बात हृदय मन काढे ।
तातै चहत अमर पम तन की समुझि समुझि चित काढे ॥
धर्मप्रिय घटे देखि निज नैननि आप न रंग बनावै ।
सूर ललित सब बात समुझि के को कहि कहा रिझावै ॥

(६७)

हों चल गई जमुना लैन ।
मदनरिस के आदितें मिलि मिली गुनगन ऐन ॥

---

६४ स ६१ ना० ६२
६५ स० ६३ ना ६४
६६ स० ६४ ना ६५
६७ स ६५, ना ६६

कहत सामी कमलपितुपतिभगिनि को सब गात ।
पलक नेंकु उघारि देखति आइ सुन्दर गात ॥
सुरस सारँग के सम्हारत सरस सारँग नैन ।
सूरदास प्रहर्षना सहि सरस सारँग बैन ॥

(६८)

हौं असि कठन जतन विचारौं ।
यह मूरति जाके उर अंतर बसौं कौन विधि टारौं ॥
जब हौं कहति लाज की बातें तब अति व्याकुल होई ।
पर चौप निकसत सो मोकौं जानि परत जस सोई ॥
सुरभीतमयासुतहित नाहीं चहत हार चित हेरौं ।
अपस्मार जहँ सूर सम्हारत बहु विषाद उर पेरौं ॥

(६९)

सोवति ही मैं सजनी आज ।
तब लगि सुपन एक यह देख्यो कहति अचभौ लाज ॥
मिलभूपनरिपुभखसुतबैरीपितुअरि केर सुभाव ।
आन भई जहँ सुतसुत बैठो हँसत बढ़ायो चाव ॥
हौं चाही तासौं सब सौतन रसबस रिझवौ कान्ह ।
जागि उठी सुनि सूर स्याम सँग का उल्लास बखान ॥

(७)

ऊबी तब तें मन अति नीको ।
लागत हम स्याम सुन्दर बिन माहिन सब अति फीको ॥
वायससबदप्रभा की निमवन कीन्हौं काम अनूप ।
सब दिन राखत नीकन आगें सुन्दर स्याम सरूप ॥
कोई जनम जो राजा बैरी का विष आप बनावै ।
करत अनुग्या भूपन मोकौं सूर स्याम चित भावै ॥

(७१)

बालम कौन सीखी बान ।
सुनत मोकौं सकुच मानति सुमत उनकी ठान ।

---

१ म १ भा १
६ म १७, भा १
७० म १ भा १
७ १ भा ७०

देखि मावम होत कबहूँ कहूँ दीप समान ।
समुसुतभूपन बसावत बदन मापु प्रमाम ॥
रगबद के सरिस सब दिन करत मीकन जान ।
मतरिच्छन सिषुसुत से कहत करि मनुमान ॥
राहुमख के बंधु से है तब कपोल सुमान ।
कहत सारंगबैन सुभगत हृदय सुनि सुनि तान ॥
रहत है यहँ जीव दत्तमी समुझ इनको मान ।
सूर प्रभु की बाँसुरी मैं लसैं भूपन कान ॥

(७२)

कत मो सुमन सौं लपटात ।
समुझि मधुकर परत माही मोहि तोरी बात ॥
हेम फु ही है न बा संग रहै दिन पस्यात ।
कुमुदनी संग चाहु करिके केसरी को गात ॥
केवरो सताप राता तुम्हें सब दिम होत ।
केतकी के मग लगी रंग बदलत जोत ॥
ही मई कुस हाद समुझति बिरह पीर पहार ।
सूर के प्रन कहत मुग्ना कौन बिबिध बिचार ॥

(७३)

ठाढी जलजासुत कर लीन्हें ।
वमिसुतसुतवाहनहित सजनी भत्त विचारि चित दीन्हें ॥
को जाने केहि कारन प्यारी सो नखि तुरत उठानें ।
चपला मी बराह रस मासर मादि देखि झपटानें ॥
तद्गुन देखि सबै मिलि सजनी मनही मन मुसुकानी ।
सूर स्याम को लगी बुलावन मापु समागम मानी ॥

(७४)

कूद्यो कालीदह में कान्ह ।
रोवति चली जसोदा मैया सुनत ग्वालमुख हाम ॥
छूटे विन कुमार के बैरी नटकत सो न सम्हारे ।
सूरजसुतरिपुसुत पे मावित गिरत कौन तन धारे ॥

---

७२ स ७० मा ७१
७३ स ७१ मा ७२
७४ स ७२ मा ७३

म म म ग विरहामम समर्ते महास्याम सौ मार्थे ।
वानरमिमबंदमृत वाते सुनत रथ परगार्स ॥
समुम्झवति सब पाछिल बातें तमक न मन मैं मावे ।
सूर स्याम सुत सूरत सम्हारत कालीदह को मावै ॥

(७५)

माज रन कोप्यौ भीम कुमार ।
महन सबै समुभाइ सुनौ मुत परम मादि चित चाहु ॥
मादि रथास बाग फम कै मुत पे बांधे ममिमान ।
मूरअसुत कै सोक पठावत तै सब करत महान ॥
वसनराज जो महारथी सो मावत मग्र मनूप ।
सहित सैन मतसग सिधारत सौं सब सघ सरूप ॥
ततु पुत्र की है का मिलतो भा सनमुख भट मावै ।
सुमम सोक सौं मब या बेमा भँवर सम छवि पावै ॥
बैठे बदपि युधिष्ठिर सामैं सुनत सिखाई बात ।
भयो मतसूभुन सूर सरस बड बनो बीर बिख्यात ॥

(७६)

देखत सम्यौ पंडुकुमार ।
भयो सनमुख पितामह गहि धनुस भीर सर मार ॥
भये फरकन म तरिच्छ मनूप मीतन रग ।
रिच्छ फरकत वेराहौं तक सभु सौ सब सम ॥
भीत बनत कुबेर कौ पुनि मानपान सम म ।
तदपि सेनापति निहारत बस्यौ बरम प्रमान ॥
चल्यौ रथ सौं चिते मावत भीम मादिक सूर ।
सूर प्रभु कौ देखि मद्भुत भयौ है रन रूर ॥

(७७)

सुनि सुनि मदन दल की रीत ।
नृपति कस परयौ परनोवम छाँड़ि मापनी मीत ॥
बार बार मीतन तें बारत हारत सब सुख हेर ।
बार बार मोकत पम मपनी सोवत फिम्मत फेर ॥

---

७५ स आ क
७६ स प ७८
७७ स ना न्म

रवि पंचम पल होत नही थिर थकित भयो सब गात ।
भवल बसन मिलि रहे अंग में सूर न जान्यो जात ॥

(७८)

मोर उतपत आदि उर ते निकसि आयो कान ।
बीच निसि को आदि भगन लग्यो लेप समान ॥
बेद पाठी अगन सोई रीत कै बहु छोट ।
रहे बिच-बिच समुझि मोको परै नाही ओट ॥
बाँसुरी लै आनि मोकौं पर्‌यो मा सुत सोइ ।
सूर उनमीभत निहारी कहैं का मति मोह ॥

(७९)

माज चरित्र मदनंदन सजनी देखि ।
कीन्हों दधिसुतसुत सौं सजनो सुन्दर स्याम सुभेष ॥
सारंग पलट पलट छबि दोई लै गो आप चुराइ ।
सोई सबके घर घर आई जसके रस सुख पाइ ॥
को यह कौतुक करे और सुनि समुझि आप निज बात ।
सूरदास सामान्य करन को ये ही बसित सजात ॥

(८०)

जसुमत माज बैठिके आँगन अपनी सास सिखावै ।
चूमि चूमि मुख अपने चित करि आनन आप मिलावै ॥
सारँगसुतप्रीतमसुतरिपुरिपुरिपुरिपुमास बनावै ।
पिउ प्रधान भूमिपतिसुतमुखभाषित सरस सुनावै ॥
भूपनपतिभख आपति वाहन हित बिचारि चित गावै ।
मनहरहितरिपुसुतसुख पूरसि नैमन मद्ध लगावै ॥
धौरी धूमर कावर कारी कहि कहि नाम बुलावै ।
सूरज करत बिसेष अलकृत सब सुख साज सुनावै ॥

(८१)

माज गिरि पूजन स्याम चलै ।
लै लै सिन्धु समुसुत अति प्रिय पावन माट भरै ॥

---

७८ स भा ७७
७९ न भा० ७८
स भा० ७९
८१ स भा ८

नभरलोक की नाम बीच तें गोग्रह मन्त परें ।
निकट बास परबत बाडिम पुन सौई रीत धर ॥
मावत मावत बाजत बाजन आवत पु न प्रभाउ ।
नद मादि सँग मति सुख पावत मावत जो नेहि साउ ॥
मूसोसर मस बहुति ग्वालिनी मोहि गेह रसवारी ।
राखि गए सुनि सूर स्याम मन बिहँसि रहे गिरधारी ॥

(८२)

बिप्र जू पावन पुन हमारे ।
जो बजमान मानि के मोकों माधु इहाँ पगु धारे ॥
एक बार जो प्रथम सुमाई लग्न कुण्डली सोई ।
पुनहीं मोहि सुनावहु सुनकर बहुत सम्यौ सुख होई ॥
सवत मास षष्ट बसु तिथि है रवि तें चौथी बार ।
पु म पच्छ धौ वेद नछत्र है हरषन जोग उदार ॥
दूजो लगन मैं है सिवभूषन सो उन को सुखकारी ।
नेहरिवेदरासि मैं मूरति सेस भार सब सेहैं ।
बानसतीसुत है पुनी के मदन बहुत उपजैहै ।
सास्तर सुक तुला के रविसुत तें बैरी हरता जोग ॥
मुनि बसु तिय बसकेर भूमिसुत भाग भवन में भोम ।
नाम धाम पंचमी कामभुज ग्रह निधि गृह में भाई ॥
बान बरस मैं कन्न देखेगी कही तिहारी पूरी ।
सूरदास दोउ परे पाइतर भूपन बित्र समूरी ॥

(८३)

मावत ही बृषभाननन्दिनी माधु सखी के संग ।
ग्रह मष्टम मैं मिल्यौ मंदसुत भग मगम उमय ॥
करी दुमाइ दई माथे उन उन सखि सो पुनि लीन्ही ।
कुन्तीसुतपितुसनमुख कर कर लाइ हिए मैं लीन्ही ॥
सुछम तें बुद माव एक नरि ह वै रहे बास मधीर ।
सूर स्याम देखत मनदेखत बनत न एको बीर ॥

---

८२ स म० १
१ स मा १

(८४)

हरि को अन्तरिच्छ जब देख्यो ।
दिग्गज सहित अनूप राधिका उर तब धीरज लेख्यो ॥
बहुत च य पुनि कुन्त अग्र मैं नीछन सों रँग सार्‌यो ।
रेसम सब उर भूरख मासा पच्छिम पीठ सम्हार्‌यो ॥
मासम मैं सिंगार रस सोहत सब मन कुचि बनाई ।
ले नियेद दरपन निज करसे सनमुख दयो दिखाई ॥
सुच्छ बसन नय उर के रस सौं मिले लालमुख पांछो ।
सूर स्याम तन चितै फेरि मुख पिहितभाव बस मोछो ॥

(८५)

यह साँवरी सखी मेरे हित बकबाक पढि आई ।
जसमाता सुधि सीस आनि के सिखवन हेत पठाई ॥
जानत हैं बुधवंत बेद बस तसन कहू सुनि पैहैं ।
या सँग रहत सदा सुख सजनी सब मुख सोभा पैहैं ॥
चेली करत मोहि कहि लीन्ही अबर न करिहौं चेली ।
तुम गुरु होहु और जा सीखें तिनकी समुझि सहेली ॥
का सतराति असी बतरावति उतने भाव नचावै ।
सूरदास तजि ब्याज उकति सब मोसों कौन छिपावै ॥

(८६)

हरि यह आपतिपतनि सहेली ।
हयभूषण कीन्हीं ना तातें जेहै काल अकेली ॥
तिरसकार भासा मैं जाते लागत है भय भारी ।
कासों कहौं सुनै को सजनी परी बिपत्ति महारी ॥
पगरिपु ता मँह परत मवास के को तन तैं सुरझावै ।
उकति गूढ है भाव उदै सब सूरज स्याम सुनावै ॥

(८७)

सिधव भय आराम मध्यत आज हरायो स्याम ।
हेरी सारंग मदन तिया के अन्त बिचारो बाम ॥

---

८४ स. बा ८३
८५. स. मा ८४
८६ स. बा० ८५
८७ स. बा० ८६

पति माता और मोन आदि दै हु बैं भयो समुझे चित्त ।
बेरोचन सुतकी सुमार्ड संग दक्षि परत ना मित्त ॥
इन्द्र सहाइ उठै चारों दिस लिए सहेली हाथ ।
याहि बिपति में राखनहारो कौन हमारो नाथ ॥
तातें बिनै करति नैंदनदन बसौ हमारे संग ।
बिप्र उक्ति सुनि सूर स्याम को मटिगो बिरह प्रसंग ॥

(८८)

करि बिपरीत भवन में मारा ।
बैठी हुती अकेली सुन्दरि मसति रूप सुतसुतसुत मारा ॥
दधिसुतअरिभक्षसुतसुभाउ पति तहाँ उछाहल आई ।
देखि ताहि सुर लिखि कुबेर कों चित्त तुरत धमुझाई ॥
करति बिग तें बिम दूसरी चुगल मसंकृत माही ।
सूर देखि ग्वालिनि की बातें को क्स समुझि तहाँ हीं ॥

(८९)

माधौ कीजिए बिश्राम ।
उग्री बाहत सैन बेरी करम पितु हित बाम ॥
कुम्भी बाहव सरन सारँग देत सारँग दान ।
सुरा सेवन करन आये बिप्र सखि सुख हान ॥
निसाचररिपुहीन ह्वै है गए घर सब कोई ।
बिष्णु बाहन सेन दस दिस भये कोमल सोई ॥
आइगो नैंनलाल संगी देखिए मैंदलाल ।
मान केहि बिध कीजिए उरबिन गुनन की माल ॥
आपके गुन कहन कारन आप ही कलेक ।
सूर दौंकी देन सिर पर लाक उक्ति अनेक ॥

(९)

मानिनि बार बसन उघार ।
सघु कोप कुमार आयो मारि को तनु मार ॥

---

८८ स बा ८७
९ स बा ८८
९ स बा० ९

नागजापतिपिता पुर कीं जासु कहत न बेग ।
गेह ग्रग ग्रौर रग भ्रम सुनि रीति ताही नेग ॥
कहहु करहि सहाइ सुरपति बढत ब्रज पै फेरि ।
सूर उक्तिहि बक्र करि करि रही मीर्ने हेरि ॥

(६१)

सजनी ताकौं सब समुझावै ।
जाकौं आज सनक ना तन में मन में सो न सकावै ॥
सु न तीन पाछिस सुम ताकौ प्रथम आपनी खोड़ै ।
भूधर समर ग्रादि ती सोई सुनत करत तन पौड़े ॥
दामवप्रियासेर ग्रालीसों सुरभीरस गुड़ सीचौ ।
तजतन स्वाद आपने तनकौं जो विधि दीन्हो मीचौ ॥
येक उक्ति जहु दुमिल समुझि मैं का समुझावति नीठौ ।
भावति मिसरी सूर न घर की चोरी कौ गुड़ मीठौ ॥

(६२)

नवजनीत हौं आज निहारे ।
मोरन के सूर सरस समारत पै-सूर तिया बीच दब कारे ॥
नूतकार उत्तम बनाइ बानिक सँग चद न पावै ।
मास भाग सिर लसत सुरन के देखत मुकि-मुकि आवै ॥
सजन ग्रौर बरही मुख करि-करि सजनी फिर-फिर झाँक्यो ।
एकाबरन सुभाउ उक्ति कर सूर सरग रस बाँको ॥

(६३)

माधौ ग्रस न करिबौ जोग ।
जसकरी वृषभानुजा की दसा आपु वियोग ॥
ससि पावस कपोल के मद्ध मूँदि राखे नैन ।
है सिवारो नाग मनसिज ससिन ग्रौर ग्रर्चन ॥
जामिनी मोवा बिचारति काम सँग तन प्रान ।
चसन सुनि कै राबरो ह्वै गई मन पिय हान ॥
त्रिमिम भाविक भिन्नी भूषण आप ग्रद्भुत भाज ।
सूर चाहत कहा बैठो गेह न तजि काज ॥

---

६१ न का ६
६२ ए ८८ ६१
६३ ए ना० ६१

(१४)

छमे पति कित आत खेलन कान्ह मेरे प्रान ।
प्रथसजापति प्रमभूपन भारहितहित भाम ॥
सम्भुपतमीपिताधारन चक बिदारन बीर ।
नन्द माहि निकंद कारन प्रभसँधारन धीर ॥
सेस मा कहि सकत सोभा भाम भो प्रति उक्त ।
कहे बाविक बाचते ही कहा सूर अनुक्त ॥

(१५)

खेली भानुजा के भौन ।
हौं कहति बस जाहुँ बाहर कहा हित तें गौन ॥
दिन बिनन म सगे मानिक सियारिपुपितु हर ।
लाज मानत रहत निसदिन सकल ना मुख फेर ॥
बचर खेलन हेत भावत भाप तें सतकोट ।
मचत हैं सारग सुन्दर करत सबद भनेक ॥
सबै ब्रज तब हेतु खेलन चली भावत माल ।
सम्भूभूपनबदन बिलसत कंज तैं गुहि मास ॥
मह उबारत मनूप भूपन दियौ सब बर तोर ।
सूर सबरे सब्जनन जुत सहित सब मिल तोर ॥

(१६)

वृत्तीरासविनपति पुर माही ।
काहे कीन्ही तुम सब मन माहैं रोकत मए न को परछाही ॥
यहै हेमपुर मष्ट सुरससुत विनपति ही की बास ।
समुम्भि बूम्भि कै काम कीजिए राखि राखि उर प्रास ॥
मह प्रतिबेद मसंकृत जबहीं सुमुखी सरस सुनायौ ।
सूर कह्यौ मुसकाइ प्राननिय मो मत एक गनायौ ॥

(१७)

प्रबहर सोहत मुरन समेत ।
नीरन तें बिद्रुरयौ सारँगसुत कुन्त प्रम्र तें बन्दन रेत ॥

१४ स मा ११
१ स० मा० १
१६ स मा १४
१७ स मा १६

(१ १)

भगवान बस कौं दे बैठी ।
मंदिर भाजु भापमें राधा भम्बर प्रम समेंठी ॥
दधिसुतभररिपुपिता जानि मन पाछ भायी मार ।
कर भूपन तन हेरन लागी भयो देखि मम भोर ॥
सारँग पच्छ मच्छ सिर ऊपर मुख सारँग सुत मीकें ।
कटि तट पट पियरौ नट बरवपु सार्थे सुख रस बीके ॥
नोकन मैं सोतलता व्यापी भ म भ ग सियरानी ।
सूर प्रतच्छ निहारत भूपन सब सुख करप जुरानी ॥

(१०२)

बैठी भाजु रही भकेलि ।
भाइगी तब लौ बिहारी रसिक रचि बर बलि ॥
तीन बस कर एक दोऊ भाप ही मे दौर ।
पच की उपमेय कीन्ही दीव भापुन तौर ॥
भत तै करहीम माने तीसरो है बार ।
दोइ बस करि दियो समुभल भूस सौं के बार ॥
सो रहैं सौं समुभि लागी हसन हरषत सूर ।
सूर स्याम सुजान जानी परसही तें पूर ॥

(१ ३)

सारगपितुसुतबरसुतबाहन भाज म नैकु पुकारै ।
सिबरिपुसियबसुत काहै तें नैंकु न बात निहारै ॥
कसहीपतिपितुसुता भौर रँग कीन्हो कहा सुनाऊ ।
ब्रजबीथिन मैं के ब्रजबासी तिनहि देखि मुरभाऊ ॥
सुरभीसुतसुतसुरभित भौरै हेरत हरप न पूरे ।
भुसुतसभुमेहसुत कासौं कहौं भरे भति भूरे ॥
चारौं भोर व्यास बमपति के भु ड भु ड बहु भाए ।
ते कुबेत बोलत सुनि सुनि कै सकल भ ग कुम्हिलाए ॥

---

१ १ स भा० १
१ १ स भा० १ १
१ १ मु भा १

(११३)

भामिनि भाजु भवन मैं बैठी।
मानिक निपुन बना मीकन में बनु उपमेय समेठी ॥
भूषनपितु-पितुसुतअरिपतनीमाता भौर निहारै।
खचर खिलौना हित सिंगार अगमम सल्य सैं बारै ॥
बाघवसुतअरि के सुमाव सब कहत सुनत मुन ताही।
बिवक पूनभ्रातापितुपतनी करति सोन की नाही ॥
तहँ ब्रजचन्द्र माइगो देखति रही न काहू रोकी।
सूर स्याम मे गई बारनै निरखि कोक जनु कौकी ॥

(११४)

सजनी ह्रौ न स्याम मुख हेरी।
सूरसुतापितुरागगम्यपितुप्रिय भूत भावि सकेरी ॥
मुख समूह मानुस ताही बिच कर्‍यौ न कबहूँ फेरी।
पै निरखर रिस नीकी कबहूँ सब खिम सुन्दर पैरी ॥
मा बाभी अनुराग कहाँ तैं मोहिं बनै पन बेर्‍यौ।
भूषनपतिमहारसुतबैरी बारत अग उजेरी ॥
पलटत बाम भाम् भावट मैं निरखति दुख बहुतेरी।
सूर सुजान बिभावन पहिली किंकर कर मन बेरी ॥

(११५)

जसुमति देखि भापुनी काम।
बरस सर की भयौ पूरन मबै ना ग्रमुमान ॥
हीनसुत की हरन हरि कै कियो सो सब जान।
मानुसुत सो बीच लिखि पुन प्रथम ओर बखान ॥
सिसुबामुन सबन कीन्हूं यौ भरत तै पहिचान।
बृथा ब्रज की नारि नित प्रति देह उरहन आन ॥
तोहि अपनो लाल प्यारो हमें कुल की कान।
सूर समुझि बिभावना है दूसरी परमान ॥

---

११३ स ब० ११२
११ स ब० ११३
१ १ स ब० ११४

पार पावन सुरस पितु के सहित अस्तुति कीन ।
तासु बंस प्रसंस मैं भौ चंद चारु नवीन ॥
भूप पिरथीराज दीन्हौं तिन्हहिं ज्वालादेस ।
तनय ताके चार कीन्हौ प्रथम आप नरेस ॥
दूसरे गुनचंद तासुत सीलचंद सरूप ।
वीरचंद प्रतापपूरन भयो अद्भुत रूप ॥
रनथंभौर हमीर भूपति संग खेलत जात ।
तासु बंस अनूप भो हरिचंद अति विख्यात ॥
आगरे रहि गोपचल मैं रह्यो ता सुत बीर ।
पुत्र जनमे सात ताके महाभट गंभीर ॥
कृष्णचंद उदारचंद जो रूपचंद सुभाइ ।
बुद्धिचंद प्रकास चौथो चंद भो सुखदाइ ॥
देवचंद्र प्रबोध संसृतचंद ताको नाम ।
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम ॥
सो समर करि साह सेवक गए विधि के लोक ।
रह्यो सूरजचंद दृग तें हीन भरि बर सोक ॥
परयो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार ।
सातयें दिन आइ जदुपति कियो आपु उधार ॥
दिव्य चख दै कह्यो सिसु सुनि माँगि बर जो चाइ ।
हौं कही प्रभु भगति चाहत सत्रुनास सुभाइ ॥
दूसरो ना रूप देखौं देखि राधास्याम ।
सुनत करुनासिंधु भाखी एवमस्तु सुधाम ॥
प्रबल दच्छिन विप्र कुल तें सत्रु ह्वै है नास ।
अखिल बुद्धि विचार विद्यामान मानै मास ॥
नाम राखे मोर सूरजदास सूर सुस्याम ।
भए अंतरधान बीते पाछिली निसि जाम ॥
मोहि पनसो इहै ब्रज की बसै सुख चित थाप ।
थपि गुसाईं करी मेरी आठमध्ये छाप ॥
विप्र प्रथु के जाग को है भाव भूरि निकाम ।
सूर है नंदनंद जू को लियो मोल गुलाम ॥

---

१ म । ४ ११

परिशिष्ट ग १

परिशिष्ट ख की पदसूची

परिशिष्ट ग २

परिशिष्ट ग ३ की पदसूची

हमारा समालोचना साहित्य

प्रकृति और काव्य (हिन्दी)	डा रघुवंश	१२
प्रकृति और काव्य (संस्कृत)	"	११
नाट्यकला	डा रघुवंश	७.५
अनुसन्धान की प्रक्रिया	डा सावित्री सिन्हा डा विजयेन्द्र स्नातक	५
ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प	डा सावित्री सिन्हा	२
खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना	डा आशा गुप्ता	११
भारतीय कला के पदचिह्न	डा जगदीश गुप्त	५
हिन्दी उपन्यास	महेन्द्र चतुर्वेदी	१.५
आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप विधाएँ	डा निर्मला जैन	२५
पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास	चन्द्रकान्त बाली	१५
डा नगेन्द्र के आलोचना सिद्धान्त	नारायणप्रसाद चौबे	७
अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	रामलाल वर्मा	३
हिन्दी साहित्य रत्नाकर	डा विमल कुमार	५.
हिन्दी के अर्वाचीन रत्न		७
प्रसाद के नारी-पात्र	ओम अवस्थी	५
साहित्य-समीक्षा	गुलाबराय	६
रामचरित मानस और साकेत	परमलाल गुप्त	५
जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	रघुवीर शरण मालानी	५
सूक्तिचरित मणियाँ	सीता बी ए.	१५
भारत की लोक-कथाएँ	"	८

नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली ६